।।श्रीः।।

त्रिपुरारहस्यम्

'ज्ञानप्रभा' हिन्दीव्याख्योपेतम्

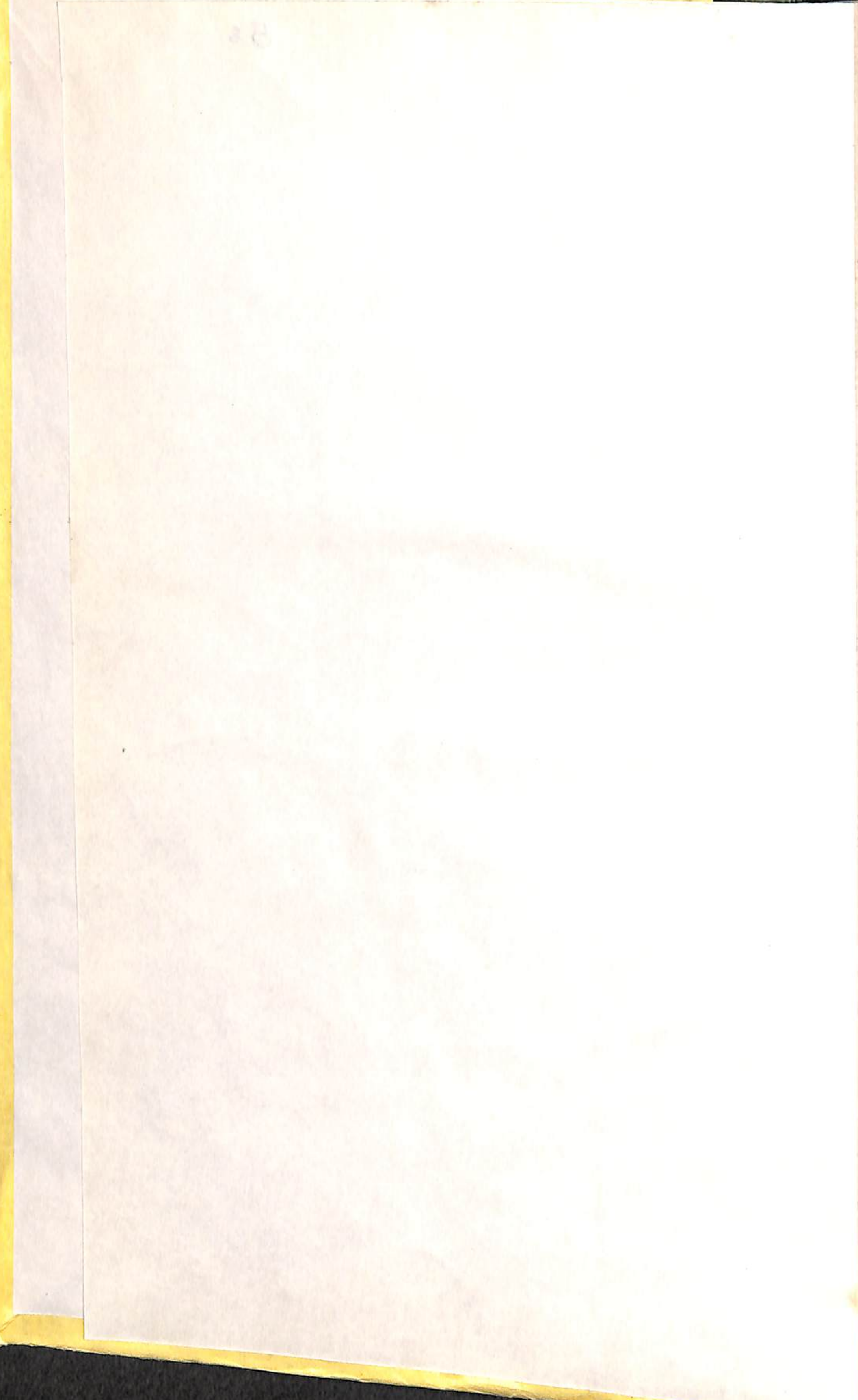
(ज्ञान-खण्डम्)

स्वामी श्रीसनातनदेवजी महाराज





चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी



॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१७६

॥ श्रीः ॥

त्रिपुरारहस्यम्

'ज्ञानप्रभा' हिन्दीव्याख्योपेतम्

(ज्ञान-खण्डम्)

व्याख्याकारः—

स्वामी श्रीसनातनदेवजी महाराज



चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा प्रचारक

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ११३९

जड़ाव भवन, के ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

मुद्रक : चारु प्रिंटर्स वाराणसी

संस्करण : चतुर्थ वि० संवद् २०५३ (१९९६)

मूल्य : रु० १२५-००

© चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

इस ग्रन्थ के परिष्कृत मूल-पाठ एवं परिवर्धित
टीका परिशिष्ट आदि के सर्वाधिकार
प्रकाशक के अधीन है।

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्भा संस्कृत भवन

पोस्ट बाक्स नं० ११६०

चौक (दी बनारस स्टेट बैंक बिल्डिंग) वाराणसी-२२१००१

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

176

TRPURĀ RAHASYA

(JÑANA-KHAṆDA)

Edited With

The 'Jñānaprabhā' Hindi Commentary

By

SWĀMĪ S'RĪ SANĀTANADEVAJI MAHĀRĀJA.

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature

Post Box No. 1139

K. 37/116, Gopal Mandir Lane (Golghar Near Maidagin)

VARANASI-221 001 (INDIA)

© Chaukhambha Sanskrit Sansthan, Varanasi
Phone : 333445
Fourth Edition : 1994

Also can be had of
CHAUKHAMBHA SANSKRIT BHAWAN
Post Box No. 1160
Chowk (Opposite Chitra Cinema)
VARANASI-221001
Phone : 320414

आमुख

भारतीय वाङ्मयमें अध्यात्मतत्त्वका प्रतिपादन करनेवाली अनेकों पद्धतियाँ हैं। उन सभीका मूल आधार वेद हैं। यह ठीक है कि बौद्ध-जैन आदि कुछ सम्प्रदायोंने अपनी विचारधाराको वेदमूलक नहीं माना, और कहीं-कहीं वैदिक सिद्धान्तोंसे अपना तीव्रतर मतभेद भी प्रकट किया है; तथापि उनके मौलिक सिद्धान्तोंकी छाया भी कहीं-कहीं श्रुतियोंमें मिल ही जाती है। अस्तु, इस समय उनके विषयमें हमें कुछ भी विचार करना नहीं है। वेदानुसारिणी पद्धतियोंमें सूत्र, स्मृति, तन्त्र और पुराण आदिकी गणना की जाती है। प्रस्तुत ग्रन्थ तान्त्रिक साहित्यके अन्तर्गत है। तन्त्रोंका क्षेत्र अत्यन्त विशाल है। तथापि सामान्यतया उसे शैव, शाक्त और वैष्णव तीन विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है। गाणपत्य, सौर आदि अन्य तन्त्र भी न्यूनाधिक रूपसे इन्हींके अन्तर्गत आ जाते हैं। तान्त्रिक साधनाके द्वारा साधकको बहुत शीघ्र अपने अभीष्ट लक्ष्यकी प्राप्ति हो सकती है। अन्य साधनाओंसे इसकी मुख्य विलक्षणता यह है कि यह ज्ञानके साथ साधकको ऐश्वर्यकी प्राप्ति भी करा देती है। तन्त्रोंका मत है कि ज्ञान हो जानेपर भी जबतक साधकमें घृणा, लज्जा, भय, शंका, जुगुप्सा, कुलाभिमान, शील और जाति ये आठ प्रतिबन्ध रहते हैं तबतक उसके जीवत्वकी निवृत्ति नहीं होती। तन्त्र इन आठ प्रतिबन्धोंको 'अष्ट पाश' कहता है और जो इनसे मुक्त हो जाता है उसीको शिवत्वकी प्राप्ति बतलाता है—

'घृणा लज्जा भयं शंका जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः॥
पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः॥'

तन्त्रोंकी ही दूसरी संज्ञा 'आगम' भी है। शाक्त आगमोंमें 'त्रिपुरा-रहस्य' एक प्रधान ग्रन्थ है। इसकी श्लोकसंख्या बारह हजार बतायी

जाती है। इसके तीन खण्ड हैं—माहात्म्य, चर्या और ज्ञान। प्रस्तुत ग्रन्थ ज्ञानखण्ड है। इसकी श्लोकसंख्या २१६३ है। माहात्म्यखण्ड ६६८७ श्लोकोंका ग्रन्थ बताया जाता है। चर्या खण्ड लुप्त हो चुका है। उसकी कोई प्रति अभीतक उपलब्ध नहीं हो सकी। ज्ञानखण्डपर श्रीमत्-श्रीनिवासबुधविरचित 'तात्पर्यदीपिका' नामकी संस्कृत टीका है। पहले मूल ग्रन्थका अनुवाद मराठी भाषामें हुआ था। उसीका हिन्दी अनुवाद श्रीमाधवराव सप्रेने (जो लोकमान्य तिलक द्वारा विरचित गीतारहस्यके भी हिन्दी-अनुवादक थे) 'दत्तभार्गवसंवाद' नामसे किया था। प्रायः चालीस वर्ष हुए यह ग्रन्थ नागपुर-निवासी सेठ नागरमल पोद्दारने प्रकाशित किया था। अब यह अप्राप्य है। परमार्थप्रेमियोंको यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय और रुचिकर जान पड़ा। अतः प्रायः दस वर्ष हुए उसी पुस्तकको अविकल रूपसे 'त्रिपुरारहस्य' नामसे दिल्लीनिवासी श्रीनारायणदासजी मुलतानीने प्रकाशित किया था। किन्तु उनकी तथा उनके कुछ मित्रोंकी इच्छा थी कि इसे मूल और अनुवादसहित भी प्रकाशित कराना चाहिये। अतः उन्हींके प्रेमपूर्ण अनुरोधसे प्रस्तुत ग्रन्थ तैयार हुआ है। आशा है, इसके द्वारा जिज्ञासुओंकी अच्छी सेवा हो सकेगी। दिल्लीसे जो प्रति प्रकाशित हुई है उसमें प्रकाशकके अनुरोधसे इन पंक्तियोंके लेखकने ही भूमिका लिखी थी। यह आमुख प्रायः अविकल रूपसे उसीकी प्रतिलिपि है।

इस ग्रन्थके प्रणेता महर्षि हारितायन हैं। उन्होंने अवधूतशिरोमणि दत्तात्रेय और परशुरामजीका यह संवाद देवर्षि नारदको सुनाया है। परशुरामजीने पहले भगवान् दत्तात्रेयके मुखारविन्दसे भगवती त्रिपुरा देवीकी महिमा सुनी। इससे उनके हृदयमें श्रीत्रिपुरसुन्दरीके प्रति अत्यन्त भक्तिभाव उदित हुआ। गुरुवर दत्तसे देवीकी उपासनाका सब क्रम जानकर उन्होंने महेन्द्र पर्वतपर जा बारह वर्षतक बड़ी तत्परतासे देवीकी उपासना की। उपासनामें तल्लीन रहते हुए ही उनके चित्तको इस सृष्टिचक्र और परमार्थ तत्त्वकी समस्या आन्दोलित करने लगी। पहले इस विषयमें वे मुनिवर संवर्त्तसे जिज्ञासा कर चुके थे। परन्तु

उस समय उनकी कोई बात उनकी समझमें नहीं आयी। अतः अब गुरुवर दत्तके पास जाकर उन्होंने इसी विषयमें प्रश्न किया। और उनके मुखारविन्दसे यह सारा उपदेश सुनकर वे सब प्रकारके सन्देहोंसे छूटकर कृतकृत्य हो गये। इससे यह बात सूचित होती है कि जबतक साधक निष्काम कर्म और उपासनाके द्वारा शुद्धान्तःकरण होकर तत्त्व-साक्षात्कारकी योग्यता प्राप्त नहीं कर लेता तबतक संवर्त्त-जैसे तत्त्वनिष्ठ महापुरुषका उपदेश सुननेपर भी वह परमार्थतत्त्वको ग्रहण नहीं कर सकता।

त्रिपुरारहस्यके अनुसार परमतत्त्व शुद्ध-चैतन्यस्वरूप है। वह सर्वत्र व्याप्त और सभी प्रकारकी मर्यादाओंसे शून्य है। उसमें अनन्त शक्तियाँ हैं तथा वह पूर्ण स्वातन्त्र्य-समन्वित है। उसकी शक्तियाँ उससे सर्वथा अभिन्न हैं। सृष्टिसे पूर्व वे उसमें अव्यक्त रूपसे लीन रहती हैं तथा सर्गकाल उपस्थित होनेपर अपनी संकल्पशक्तिसे वह शुद्ध चिति ही दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान इस दृश्यप्रपञ्चको अपनेमें आभासित कर देती है। यद्यपि आकारात्मक देश और क्रियात्मक कालका आभास भी इस चितिशक्तिमें ही होता है, तथापि इनका आधार होनेके कारण यह किसी भी प्रकार उनसे प्रभावित नहीं होती, जिस प्रकार कि दर्पण अपने प्रतिबिम्बित वस्त्वाभासोंसे सर्वथा असंग ही रहता है।

यह शुद्धचिति ही सुरासुरवन्दिता त्रिपुरा देवी है। शाक्ततन्त्रोंमें त्रिपुराको ही ललिता, षोडशी, श्रीविद्या, कामेश्वरी, भुवनेश्वरी एवं त्रिपुर-सुन्दरी आदि नामोंसे कहा है। इनका स्वरूप अत्यन्त मनोमुग्धकारी है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव और इन्द्र इनके सिंहासनके चार पाद हैं और सदाशिव उसका पट्ट है। यद्यपि इनकी गणना दश महाविद्याओंमें है, तथापि कुछ तन्त्रोंके मतानुसार तो ये स्वयं ही एक स्वतन्त्र महाविद्या हैं। शक्तिसंगमतन्त्रका कथन है कि ये ललिता देवी ही किसी समय 'कृष्ण' संज्ञक पुरुषरूप धारण करती हैं—'कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा।' तथापि वैष्णवतन्त्रोंके अनुसार ललिता निकुञ्जेश्वरी श्रीराधिकाजीकी प्रधान सखी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि महाविद्या

ललितासुन्दरी और श्रीराधाकृष्णसहचरी ललिताके स्वरूप, शक्ति एवं लीलाओंमें बहुत अधिक अन्तर है। अतः चिद्रूपिणी होनेके कारण तत्त्वतः तो इनका अभेद हो सकता है, किन्तु उपासना-भेद होनेके कारण लीलाभूमिमें इनकी एकता नहीं हो सकती।

यहाँ एक बात विचारणीय है। त्रिपुरारहस्य द्वारा प्रतिपादित शुद्ध-चिति यद्यपि आपातदृष्टिसे अद्वैतसिद्धान्त द्वारा स्थापित शुद्धचिन्मात्र परब्रह्मसे अभिन्न जान पड़ती है, परन्तु दार्शनिक दृष्टिसे ऐसी बात नहीं है। इसमें सन्देह नहीं तत्त्वतः तो ये एक ही हैं, परन्तु दोनों दार्शनिक इसे एक रूपमें नहीं देखते। ये दोनों ही इसे स्वयंप्रकाश तथा देश-काल और वस्तुके परिच्छेदसे शून्य बताते हैं। यही नहीं, इन दोनों ही दार्शनिकोंके मतमें यह दृश्यप्रपञ्च सर्वथा असत् और मायाका विलासमात्र है; परन्तु फिर भी इनके दृष्टिकोणोंमें एक सूक्ष्म अन्तर है। अद्वैत सिद्धान्त ब्रह्मको सर्वथा निर्विशेष, निर्विकार, निर्गुण और कूटस्थ-नित्य प्रतिपादित करता है। तथा इस दृश्यप्रपञ्चको वह सद-सद्से विलक्षण अनिर्वचनीया मायाकी महिमासे, मन्दान्धकारमें पड़ी हुई रज्जुमें भ्रमसे ही प्रतीत होनेवाले सर्प, दण्ड एवं धारा आदि विकल्पोंके समान, केवल प्रतीतिमात्र मानता है। उसकी दृष्टिमें संसार कभी उत्पन्न नहीं हुआ। अतः वह उसका विवर्त्तमात्र है। किन्तु त्रिपुरा-रहस्य उस परमार्थतत्त्वमें अनन्त शक्ति और पूर्णस्वातन्त्र्य स्वीकार करता है। उसके मतानुसार शुद्धचिति अपने पूर्णस्वातन्त्र्यके कारण अपने अमोघ संकल्पद्वारा भित्तिरूप अपने ही ऊपर इस जगच्चित्रको आभासित कर देती है। दर्पणमें जैसे सामनेके पदार्थोंका प्रतिविम्ब पड़ता है उसी प्रकार शुद्धचितिमें उसके संकल्पवश यह जगच्चित्र प्रतिविम्बित हो उठता है। यह उसका सहज-सामर्थ्य है। अतः यह शाक्तदर्शन यद्यपि शाङ्कर सिद्धान्तकी भाँति अद्वैतवादी ही है, तथापि इसके द्वारा स्थापित अद्वैततत्त्व अकर्ता, अभोक्ता, निर्गुण और निर्वि-शेष नहीं है। वह शक्तिमय और विमर्शरूप है। 'विमर्श' उसकी क्रिया-शक्तिका नाम है। वह क्रियाशक्ति उसमें सर्वदा विद्यमान रहती है। सृष्टिकालमें वह व्यक्त हो जाती है, अतः उस समय उसे 'बाह्याभास'

कहते हैं। और प्रलयकालमें वह लीन रहती है, इसलिये उसे 'अनहं-भाव' कहा जाता है। यद्यपि यह अनहंभाव वेदान्तोक्त मूल अविद्याके समान ही है, तथापि मूला अविद्या ब्रह्ममें अध्यस्त और जडरूपा है तथा यह अनहंभाव उस शुद्धचितिकी इच्छाशक्ति है और उससे सर्वथा अभिन्न है।

इस प्रकार अद्वैत-वेदान्त विवर्त्तवादी है और शाक्तदर्शन आभास-वादी। प्रपञ्च दोनोंहीके सिद्धान्तानुसार केवल प्रतीतिमात्र और स्वरूपतः असत् है। किन्तु अद्वैत मतके अनुसार यह प्रतीति भ्रममूलक है और शाक्तमतके अनुसार यह परमार्थ तत्त्वके सहज सामर्थ्यसे होती है। अद्वैत सिद्धान्तमें इसका कारण अनादि अनिर्वचनीया माया है और शाक्तसिद्धान्त कहता है कि इसका कारण परमचितिका स्वातन्त्र्य-मूलक संकल्प है। परन्तु दोनों ही सिद्धान्तोंके अनुसार दृश्यकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जिस प्रकार रज्जुमें भ्रमसे प्रतीत होनेवाला सर्प उससे भिन्न कुछ भी नहीं होता उसी प्रकार दर्पणमें उसकी स्वच्छताके कारण प्रतीत होनेवाला प्रतिबिम्ब भी दर्पणसे भिन्न कुछ नहीं होता। अतः दोनों ही सिद्धान्तोंके अनुसार एक अखण्ड, अद्वैत चिन्मात्र सत्ता ही परमार्थ है और वही दोनोंका लक्ष्य भी है।

लक्ष्य एक होनेपर भी जिस प्रकार उपर्युक्त दोनों दर्शनोंके अनुसार उनके लक्षणोंमें भेद है उसी प्रकार उसकी उपलब्धिके साधनोंमें भी अन्तर है। अद्वैतवाद एकमात्र विचारको ही उसकी उपलब्धिका साधन बताता है, क्योंकि उसके अनुसार वह साधकका अपना नित्यसिद्ध स्वरूप ही है। वह उसे नित्य प्राप्त है। केवल अविद्याके कारण ही उसकी अप्राप्तिका भ्रम है। अतः विचारसे अविचार या अविद्याकी निवृत्ति होनेपर उसे स्वयं ही उसकी अनुभूति हो जाती है। इसके लिये उसे गुरुमुखसे वेदान्तोक्त महावाक्योंका अर्थ श्रवण करने की आवश्य-कता होती है, क्योंकि जो वस्तु प्रत्यक्ष सम्मुख होनेपर भी केवल अज्ञान-के कारण अपरिचित रहती है उसका परिचय किसी आप्त पुरुषके कथनके सिवा और किसी प्रकार नहीं हो सकता। अतः जिन शुद्धचित्त जिज्ञासुओंके हृदयमें मल-विक्षेपरूप कोई दोष नहीं होता उन्हें तो

गुरुदेवके उपदेशश्रवणसे ही उस तत्त्वका अप्रतिबद्ध बोध हो जाता है। किन्तु जिनमें चित्तकी अशुद्धिके कारण संशय-विपर्ययरूप प्रतिबन्ध रहता है उन्हें उसकी निवृत्तिके लिये मनन और निदिध्यासन भी करने पड़ते हैं। इनमें मननसे संशय और निदिध्यासनसे विपर्ययकी निवृत्ति होती है; और फिर अखण्डाकार वृत्ति होकर उन्हें प्रतिबन्धशून्य ज्ञान होता है। इस प्रकार अद्वैतमतके अनुसार तो श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन ही ज्ञानके प्रधान साधन हैं।

परन्तु शाक्तमतके अनुसार विचार उसका प्रधान साधन नहीं है, प्रत्युत विचारका अभाव होनेपर ही उसका भान होता है—'न तद्विचार्यविज्ञेयमविचाराद्विभासते' (६।८२)। इस सिद्धान्तके अनुसार शास्त्र या गुरूपदेशसे तो केवल परोक्ष ज्ञान होता है; उससे मोक्ष नहीं हो सकता। अपरोक्ष ज्ञान तो समाधिका परिपाक होनेपर ही होता है। इसका एक विशेष कारण है। इस सिद्धान्तके अनुसार भी यद्यपि चिति नित्यसिद्धा और सबकी स्वरूपभूता ही है, तथापि उसका तिरोधान अज्ञान या अविचारके कारण नहीं, अपि तु उसकी विमर्शशक्तिसे प्रतिभासित दृश्यवर्गके कारण माना गया है। प्रतिबिम्बका अभिनिवेश रहते हुए जैसे दर्पणका स्पष्ट भान नहीं होता उसी प्रकार जबतक चित्त दृश्य और दर्शनमें अभिनिविष्ट रहता है तबतक उसे उनकी आधारभूता चितिका परिचय नहीं होता। अतः इसके लिये पहले उसे निष्काम कर्म और उपासना के द्वारा सूक्ष्म एवं शुद्ध करना चाहिये। सूक्ष्म चित्तमें ही उस परमतत्त्वका स्फुट स्फुरण होता है। फिर तो व्यवहारमें भी उसका अनुसंधान किया जा सकता है। इस ग्रन्थमें ऐसे कुछ स्थानोंका उल्लेख हुआ है, जहाँ उसका स्वभावतः स्फुरण होता है—

१. निद्रा और जागृतिके मध्यकी अवस्था।
२. जब चित्त एक वस्तुके आकारको छोड़कर दूसरी वस्तुमें जाने लगे तो उससे पहले दोनों वस्तुओंके मध्यकी स्थिति।
३. एक विचारको छोड़कर दूसरा विचार आरम्भ होनेसे पहलेकी स्थिति।

ये सब दो अवस्था, दो पदार्थ और दो वृत्तियोंके बीचकी सन्धियाँ हैं। इनमें किसी भी अवस्था, पदार्थ या वृत्तिकी स्थिति न रहनेके कारण चित्त निर्विषय रहता है। यह निर्विषय चित्त ही वास्तवमें शुद्ध चिति है। यही परम पद है, यही सर्वेश्वर है और यही सम्पूर्ण प्रपञ्चका आधार है। समस्त पदार्थोंके रूपमें यही भास रहा है। परन्तु स्वरूपतः उसमें किसी भी पदार्थकी सत्ता नहीं है। इस प्रकार निर्विकल्प समाधिमें स्थित होनेपर ही परमतत्त्वका साक्षात्कार होता है। परन्तु साक्षात्कार हो जानेपर तत्त्ववेत्ताको सर्वदा उसी अवस्थामें स्थित रहनेकी आवश्यकता नहीं है। उसका स्वरूप तो नित्यसिद्ध ही है, किसी अवस्थाविशेषमें उसे सीमित नहीं किया जा सकता। सारी अवस्थाएँ उसीमें तो प्रतिभासित होती हैं। अतः वह किसी भी स्थितिमें रहे स्वरूपस्थ ही है। उसे अपनेसे भिन्न कुछ भी प्रतीत नहीं होता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधनोंमें भेद होनेपर भी इन दोनों मार्गोंका अनुसरण करनेवाले साधकोंकी अन्तिम स्थिति तो एक ही होती है। ये दोनों ही साधन श्रुतिसम्मत हैं और दोनोंके द्वारा एक ही शुद्ध चेतनका साक्षात्कार होता है। वास्तवमें तो भारतीय मनीषियोंने परम तत्त्वकी उपलब्धिके लिये जितने साधनोंकी उद्भावना की है उनके द्वारा अन्तमें एक ही वस्तुकी उपलब्धि होती है। जिस प्रकार नगरके सभी मार्ग घूम-फिरकर एक ही राजप्रासादपर पहुँच जाते हैं; उसी प्रकार परमपदकी प्राप्तिके सभी साधनोंका साध्य एक ही तत्त्व है। अपनी-अपनी भावना और साधनाके अनुसार उस एककी ही अनेक रूपोंमें उपलब्धि होती है। सब साधकोंकी योग्यता और रुचि एक-सी नहीं होती। अतः अधिकार-भेदके कारण साधन-भेद भी आवश्यक है। इस साधन-भेदसे ही सम्प्रदाय-भेदकी सृष्टि हुई है। इसलिये विचार करनेसे निश्चय होता है कि समाजकी यथायोग्य आध्यात्मिकी प्रगतिके लिये सम्प्रदायभेद भी उपयोगी ही है। किन्तु सभी सम्प्रदायोंका गन्तव्य स्थान तो एक ही है; अतः लक्ष्यकी एकता होनेके कारण उनमें संघर्षका कोई भी कारण नहीं है। जो लोग साधनमें ही साध्य-बुद्धि कर लेते हैं उन्हींमें अविवेकवश साम्प्रदायिक

संघर्षकी सृष्टि होती रहती है। किन्तु विभिन्न अधिकारियोंके लिये सम्प्रदायभेद जितना आवश्यक है समाजके आध्यात्मिक विकासमें साम्प्रदायिक संघर्ष उतना ही घातक भी है। अतः जो महानुभाव सब प्रकारके सम्प्रदायभेदोंमें एक ही अभिन्न साध्यको देखते हैं वे ही वास्तवमें सबके एकमात्र आराध्य परमपदका रहस्य जाननेवाले हैं। जिनकी उसपर दृष्टि रहती है उनके लिये संसारमें कहीं किसी प्रकारका विरोध नहीं रहता। उन्हें तो सर्वत्र उस एकका ही लीलाविलास प्रतीत होता है। वे इस विश्वब्रह्माण्डमें सर्वत्र उसीकी झाँकी कर अपने प्रियतमके प्रेममें छके रहते हैं। ऐसे महापुरुष ही सच्चे परमार्थदर्शी हैं। वे सभीके आदर्श होते हैं और सभी उनकी वन्दना करते हैं।

इस प्रकार संक्षेपमें इस ग्रन्थके विषयपर यत्किञ्चित् प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया गया है। आशा है, जिज्ञासुजन इसके अनुशीलन द्वारा यथायोग्य लाभ उठाकर अपना जीवन सार्थक करेंगे।

हमें खेद है कि पुस्तकमें छपाईकी कई अशुद्धियाँ रह गयी हैं। उनका हम अन्तमें 'शुद्धिपत्र'में संशोधन कर दिये हैं। पाठकोंसे प्रार्थना है कि उन्हें वे शुद्धिपत्रके अनुसार सुधार लें, नहीं तो कई जगह पुस्तकका भाव समझनेमें भूल होगी।

श्रीकृष्णाश्रम, वृन्दावन
कार्तिक शु० ६, सं० २०२३ वि०

विनीत—
सनातन देव

॥ श्रीः ॥

त्रिपुरारहस्यम्

'ज्ञानप्रभा' हिन्दीव्याख्योपेतम्

(ज्ञानखण्डम्)

प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

श्रीगणेशाय नमः ।

ॐ नमः कारणानन्दरूपिणी परचिन्मयी ।
विराजते जगच्चित्रचित्रदर्पणरूपिणी ॥ १ ॥
श्रुतं कच्चिन्नारदैतत् सावधानेन चेतसा ।
माहात्म्यं त्रिपुराख्याया यच्छ्रुतिः परसाधनम् ॥ २ ॥

प्रथम अध्याय ॥ १ ॥

परशुरामकी जिज्ञासा और गुरूपसत्ति

स्वात्मन्येवात्मना नित्यं भासयन्ती जगत्त्रयम् ।
वन्दे तां त्रिपुरातीतां त्रिपुरां स्वात्मदेवताम् ॥

सर्वकारण ब्रह्मानन्द ही जिनका स्वरूप है, जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप हैं और जो इस जगत्-रूप चित्रके प्रतिबिम्बित करनेवाले चिन्मय दर्पणरूपसे विराजमान हैं, उन त्रिपुरादेवीको नमस्कार है ॥ १ ॥

[श्रीहारितायन मुनि[1] बोले—] नारद ! क्या तुमने श्री त्रिपुरादेवी-का माहात्म्य सावधान चित्तसे सुना ? इसका तो श्रवण ही श्रेष्ठ मुक्ति-का साधन है ॥ २ ॥

---

१. यह कथा श्रीहारितायन मुनिने नारदजीको सुनायी है। पहले इसके माहात्म्य खण्डमें त्रिपुरादेवीके माहात्म्यका वर्णन है। उसके श्रवणसे हृदयमें जिज्ञासा जाग्रत् होनेपर जिन्हें ज्ञानका अधिकार प्राप्त हो चुका है उन मुमुक्षु पुरुषोंके लिए अब ज्ञानखण्ड आरम्भ किया जाता है।

अथ ते कथयाम्यद्य ज्ञानखण्डं महाद्भुतम् ।
यच्छ्रुत्वा न पुनः क्वापि मनुष्यः शोकमृच्छति ॥ ३ ॥
वैदिकं वैष्णवं शैवं शाक्तं पाशुपतं तथा ।
विज्ञानं सम्यगालोच्य यदेतत्प्रविनिश्चितम् ॥ ४ ॥
नैतद्विज्ञानसदृशमन्यन्मानसमारुहेत् ।
यथा श्रीदत्तगुरुणा भार्गवाय निरूपितम् ॥ ५ ॥
उपपत्त्युपलब्धिभ्यां समेतं बहु चित्रितम् ।
अत्रोक्तेनापि नो वेद यदि कश्चिद्विमूढधीः ॥ ६ ॥
स केवलं दैवहतः स्थाणुरेव न संशयः ।
न तस्य स्यादपि ज्ञानं साक्षाच्छिवनिरूपितम् ॥ ७ ॥
तत्ते शृणु समाख्यास्ये ज्ञानखण्डात्मना स्थितम् ।
अहो सतामद्भुतं हि वृत्तं सर्वगुणोत्तरम् ॥ ८ ॥
यन्मत्तोप्येष देवर्षिः शुश्रूषत्यपि किञ्चन ।
अनुग्राहकता चैषा सतां सहजसम्भवा ॥ ९ ॥

अब मैं तुम्हें बड़ा ही विचित्र ज्ञानखण्ड सुनाता हूँ, जिसे श्रवण कर लेनेपर मनुष्य फिर कभी [जन्म-मरणरूप] शोकको प्राप्त नहीं होता ॥ ३ ॥

इस सिद्धान्तका वैदिक, वैष्णव, शैव, शाक्त और पाशुपत सभी दर्शनोंका भली भाँति विचार करके निश्चय किया गया है ॥ ४ ॥

दूसरा कोई भी मतवाद ऐसा नहीं है जो इस सिद्धान्तके समान बुद्धिमें आरूढ़ हो सके। सद्गुरु श्रीदत्तात्रेयजीने परशुरामजीके प्रति इसका निरूपण किया है ॥ ५ ॥

यह युक्ति और उपलब्धिसे सम्पन्न और बड़ा ही विचित्र है। यदि किसी मूढ़मतिको यहाँ बतायी हुई बातोंसे भी परमार्थका बोध न हो तो उसे निःसन्देह भाग्यहीन और कोरा ठूँठ ही समझना चाहिये। उसे स्वयं श्रीशंकरजी उपदेश करें तो भी ज्ञान नहीं हो सकता ॥ ६-७ ॥

अच्छा सुनो, अब मैं ज्ञानखण्डके रूपमें स्थित वह ज्ञान तुम्हें सुनाता हूँ। अहो ! सत्पुरुषोंका व्यवहार सचमुच बड़ा ही अनोखा और सबसे बढ़कर होता है; तभी तो आप स्वयं देवर्षि मुझसे यह यत्किञ्चित् ज्ञानकथा सुनना चाहते हैं। सत्पुरुषोंमें इस प्रकार कृपा

यथा घ्राणोल्लासकता मृगनाभेः स्वतः स्थिता ।
एवं दत्तात्रेयमुखाच्छ्रुत्वा माहात्म्यवैभवम् ॥ १० ॥
रामः सर्वजनारामो जामदग्न्यः शुभाशयः ।
भक्त्यापहृतसच्चित्तस्तूष्णीं किञ्चिद्बभूव ह ॥ ११ ॥
अथासाद्य बहिर्वृत्तिं भरितानन्दलोचनः ।
रोमाञ्चपीवरवपुः स्वान्तरानन्दनिर्भरः ॥ १२ ॥
हर्षो नायन्रोमकूपविभेदान्निर्गमन्निव ।
प्रणनाम दत्तगुरुं दण्डवच्चरणान्तिके ॥ १३ ॥
उत्थाय हर्षभरितः प्राह गद्गदसुस्वरः ।
धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं श्रीगुरो त्वत्प्रसादतः ॥ १४ ॥
यस्य मे करुणासिन्धुस्तुष्टः साक्षाद्गुरुः शिवः ।
यस्मिंस्तुष्टे ब्रह्मपदमपि स्यात् तृणसम्मितम् ॥ १५ ॥

करनेका सहज स्वभाव होता ही है, जिस प्रकार कि कस्तूरीमें घ्राणेन्द्रियको आनन्दित करनेका गुण स्वभावसे ही रहता है ॥८-१० पू०॥

जमदग्निपुत्र परशुरामजीने इस प्रकार श्रीदत्तात्रेयजीके मुखसे त्रिपुरादेवीके माहात्म्यका उत्कर्ष सुना तो उनका हृदय निर्मल हो गया। वे सभी जीवोंमें माँकी झाँकी करके प्रेममग्न हो गये, भक्तिभावसे उनका हृदय आप्लावित हो गया और थोड़ी देरके लिये वे कुछ मौन-से हो गये ॥ १० उ०-११ ॥

फिर बाह्यवृत्ति होनेपर उनके नेत्रोंमें आनन्दाश्रु छलक आये, शरीर पुलकावलीसे पूर्ण हो गया और हृदय आनन्दसे सराबोर हो गया॥१२॥

उनके हृदयमें न समा सकनेके कारण मानो हर्ष रोमकूपोंके द्वारा पुलकावलीके रूपमें छलकने लगा। उन्होंने सद्गुरु श्रीदत्तात्रेयजीको, उनके चरणोंमें दण्डवत् पड़कर प्रणाम किया ॥ १३ ॥

फिर उठकर हर्षातिरेकसे गद्गदकण्ठ हो प्रार्थना की, 'गुरुदेव! आपके कृपाप्रसादसे मैं धन्य हूँ, कृतकृत्य हूँ ॥ १४ ॥

इसीसे मेरे प्रति साक्षात् शिवस्वरूप करुणासागर गुरुदेव भी प्रसन्न हो गये हैं, जिनके प्रसन्न होनेपर ब्रह्मपद भी तृणके समान तुच्छ हो जाता है ॥ १५ ॥

मृत्युरप्यात्मतां याति यस्मात्तुष्टाद्गुरोर्ननु ।
ममाकाण्डादेव गुरुः सोऽद्य तुष्टो महेश्वरः ॥ १६ ॥
मन्ये सर्वं मया प्राप्तमित्येव कृपया गुरोः ।
नाथ माहात्म्यमखिलं श्रुतं त्वत्कृपयाधुना ॥ १७ ॥
तामुपासितुमिच्छामि त्रिपुरां परमेश्वरीम् ।
तदुपास्तिक्रमं ब्रूहि मह्यं सुकृपया गुरो ॥ १८ ॥
इति सम्प्रार्थितो दत्तगुरुरालक्ष्य भार्गवे ।
योग्यतां त्रिपुरोपास्तौ सच्छ्रद्धाभक्तिबृंहिताम् ॥ १९ ॥
क्रमेण दीक्षयामास त्रिपुरोपास्तिहेतवे ।
जामदग्न्योऽपि सम्प्राप्य त्रैपुरं दीक्षणं शुभे ॥ २० ॥
सर्वदीक्षासमधिकं पूर्णतत्त्वप्रबोधनम् ।
मन्त्रयन्त्रवासनाभिरन्वितमखिलं क्रमम् ॥ २१ ॥

तथा जिन सद्गुरुदेवके प्रसन्न होनेपर मृत्यु भी अपना आत्मा ही हो जाता है, आज वे मेरे शिवस्वरूप गुरुदेव अकारण ही मुझपर प्रसन्न हैं ॥ १६ ॥

उन गुरुदेवकी कृपासे, मुझे ऐसा जान पड़ता है, आज सभी पदार्थ मुझे प्राप्त हो गये हैं। हे नाथ! आपकी कृपासे अब मैंने श्रीत्रिपुरादेवीका माहात्म्य तो सारा सुन लिया ॥ १७ ॥

अतः मैं उन भगवती त्रिपुराकी उपासना करना चाहता हूँ। गुरुदेव ! आप कृपा करके मुझसे उनकी उपासनाका क्रम कहिये' ॥ १८ ॥

परशुरामके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर दत्तात्रेयजीने देखा कि त्रिपुरादेवीके प्रति श्रद्धा और भक्तिकी अधिकताके कारण वे उनकी उपासनाके अधिकारी हो गये हैं। अतः उन्होंने क्रमशः त्रिपुरोपासनाके लिये उन्हें दीक्षा दी ॥ १९-२० पू० ॥

इस प्रकार शुभ मुहूर्तमें परशुरामजीने त्रिपुरोपासनाकी दीक्षा प्राप्त की; जो सभी प्रकारकी दीक्षाओंसे श्रेष्ठ है और पूर्णतत्त्वका बोध करानेवाली है। जिस प्रकार भौंरा कमलसे रस ग्रहण करता है

प्राप्य श्रीगुरुवक्त्राब्जाद्रसं मधुकरो यथा ।
तृप्तान्तरङ्ग आनन्दमादितो भार्गवस्तदा ॥ २२ ॥
श्रीनाथेनाभ्यनुज्ञातस्त्रिपुरासाधनोद्यतः ।
परिक्रम्य गुरुं नत्वा महेन्द्राद्रिमुपाययौ ॥ २३ ॥
तत्र निर्माय वसतिं शुभामतिसुखावहाम् ।
अभूदुपासनपरो वर्षद्वादशकं तदा ॥ २४ ॥
नित्यनैमित्तिकपरः पूजाजपपरायणः ।
सदा श्रीत्रिपुरेशान्या मूर्त्तिध्यानैकतत्परः ॥ २५ ॥
एवं तस्यात्यगात्कालो द्वादशाब्दो निमेषवत् ।
अथैकदा सुखासीनो जामदग्न्योऽनुचिन्तयत् ॥ २६ ॥
पुरा यत्प्राह संवर्तो मया स्वभ्यर्थितः पथि ।
तन्मया नैव विदितमंशेनापि तदा ननु ॥ २७ ॥

उसी प्रकार उन्होंने गुरुदेवके मुखकमलसे मन्त्र, यन्त्र और वासना आदि भावोंसे युक्त उपासनाका सभी क्रम प्राप्त किया ॥२० उ०–२२ पू०॥

इससे उनका अन्तःकरण तृप्त हो गया और वे आनन्दातिरेकसे मस्त हो गये। फिर त्रिपुरादेवीको सिद्ध करनेके लिये उद्यत हो उन्होंने गुरुदेवकी आज्ञा ली, चलते समय परिक्रमा करके उन्हें प्रणाम किया और फिर महेन्द्रपर्वतपर चले आये ॥ २२ उ०–२३ ॥

वहाँ उन्होंने एक सुन्दर और अत्यन्त आनन्ददायिनी कुटिया बनायी और फिर बारह वर्षोंके लिये त्रिपुरादेवीकी उपासनामें तत्पर हो गये ॥ २४ ॥

वे विधिवत् नित्य-नैमित्तिक कार्योंका अनुष्ठान करते, पूजा और मन्त्रजपमें तत्पर रहते तथा सर्वदा ही एकमात्र भगवती त्रिपुराके स्वरूपका ध्यान करते रहते ॥ २५ ॥

इस प्रकार उनका बारह वर्षका समय एक निमेषके समान व्यतीत हो गया। तब एक दिन आनन्दसे बैठे हुए वे जमदग्निनन्दन सोचने लगे ॥ २६ ॥

पहले कभी मार्गमें चलते हुए मेरे प्रश्न करनेपर मुझसे महर्षि संवर्तने जो बात कही थी वह उस समय मेरी समझमें कुछ भी नहीं आयी ॥ २७ ॥

विस्मृतश्च मया यस्मात्प्राङ् न पृष्टं गुरुं प्रति ।
माहात्म्यं त्रिपुराशक्तेः श्रुतं श्रीगुरुवक्त्रतः ॥ २८ ॥
परन्तु तन्न विदितं यत्संवर्त्तः पुराऽब्रवीत् ।
मया सृष्टिप्रसङ्गेन पृष्टं किञ्चिद्गुरुं प्रति ॥ २९ ॥
तदा कटकृदाख्यानं वर्णयित्वा च मे गुरुः ।
नाब्रवीदप्रकृततस्तन्मे तत्तादृशं स्थितम् ॥ ३० ॥
लोकस्य गतिमेतान्तु न जानाम्यपि लेशतः ।
कस्मादिदं समुदितं जगदाडम्बरं महत् ॥ ३१ ॥
क्व वा गच्छति पुनः कुत्र संस्थानमृच्छति ।
अस्थिरन्तु प्रपश्यामि सर्वं सर्वत्र किञ्चन ॥ ३२ ॥
व्यवहारः स्थिरप्राय' कस्मादेतदपीदृशम् ।
चित्रां जगद्व्यवहृतिं प्रपश्याम्यविमर्शिनीम् ॥ ३३ ॥

फिर मैं उसे भूल गया, इसलिये गुरुजीसे भी नहीं पूछा । हाँ, गुरुदेवके मुखारविन्दसे मैंने भगवती त्रिपुराका माहात्म्य अवश्य सुना ॥ २८ ॥

परन्तु जो बात पहले संवर्तजीने कही थी वह मुझे तब भी मालूम नहीं हुई । मैंने गुरुजीसे भी सृष्टिके प्रसंगमें कुछ पूछा तो अवश्य था ॥ २९ ॥

तब उन्होंने इसे कटकृत् आख्यान[1] बतलाकर अप्रासंगिक होनेके कारण इस विषयमें कुछ भी नहीं कहा और यह बात वहीं रह गयी ॥३०॥

किन्तु मुझे लोककी इस गति-विधिका लेशमात्र भी ज्ञान नहीं है । यह इतना बड़ा विश्वप्रपञ्च कहाँसे खड़ा हो गया ॥ ३१ ॥

कहाँ यह जा रहा है और कहाँ जाकर स्थिर होगा । जहाँ भी जो कुछ है वह सभी मुझे अस्थिर दिखायी देता है ॥ ३२ ॥

[और जब सभी पदार्थ अस्थिर हैं तब उनके आश्रित रहनेवाला 'यह मेरा है, यह तेरा है'] इस प्रकारका व्यवहार भी कैसे स्थिर हो

---

१. 'कटकृत्' कहते हैं चटाई बुननेवालेको । वे चटाई बुनते हुए जैसे जहाँ-तहाँकी अनेकों अप्रासंगिक बातें करते रहते हैं उसी प्रकार प्रस्तुत विषय न होनेके कारण उस समय श्रीदत्तात्रेयजीने सृष्टिविषयक चर्चाको 'कटकृत् आख्यान' कहा ।

अहो यथान्धानुगतो ह्यन्धश्चेष्टति तादृशः।
लोकस्य व्यवहारो वै सर्वस्याप्यभिलक्षितः॥ ३४॥
निदर्शनं ह्यात्मकृतिरत्र मे सर्वथा भवेत्।
नूनं मम शैशवे किं जातं तन्मे न भावितम्॥ ३५॥
कौमारे चान्यथा वृत्तं तारुण्येऽपि ततोऽन्यथा।
इदानीमन्यथैवास्ति व्यापारो मम सर्वथा॥ ३६॥
किमभूत्फलमेतेषां तन्न वेद्मि कथञ्चन।
यद्यत्काले यच्च यच्च क्रियते येन येन वै॥ ३७॥
सम्यगेवेति तद्बुद्धा फलावष्टम्भपूर्वकम्।
फलं किं तत्र सम्प्राप्तं केन वा सुखमात्मनः॥ ३८॥
यच्चापि लोके फलवदविमृश्यफलं हि तत्।
न फलं तदहं मन्ये पुनर्यस्मात्करोति सः॥ ३९॥

सकता है? संसारका यह सारा व्यवहार मुझे बड़ा ही विचित्र जान पड़ता है। इसमें विचार कुछ भी नहीं जान पड़ता॥ ३३॥

अजी, जैसे अन्धेके पीछे चलनेवाला अन्धा भी उसी ओर चला जाता है वैसे ही यह सम्पूर्ण लोकका व्यवहार दिखायी देता है॥ ३४॥

[औरोंके विषयमें क्या कहा जाय] इस विषयमें मेरे लिये अपना व्यवहार ही पूरा दृष्टान्त है। अवश्य ही, बचपनमें क्या हुआ, सो तो मुझे स्मरण नहीं है॥ ३५॥

किन्तु कुमार-अवस्थामें मेरा दूसरा ही व्यवहार था और युवावस्थामें उससे सर्वथा भिन्न तथा अब मेरा आचरण उससे भी एकदम निराला है॥ ३६॥

किन्तु उन आचरणोंका फल क्या हुआ यह मैं कुछ नहीं जानता। जिस-जिस व्यक्तिके द्वारा जिस-जिस समय जो-जो कर्म 'यह उचित ही है' ऐसा समझकर फलको सामने रखते हुए किया जाता है, उनमेंसे किसीको क्या कोई फल मिला? क्या कोई सुखी हुआ?॥ ३७-३८॥

लोकमें जो फल-जैसा जान पड़ता है वह अविचार-दृष्टिसे ही फल है। मैं उसे फल नहीं मानता, क्योंकि फिर भी तो वह फलप्राप्तिके लिये उद्योग करता ही है॥ ३९॥

प्राप्ते फले फलेच्छावान् पुनर्भूयात्कथं वद ।
यस्मान्नित्यं करोत्येव जनः सर्वः फलेहया ॥ ४० ॥
फलं तदेव सम्प्रोक्तं दुःखहानिः सुखञ्च वा ।
कर्त्तव्यशेषे नो दुःखनाशो वा सुखमेव वा ॥ ४१ ॥
कर्त्तव्यतैव दुःखानां परमं दुःखमुच्यते ।
तत्सत्त्वे तु कथन्ते स्तो दुःखाभावः सुखञ्च वा ॥ ४२ ॥
यथा दग्धाखिलाङ्गस्य पादे पाटीरलेपनम् ।
तथा कर्त्तव्यशेषस्य सुखलाभ इहोच्यते ॥ ४३ ॥
यथा शराविद्धहृदः परिष्वङ्गोऽप्सरोगणैः ।
तथा कर्त्तव्यशेषस्य सुखलाभ इहोच्यते ॥ ४४ ॥
यथा क्षयामयाविष्टनरस्य गीतसंस्तुतिः ।
तथा कर्त्तव्यशेषस्य सुखलाभ इहोच्यते ॥ ४५ ॥

यदि फल प्राप्त हो गया तो बताओ, वह पुनः फलकी इच्छावाला क्यों होता है ? तथापि सब लोग फलकी कामनासे कर्म करनेमें लगे ही रहते हैं ॥ ४० ॥

वास्तवमें फल तो उसीको कहा जाता है जिससे दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति हो जाय। जबतक कर्म करना शेष है तबतक न तो दुःखकी निवृत्ति कही जा सकती है और न सुखकी प्राप्ति ॥ ४१ ॥

वास्तवमें कर्त्तव्यता ही सम्पूर्ण दुःखोंमें सबसे बड़ा दुःख कहा जाता है। जबतक वह बनी हुई है तबतक तुम्हे दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? ॥ ४२ ॥

जिस प्रकार किसीका सारा शरीर झुलस जाय और उसके पैरपर चन्दनका लेप किया जाय, उसी प्रकार जिसका कर्त्तव्य शेष है उसे सुखकी प्राप्ति बताना है ॥ ४३ ॥

जैसे किसीका वक्षःस्थल बाणोंसे विदीर्ण हो गया हो और फिर अप्सराएँ उसका आलिंगन करें, वैसे ही जिसका कर्त्तव्य शेष है उसे सुखकी प्राप्ति बताना है ॥ ४४ ॥

अथवा जैसे कोई पुरुष क्षयरोगसे ग्रस्त हो और उसकी संगीत-द्वारा स्तुति की जाय, वैसे ही जिसका कर्त्तव्य शेष है उसे इस लोकमें सुखकी प्राप्ति बतलाना है ॥ ४५ ॥

सुखिनस्ते हि लोकेषु ये कर्त्तव्यतया स्थिताः ।
पूर्णाशया महात्मानः सर्वदेहसुशीतलाः ॥ ४६ ॥
यदि कर्त्तव्यशेषेऽपि सुखं स्यात्केमचित्क्वचित् ।
शूलप्रोतेऽपि च नरे स्यात्सुखं गन्धमाल्यजम् ॥ ४७ ॥
अहो महच्चित्रमेतत् कर्त्तव्यशतसङ्कुले ।
सुखमस्तीह यस्यार्थे करोत्येव सदा जनः ॥ ४८ ॥
अहो विचारमाहात्म्यं किं वदामि नृणामहम् ।
अनन्तकर्त्तव्यशैलाक्रान्ताः सौख्यं लभन्ति च ॥ ४९ ॥
तथा सौख्याय यतते सार्वभौमस्तु सर्वदा ।
तथैव यतते नित्यमपि भिक्षाटने रतः ॥ ५० ॥
पृथक् तौ प्राप्नुतः सौख्यं मन्येते कृतकृत्यताम् ।
तद्येन यान्ति सर्वेऽपि याम्यहं ताननुक्रमात् ॥ ५१ ॥

वास्तवमें लोकमें सुखी तो वे ही हैं जो कर्त्तव्यके बोझेसे सर्वथा मुक्त होकर विराजमान हैं । वे पूर्णकाम होनेके कारण महात्मा हैं और उनके अन्तर्बाह्य सभी अंग शीतल होते हैं ॥ ४६ ॥

यदि कर्त्तव्यका भार रहते हुए भी किसीको कभी सुख होना सम्भव हो तो शूलीसे बिंध जानेपर भी मनुष्यको चन्दन और माला द्वारा सुख प्राप्त हो सकता है ॥ ४७ ॥

अहो ! यह बड़ी ही विचित्र बात है कि सैकड़ों कर्त्तव्योंके भारसे लदे होनेपर भी मनुष्य यह समझता है कि इसीमें सुख है और उसीके लिये सदा प्रयत्न भी करता रहता है ॥ ४८ ॥

मैं लोगोंके इस अविचारकी महिमा (!) कहाँतक कहूँ कि वे अनन्त कर्त्तव्यरूप पर्वतोंके भारसे दबे रहकर भी अपनेको सुखी मानते रहते हैं ॥ ४९ ॥

जिस प्रकार कोई सार्वभौम सम्राट् सर्वदा सुखप्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है उसी प्रकार भिखारी भी निरन्तर सुख ही की खोजमें रहता है ॥ ५० ॥

और दोनोंको अलग-अलग सुख भी मिलते हैं, जिन्हें पाकर वे अपनेको कृत-कृत्य मानते हैं । तो क्या जिस क्रमसे सब लोग चल

अनालोच्य फलञ्चापि यथान्धोऽन्धानुगस्तथा ।
तदलं मेधयानेन भूयो गत्वा दयानिधिम् ॥ ५२ ॥
विजिज्ञासितजिज्ञास्यो विचिकित्साम्बुधेः परम् ।
पारं प्रपत्स्ये सुशुभं गुरुवाक्प्लवमाश्रितः ॥ ५३ ॥
इति व्यवस्य सहसा जामदग्न्यः शुभाशयः ।
प्रतस्थे तद्गिरिवराद् गुरुदर्शनकाङ्क्षया ॥ ५४ ॥
गन्धमादनशैलेन्द्रं प्राप्य शीघ्रमपश्यत ।
गुरुं पद्मासनासीनं भूभास्वन्तमिव स्थितम् ॥ ५५ ॥
प्रणनाम पादपीठं पुरतो भुवि दण्डवत् ।
शिरसाऽपीडयत्पादपद्मं निजकराश्रितम् ॥ ५६ ॥
अथैवं प्रणतं रामं दत्तात्रेयः प्रसन्नधीः ।
आशीर्भिर्योजयामास समुत्थापयदादरात् ॥ ५७ ॥

रहे हैं उन्हींके समान परिणामपर कोई ध्यान न देकर अन्धेके पीछे चलनेवाले अन्धेके समान मैं भी उसीका अनुसरण करूँ? ॥५१-५२ पू०॥

अच्छा, अब इस अविचारको छोड़कर फिर दयाके भण्डार श्रीगुरुदेवके ही पास चलूँ और उनसे अपने जिज्ञास्य विषयकी जिज्ञासा करूँ। इस प्रकार गुरुवाक्यरूप नौकाका आश्रय लेकर मैं इस संशयसागरके उस पार पहुँच जाऊँगा, जो सब प्रकार मंगलमय है ॥ ५२ उ०-५३ ॥

ऐसा निश्चय कर विशुद्ध अन्तःकरणवाले परशुरामजी गुरुदेवके दर्शनोंकी लालसासे तत्काल उस महेन्द्र पर्वतसे चल पड़े ॥ ५४ ॥

वहाँसे शीघ्र ही गन्धमादन पर्वतपर पहुँचकर उन्होंने भूर्लोकके सूर्यके समान तेजस्वी गुरुदेवको पद्मासनसे विराजमान देखा ॥ ५५ ॥

उन्होंने गुरुदेवकी चरणपादुकाओंके सम्मुख पृथ्वीपर दण्डवत् प्रणाम किया और फिर अपने हाथोंमें उनके चरणकमलोंको लेकर उनपर सिर रखा ॥ ५६ ॥

परशुरामको इस प्रकार प्रणाम करते देखकर गुरु दत्तात्रेयका अन्तःकरण प्रसन्न हो गया, उन्होंने उन्हें आशीर्वाद दिया और फिर आदरपूर्वक उठाया ॥ ५७ ॥

वत्सोत्तिष्ठ चिरादद्य त्वां पश्यामि समागतम् ।
ब्रूहि स्वात्मभवं वृत्तं निरामयतया स्थितम् ॥ ५८ ॥
अथोत्थाय गुरूक्त्या स गुर्वादिष्टाग्र्यविष्टरः ।
उपविश्य प्रसन्नात्मा बद्धाञ्जलिपुटोऽब्रवीत् ॥ ५९ ॥
श्रीगुरो ! करुणासिन्धो ! त्वत्कृपामृत आप्लुतः ।
कथं स परिभूयेत विधिसृष्टैरथामयैः ॥ ६० ॥
त्वत्कृपात्मामृतकरमण्डलान्तःस्थितन्तु माम् ।
सन्तापयेत्कथं व्याधिश्चण्डांशुरतिभीषणः ॥ ६१ ॥
आन्तरं बाह्यमपि ते कृपयानन्दितं मम ।
सदा स्थितं किन्तु भवत्पादाब्जवियुतिं विना ॥ ६२ ॥
नान्यद्रुजावहं किञ्चिदासीन्मे लेशतः क्वचित् ।
तद्भवच्चरणाम्भोजदर्शनादद्य वै पुनः ॥ ६३ ॥
सम्पूर्णता सदापन्ना सर्वथा श्रीगुरो ननु ।
तत् किञ्चिच्चिरसंवृत्तं हृदि मे परिवर्त्तते ॥ ६४ ॥

[फिर कहने लगे–] 'बेटा ! उठो । आज बहुत काल पश्चात् भेंट हुई । अपना वृत्तान्त सुनाओ । स्वस्थ तो रहे ?' ॥ ५८ ॥

गुरुदेवके इस प्रकार कहनेपर परशुराम उठे और उनके बतलाये हुए आसनपर बैठकर प्रसन्न चित्तसे हाथ जोड़कर बोले ॥ ५९ ॥

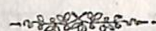
'करुणासागर गुरुदेव ! जो आपके कृपामृतमें डुबकी लगा चुका है वह विधाताके रचे रोगादिसे कैसे आक्रान्त हो सकता है ॥ ६० ॥

मैं तो आपके कृपामय चन्द्रमण्डलके भीतर स्थित हूँ । फिर व्याधिरूप अत्यन्त भीषण भास्कर मुझे कैसे सन्तप्त कर सकता ? ॥ ६१ ॥

मैं तो बाहर-भीतर सर्वदा आपकी कृपासे आनन्दित हूँ । आपके चरणकमलोंके वियोगके सिवा और किसी व्याधिका मुझे कभी कहीं लेशमात्र भी पता नहीं है । सो आज आपके चरणारविन्दों-का दर्शन करके वह कमी भी सब प्रकार पूरी हो गयी है । तथापि बहुत दिनोंसे एक बात मेरे हृदयमें खटकती रहती है ॥ ६२-६४ ॥

तत्प्रष्टुं त्वाभिवाञ्छामि चिरसंशयितान्तरः ।
आज्ञप्तो भवताद्याहं पृच्छामि विचिकित्सितम् ॥ ६५ ॥
संश्रुत्यैवं भार्गवोक्तिं दत्तात्रेयो दयानिधिः ।
सम्प्रहृष्टमना राममूचे प्रीत्याथ भार्गवम् ॥ ६६ ॥
पृच्छ भार्गव यत्तेऽद्य प्रष्टव्यं चिरसम्भृतम् ।
तव भक्त्या प्रसन्नोऽस्मि प्रब्रवीमि तवेप्सितम् ॥ ६७ ॥

इति श्रीमदितिहासोत्तमे त्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे
भार्गवप्रश्ने प्रथमोऽध्यायः ।



उसके कारण चिरकालसे मेरा अन्तःकरण संशयापन्न रहता है, वह मैं आपसे पूछना चाहता हूँ । यदि आज्ञा हो तो आज आपसे अपनी शंका पूछूँ' ॥ ६५ ॥

परशुरामका ऐसा कथन सुनकर दयानिधि दत्तात्रेयजीका हृदय आनन्दित हो गया और उन्होंने प्रसन्न होकर भृगुनन्दन परशुरामसे कहा ॥ ६६ ॥

'भार्गव ! तुम्हारे चित्तमें चिरकालसे जो प्रश्न बसा हुआ है वह पूछो । मैं तुम्हारे भक्तिभावसे बहुत प्रसन्न हूँ । तुम जो चाहते हो वह मैं बताऊँगा' ॥ ६७ ॥

प्रथम अध्याय समाप्त ।



द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

प्रश्रयावनतो भूत्वा सम्प्रष्टुमुपचक्रमे ।
इत्याज्ञप्तो जामदग्न्यः प्रणम्याऽत्रिसुतं मुनिम् ॥ १ ॥
भगवन् गुरुनाथार्य सर्वज्ञ करुणानिधे ।
पुरा मे नृपवंशेषु क्रोधः कारणतो ह्यभूत् ॥ २ ॥
तद्भूयो निहतं क्षात्रं सगर्भं सस्तनन्धयम् ।
मया त्रिःसप्तकृत्वो वै क्षत्रासृग्भरिते ह्रदे ॥ ३ ॥
सन्तर्पिताः पितृगणास्तुष्टा मद्भक्तिगौरवात् ।
मत्क्रोधं शमयामासुः शान्तः पित्राज्ञयाप्यहम् ॥ ४ ॥
सम्प्रत्ययोध्यामध्यास्ते यः श्रीरामो हरिः स्वयम् ।
क्रोधान्धस्तेन भूयोऽहं सङ्गतो बलदर्पितः ॥ ५ ॥

द्वितीय अध्याय ॥ २ ॥

परशुरामका प्रश्न, गुरुदेवका आश्वासन

इस प्रकार आज्ञा मिलनेपर परशुरामजीने अत्रिनन्दन श्रीदत्तात्रेय मुनिको प्रणाम किया और अत्यन्त विनीत होकर पूछने लगे ॥ १ ॥

भगवन् ! आप मेरे गुरुदेव, स्वामी और पूज्य हैं । करुणानिधे ! आप सभी कुछ जानते हैं । बहुत दिनोंकी बात है, एक विशेष कारणसे मुझे क्षत्रिय वंशोंके प्रति क्रोध हुआ था ॥ २ ॥

अतः मैंने इक्कीस बारमें गर्भ और बच्चोंको भी न छोड़कर सम्पूर्ण क्षत्रियोंका संहार कर डाला था और उनके रक्तसे कुण्ड भर दिये थे ॥ ३ ॥

उस रक्तसे मैंने पितरोंका तर्पण किया । मेरे ऐसे भक्तिभावसे पितृगण प्रसन्न हुए और उन्होंने मेरे क्रोधको शान्त किया । इस प्रकार पितरोंकी आज्ञासे शान्त होनेपर भी [जब मुझे मालूम हुआ कि] अभी अयोध्यामें स्वयं भगवान् विष्णु रामरूपसे विराजमान हैं तो मैं बलके घमण्डसे क्रोधान्ध होकर उनसे जा भिड़ा ॥ ४-५ ॥

तेन दर्पाद्भगवता च्यावितश्च पराजितः ।
जीवन्कथञ्चिन्निर्यातो ब्रह्मण्येनानुकम्पिना ॥ ६ ॥
अथ मामुपसम्प्राप्तो निर्वेदः परिभावितम् ।
ततोऽत्यन्तं पथि मया बहुधा परिदेवितम् ॥ ७ ॥
संवर्त्तमवधूतेन्द्रं मार्गेऽकस्मात्समासदम् ।
भस्मच्छन्नाग्निवद् गूढं कथञ्चिदविदन्तदा ॥ ८ ॥
सन्तप्त इव नीहारं तं सर्वाङ्गसुशीतलम् ।
सङ्गम्यैवातिशिशिरभावमासादयन्तदा ॥ ९ ॥
मया स्वस्थितिमापृष्टः प्राहामृतसुपेशलम् ।
सुसारपिण्डवत्सर्वं निष्कृष्य प्रत्यपादयत् ॥ १० ॥
नाहं तदशकं ग्रष्टुं रङ्को राज्ञीं यथा तथा ।
भूयः सम्प्रार्थितः सोऽथ भवन्तं मे विनिर्दिशत् ॥ ११ ॥

तब भगवान्‌ने मुझे परास्त करके उस दर्पसे नीचे गिराया। वे बड़े ब्राह्मणभक्त और दयालु थे, इसलिये किसी प्रकार जीवित छोड़ दिया ॥ ६ ॥

इस प्रकार परास्त होनेपर मुझे बड़ा वैराग्य हुआ और वहाँसे लौटते समय मार्गमें मैं बहुत खेद करता रहा ॥ ७ ॥

मार्गमें अकस्मात् अवधूतशिरोमणि संवर्तजीसे मेरी भेंट हो गयी। वे भस्मसे ढके अग्निके समान अपने स्वरूपको छिपाये हुए थे। अतः मैं बड़ी कठिनतासे उन्हें पहचान सका ॥ ८ ॥

जिस प्रकार घामसे तपे हुए पुरुषको कुहरा आ जानेसे बड़ी शान्ति मिलती है, उसी प्रकार उन सर्वाङ्गशीतल महापुरुषका समागम होनेसे मुझे उस समय बड़ी शान्ति मिली ॥ ९ ॥

मैंने जब उनकी स्थितिके विषयमें प्रश्न किया तो उन्होंने अमृतके समान बड़ा ही मधुर उत्तर दिया और सभी शास्त्रोंका सारसर्वस्व निकालकर तत्त्वका प्रतिपादन किया ॥ १० ॥

किन्तु जैसे महादरिद्री राजलक्ष्मीको ग्रहण नहीं कर पाता उसी प्रकार मैं उनकी बात समझ नहीं सका। जब मैंने उनसे पुनः प्रार्थना की तो उन्होंने आपके पास जानेका आदेश दिया ॥ ११ ॥

तद्भवच्चरणद्वन्द्वं तत आसादितं मया ।
अन्धो जनसमायोगमिवात्यन्तसुखावहम् ॥ १२ ॥
तन्मे न विदितं किञ्चित्संवर्त्तमुनिराह यत् ।
श्रुतं माहात्म्यमखिलं त्रिपुराभक्तिकारकम् ॥ १३ ॥
सा भवद्रूपिणी देवी हृदि नित्यं समाहिता ।
एवं मे वर्त्तमानस्य किं फलं समवाप्यते ॥ १४ ॥
भगवन् कृपया ब्रूहि यत्संवर्त्तः पुरावदत् ।
अविदित्वा च तन्नास्ति क्वचिच्च कृतकृत्यता ॥ १५ ॥
तदुक्तमविदित्वा तु यद्यच्च क्रियते मया ।
तद्बालक्रीडनमिव प्रतिभाति समन्ततः ॥ १६ ॥
पुरा मया हि बहुशः क्रतुभिर्दक्षिणोच्छ्रयैः ।
प्रभूतान्नगणैरिष्टा देवाः शक्रमुखा ननु ॥ १७ ॥

अतः मैं वहाँसे आपके चरणयुगलकी शरणमें आया हूँ, जैसे कोई [अकेला भटकता हुआ] अन्धा अत्यन्त सुखदायक जनसमाजमें आ जाय ॥ १२ ॥

मुझसे संवर्त्त मुनिने जो कुछ कहा वह मैंने कुछ भी नहीं समझा। आपके मुखारविन्दसे पहले मैंने भगवती त्रिपुरामें भक्तिभाव जागृत करनेवाला माहात्म्य पूरा सुना था ॥ १३ ॥

वह त्रिपुरादेवी साक्षात् आपका ही स्वरूप है। वह सर्वदा मेरे हृदयमें विराजमान है। इस स्थितिमें रहते हुए मुझे किस फलकी प्राप्ति होगी ॥ १४ ॥

इसके सिवा भगवन्! संवर्त्तजीने मुझसे पहले जो बात कही थी, कृपया वह भी समझा दीजिये, क्योंकि उसे बिना समझे कभी कृतकृत्यता प्राप्त नहीं हो सकती ॥ १५ ॥

उनकी कही हुई बातको समझे बिना मैं जो कुछ भी करता हूँ वह मुझे सब प्रकार बच्चोंका खेल-सा जान पड़ता है ॥ १६ ॥

पूर्वकालमें मैंने यज्ञोंद्वारा इन्द्रादि देवताओंका पूजन किया था। उन यज्ञोंमें बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ दी थीं और खूब अन्नदान किया था ॥ १७ ॥

तदल्पफलमेवेति श्रुतं संवर्त्तवक्त्रतः ।
मन्ये तदहमल्पं यद् दुःखमेवेति सर्वथा ॥ १८ ॥
असुखं नहि दुःखं स्याद् दुःखमल्पं सुखं स्मृतम् ।
यतः सुखात्यये दुःखं भवेद् गुरुतरं किल ॥ १९ ॥
नैतावदेव चैतस्मादधिकं चास्ति वैभवम् ।
मृत्यूपयोगो यद्भूयो न तन्न स्यात्कदाचन ॥ २० ॥
एवमेव भवेद्यन्मे क्रियते त्रिपुराविधौ ।
बालक्रीडेव मे भाति सर्वं तन्मानसं यतः ॥ २१ ॥
एतद्यदुक्तं भवता कर्त्तुं तस्यादितोऽन्यथा ।
नियतं चाप्यन्यथा तद्वचोभेदसमाश्रयात् ॥ २२ ॥
आलम्बभेदतश्चापि विविधं प्रतिपद्यते ।
कथमेतत्क्रतुसममसत्यफलसम्मितम् ॥ २३ ॥

किन्तु संवर्त्तजीके मुखसे सुना कि वे सब तो तुच्छ फल देनेवाले हैं। और जो तुच्छ होता है उसे तो मैं सर्वथा दुःखरूप ही मानता हूँ ॥ १८ ॥

वास्तवमें सुखका अभाव ही दुःख नहीं है, अल्प सुख भी दुःख ही माना जाता है; क्योंकि सुखका अन्त होनेपर भी बड़ा भारी दुःख होता है ॥ १९ ॥

इतना ही नहीं, इस कर्मकाण्डमें एक इससे भी बड़ा भय यह है कि अन्तमें मृत्यु होती है, और ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे वह न हो ॥ २० ॥

त्रिपुरादेवीकी उपासनामें मैं जो कुछ करता हूँ उससे भी ऐसा ही होता है। क्योंकि वह सब भी मानसिक व्यापार ही है, अतः मुझे तो बच्चोंका खेल-सा जान पड़ता है ॥ २१ ॥

आपने जिस विधिसे उपासना करनेको कहा था उस प्रकार भी की जा सकती है और अन्य प्रकार भी। [कर्मानुष्ठानके समान] विधिसे भी उसका अनुष्ठान हो सकता है और [भावकी प्रधानतासे] बिना विधिके भी; क्योंकि शास्त्रोंमें मतभेद है ही ॥ २२ ॥

इसके सिवा आलम्बन (इष्टदेव) के भेदसे भी उपासना अनेक प्रकारकी है। इस प्रकार असत्य फलवाली होनेसे यह यज्ञोंके समान ही क्यों नहीं है ? ॥ २३ ॥

अप्यसत्यात्मकं यस्मात् कथं सत्यसमं भवेत्।
अथापि नित्यकर्त्तव्यमेतन्नास्यावधिः क्वचित् ॥ २४ ॥
लक्षितो मे स भगवन् संवर्त्तः सर्वशीतलः।
कर्त्तव्यलेशविषमविषज्वालाविनिर्गतः ॥ २५ ॥
हसन्निव लोकतन्त्रमभयं मार्गमाश्रितः।
वने दावाग्निसङ्कीर्णे हिमाम्बुस्थगजोपमः ॥ २६ ॥
सर्वकर्त्तव्यवैकल्यामृतसंस्वादनन्दितः।
कथमेतां दशां प्राप्तो यच्च मामाह तत्पुरा ॥ २७ ॥
सर्वमेतत् सुकृपया गुरो मे वक्तुमर्हसि।
कर्त्तव्यकालभुजगनिगीर्णं मां विमोचय ॥ २८ ॥
इत्युक्त्वा चरणौ मूर्ध्ना गृहीत्वा दण्डवन्नतः।
अथ दृष्ट्वा तथाभूतं भार्गवं मुक्तिभाजनम् ॥ २९ ॥

अतः [कृतिसाध्य होनेके कारण] असत्यरूप होनेपर भी यह सत्यके समान कैसे हो सकती है? यदि कहो कि ['कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः' इस श्रुतिवचन के अनुसार] यह तो मनुष्यको नित्य करते ही रहना चाहिये, तब तो कभी इसकी समाप्ति ही नहीं होगी ॥ २४ ॥

किन्तु भगवान् संवर्त्त मुनि तो मुझे सब प्रकार शान्त प्रतीत होते थे। वे तो कर्त्तव्यकी लेशमात्र विषमविषमयी ज्वालासे भी मुक्त हो चुके थे ॥ २५ ॥

इस लोकव्यवहारको देखकर उन्हें मानो हँसी आती थी और वे भयशून्य मार्गपर आरूढ थे; जैसे दावाग्निसे व्याप्त वनमें कोई शीतल-जलमें खड़ा हुआ गजराज हो ॥ २६ ॥

वे सर्वकर्त्तव्यविमुक्ति रूप अमृतका आस्वादन करके परम आनन्दित जान पड़ते थे। ऐसी अवस्था उन्हें कैसे प्राप्त हुई, जिसका कि उस समय उन्होंने मुझसे भी वर्णन किया था ॥ २७ ॥

गुरुदेव! कृपापूर्वक यह सब रहस्य मुझे बताइये। मुझे कर्त्तव्यरूप काले नागने डसा हुआ है, उससे आप मुझे छुड़ा लीजिये ॥ २८ ॥

ऐसा कहकर परशुरामने उनके दोनों चरणोंको सिरपर रखकर दण्डवत् प्रणाम किया। तब परशुरामकी ऐसी स्थिति और उन्हें मुक्तिका

दयमानस्वभावोऽथ दत्तो वक्तुमुपाक्रमत् ।
वत्स भार्गव धन्योऽसि यस्य ते बुद्धिरीदृशी ॥ ३० ॥
अब्धौ निमज्जतो नौकासम्प्राप्तिरिव सङ्गता ।
एतावदेव सुकृतिः क्रियाभिरुपसङ्गतः ॥ ३१ ॥
स्वात्मानमारोहयति पदे परमपावने ।
सा देवी त्रिपुरा सर्वहृदयाकाशरूपिणी ॥ ३२ ॥
अनन्यशरणं भक्तं प्रत्येत्रं रूपिणी द्रुतम् ।
हृदयान्तःपरिणता मोचयेन्मृत्युजालतः ॥ ३३ ॥
यावत् कर्त्तव्यवेतालान्न बिभेति दृढं नरः ।
न तावत् सुखमाप्नोति वेतालाविष्टवत् सदा ॥ ३४ ॥
नृणां कर्त्तव्यकालाहिसन्दष्टानां कथं शुभम् ।
करालगरलज्वालाक्रान्ताङ्गानामिव क्वचित् ॥ ३५ ॥

अधिकारी देखकर सहजदयालु भगवान् दत्तात्रेयने कहना आरम्भ किया—बेटा परशुराम ! तुम्हें ऐसी बुद्धि प्राप्त हुई, अतः तुम धन्य हो । यह ऐसी है जैसे किसी समुद्रमें डूबनेवालेको नौका मिल जाय ॥ २९–३१ पू० ॥

उपासना आदि क्रियाओंके द्वारा पुण्यवान् पुरुषको यही प्राप्त होता है कि वह अपने-आपको परमपवित्र पदमें आरूढ कर सकता है ॥ ३१ उ०–३२ पू० ॥

देवी त्रिपुरा सभीकी हृदयाकाशस्वरूपा है [—उसका यद्यपि कोई आकार नहीं है—] तथापि अपने अनन्यशरण भक्तके लिये वह तुरन्त मूर्त्तिमती हो जाती है और उसके अन्तःकरणमें आविर्भूत होकर वह उसे मृत्युके पाशसे मुक्त कर देती है ॥ ३२ उ०–३३ ॥

जबतक मनुष्यको इस कर्त्तव्यरूप पिशाचका भारी भय नहीं होता, तबतक उसे सुखकी प्राप्ति नहीं होती, वह भूताविष्ट व्यक्तिके समान विक्षिप्त रहता है ॥ ३४ ॥

भीषण विषकी ज्वालासे जिसके अंग-प्रत्यंगोंमें दाह हो रहा हो उस व्यक्तिके समान कर्त्तव्यरूप काले नागसे डसे हुए पुरुषका कल्याण भला कैसे हो सकता है ? ॥ ३५ ॥

कर्त्तव्यविषसंसर्गमूर्च्छितं पश्य वै जगत् ।
अन्धीभूतं न जानाति क्रियां स्वस्य हितात्मिकाम् ॥ ३६ ॥
अन्यथा चेष्टते भूयो मोहमापद्यते पुनः ।
एवंविधो हि लोकोऽयं कर्त्तव्यविषमूर्च्छितः ॥ ३७ ॥
अनादिकालतो भीमे पच्यते विषसागरे ।
यथा हि केचित्पथिकाः प्राप्ता विन्ध्यं महानगम् ॥ ३८ ॥
क्षुधाभरसमाक्रान्ताः फलानि ददृशुर्वने ।
विषमुष्टिफलान्याशु तिन्दुकस्य फलेहया ॥ ३९ ॥
भक्षयामासुरत्यन्तक्षुधानष्टरसेन्द्रियाः ।
अथ ते तद्विषज्वालाज्वलिताङ्गाः सुपीडिताः ॥ ४० ॥
अन्धीभूता विचिन्वन्तस्तद्विषोष्णप्रशान्तये ।
अविदित्वा मुष्टिफलं तिन्दुफलनिषेवणात् ॥ ४१ ॥
मत्वा ज्वालां निजे देहे धत्तूरफलमासदुः ।
भ्रान्त्या जम्बीरबुद्ध्या तत् सर्वैरासीत् सुभक्षितम् ॥ ४२ ॥

देखो, यह सारा संसार कर्त्तव्यरूप विषके संसर्गसे मूर्च्छित होनेके कारण अन्धा हो रहा है, इसलिये इसे अपना हित करनेवाली क्रियाका पता नहीं लगता ॥ ३६ ॥

यह बार-बार उलटे ही कर्म करता है और पुनः पुनः मोहग्रस्त होता रहता है। कर्त्तव्यरूप विषसे मूर्च्छित यह लोक अनादिकालसे इसी प्रकार भीषण विषसमुद्रमें सन्तप्त हो रहा है ॥ ३७–३८ पू० ॥

[यह बात ऐसी है जैसे—] कुछ यात्री पर्वतराज विन्ध्याचलपर जा पहुँचे। वे भूखसे अत्यन्त व्याकुल थे। वहां वे फल खोजने लगे, और काजूके फल समझकर कुचलाके फल खा गये। अत्यन्त क्षुधातुर होनेके कारण उनकी रसनेन्द्रिय शक्तिहीन हो गयी थी। [अतः उनके स्वादकी ओर उनका ध्यान नहीं गया]॥ ३८ उ०–४० पू० ॥

अब कुचलाके विषकी ज्वालासे उनके अंग-अंगमें जलन होने लगी। उससे उन्हें बड़ी बेचैनी हुई। उन्हें यह तो पता था नहीं कि हमने कुचलाके फल खा लिये हैं, अतः अपने शरीर में उस ज्वालाको काजू खानेका ही परिणाम समझकर वे अन्धे-से होकर उसकी शान्तिके

उन्मत्ताश्च ततोऽभूवन् मार्गाद् भ्रष्टाश्च ते तदा ।
अन्धीभूयातिगहने पतन्तो निम्नभूमिषु ॥ ४३ ॥
कण्टकैश्चितसर्वाङ्गा भग्नबाहूरुपादकाः ।
अधिक्षिपन्तश्चान्योऽन्यं कलहश्चक्रुरुच्चकैः ॥ ४४ ॥
मुष्टिभिश्च शिलाभिश्च काष्ठैर्जघ्नुः परस्परम् ।
अथ ते दीर्णसर्वाङ्गाः पुरं कश्चित् समासदुः ॥ ४५ ॥
निशीथे दैववशतः पुरद्वारमुपाययुः ।
पुरद्वाराधिपालैस्ते प्रतिरुद्धाः प्रवेशने ॥ ४६ ॥
देशकालानभिज्ञानात् कलहश्चक्रुरुच्चकैः ।
अथ ते प्रहृता द्वारपालैरतितरां यदा ॥ ४७ ॥
तदा पलायनपरा बभूवुः परितस्तु ते ।
पतिताः परिखे केचिद् भक्षिता मकरादिभिः ॥ ४८ ॥

लिये खोज करने लगे तो उन्हें धतूरेके फल मिल गये। भ्रमवश उन सबने उन्हें नीबू समझकर खा लिया ॥ ४० उ०-४२ ॥

इससे वे और भी पागल हो गये और अपने मार्गसे भटककर उस घोर जंगलमें गड्ढोंमें गिरने-पड़ने लगे ॥ ४३ ॥

उनके सारे शरीरमें काँटे लग गये, हाथ-पैर और घुटने घायल हो गये तथा वे एक दूसरेको बुरा-भला कहकर आपसमें बड़ा कलह करने लगे ॥ ४४ ॥

होते-होते वे एक-दूसरेपर घूँसे, पत्थर और लकड़ियाँ चलाने लगे। इससे उनके सब अंग क्षत-विक्षत हो गये। अन्तमें वे किसी नगरके पास जा निकले ॥ ४५ ॥

दैववश वे आधी रातके समय नगरके द्वारपर पहुँचे। उस समय द्वारपालने उन्हें नगरमें प्रवेश करनेसे रोका ॥ ४६ ॥

उन्हें कुछ देश-कालका ज्ञान तो था ही नहीं, इसलिये वे उनके साथ भी झगड़ा करने लगे। अब तो द्वारपालों ने भी उनको खूब पीटा ॥ ४७ ॥

तब वे इधर-उधर भागने लगे। उनमेंसे कुछ तो नगरकी खाईमें गिर गये और वहाँ मकर आदि जलजन्तुओंने उन्हें खा लिया ॥ ४८ ॥

केचित् खातेषु कूपेषु पतिताः प्राणमुत्सृजुः
अपरे तैर्विनिहताः केचिज्जीवग्रहं गताः ॥ ४९ ॥
एवं जना हितेच्छाभिः कर्तव्यविषमूर्च्छिताः ।
अहो विनाशं यान्त्युच्चैर्मोहेनान्धीकृताः खलु ॥ ५० ॥
धन्योऽसि भार्गव त्वन्तु यस्मादभ्युदयं गतः ।
विचारः सर्वमूलं हि सोपानं प्रथमं भवेत् ॥ ५१ ॥
परश्रेयोमहासौधप्राप्तौ जानीहि सर्वथा ।
सुविचारमृते क्षेमप्राप्तिः कस्य कथम्भवेत ॥ ५२ ॥
अविचारः परो मृत्युरविचारहता जनाः ।
विमृश्यकारी जयति सर्वत्राभीष्टसङ्गमात् ॥ ५३ ॥
अविचारहता दैत्या यातुधानाश्च सर्वशः ।
विचारपरमा देवाः सर्वतः सुखभागिनः ॥ ५४ ॥

कुछ ने गड्ढों और कुओंमें गिरकर प्राण त्याग दिये और कोई उनसे मार खाकर किसी प्रकार अपनी जान बचाकर भाग गये॥ ४९ ॥

इसी प्रकार संसारी लोग अपने कल्याणकी कामनासे कर्त्तव्यरूप विषको पीकर मूर्च्छित हो गये हैं और मोहसे अन्धे होकर उल्टे विनाशकी ओर ही जा रहे हैं ॥ ५० ॥

परशुराम ! तुम्हारे हृदयमें विचार उदय हुआ है, अतः तुम धन्य हो । विचार ही सबका मूल है और परमकल्याणरूप महत्पदकी प्राप्तिके लिये यही पहली सीढ़ी है—यह तुम निश्चय जानो । भला, सम्यक् विचारके बिना किसीको कल्याणकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ॥५१-५२॥

अविचार सबसे बड़ी मृत्यु है, सब लोग अविचारसे ही नष्ट हो रहे हैं । जो विचारपूर्वक चलता है वही सर्वत्र अपने इच्छित पदार्थ प्राप्त करके अन्तमें विजय (सफलता) प्राप्त करता है ॥ ५३ ॥

दैत्य और राक्षस अविचारके कारण ही सब प्रकार नष्ट होते हैं और देवतालोग विचारनिष्ठ होनेके कारण सब प्रकार सुखके अधिकारी होते हैं ॥ ५४ ॥

विचाराद्विष्णुमाश्रित्य जयन्ति प्रत्यरीन् सदा ।
विचारः सुखवृक्षस्य बीजमङ्कुरशक्तिकम् ॥ ५५ ॥
विराजते विचारेण पुरुषः सर्वतोऽधिकः ।
विचाराद्विधिरुत्कृष्टो विचारात्पूज्यते हरिः ॥ ५६ ॥
सर्वज्ञस्तु विचारेण शिव आसीन्महेश्वरः ।
अविचारान्मृगासक्तो रामो बुद्धिमतां वरः ॥ ५७ ॥
परमामापदं प्राप्तो विचारादथ वारिधिम् ।
बद्ध्वा लङ्कापुरीं रक्षोगणाकीर्णां समाक्रमत् ॥ ५८ ॥
अविचाराद्विधिरपि मूढो भूत्वाभिमानतः ।
शिरश्छेदं समगमदिति संस्तुतमेव ते ॥ ५९ ॥
महादेवोऽविचारेण वरं दत्वा सुराय वै ।
भस्मीभावात् स्वस्य भीतः पलायनपरोऽभवत् ॥ ६० ॥

वे विचारपूर्वक विष्णुभगवान्का आश्रय लेकर सर्वदा अपने शत्रुओंपर विजयी होते हैं । विचार ही सुखरूपी वृक्षका बीज है, इसीमें सुखका अंकुर फूटनेकी शक्ति है ॥ ५५ ॥

विचारके ही कारण मनुष्यकी सबसे अधिक शोभा होती है । विचारके कारण ही ब्रह्मा सबसे श्रेष्ठ माने जाते हैं और विचारसे ही विष्णुकी सर्वत्र पूजा होती है ॥ ५६ ॥

विचारके द्वारा ही भगवान् शिव सर्वज्ञ और महेश्वर हैं । तथा [इसके विपरीत] बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ होनेपर भी अविचारके कारण रामका सुवर्णमृगके प्रति आकर्षण हुआ और वे बड़ी आपत्तिमें पड़ गये । फिर विचारका आश्रय लेकर ही उन्होंने समुद्रपर पुल बनवाया और राक्षसोंसे बसी हुई लंकापुरी पर आक्रमण किया ॥ ५७-५८ ॥

यह बात तुमसे कही ही जा चुकी है कि अविचारके कारण ही अभिमानसे मूढ होकर ब्रह्माने अपना एक सिर कटवा लिया था* ॥ ५९ ॥

महादेवजीने भी अविचारके वशीभूत होकर भस्मासुरको वर दे दिया और फिर अपने भस्म होनेकी सम्भावनासे भयभीत होकर भागते फिरे ॥ ६० ॥

* पहले ब्रह्माके पाँच सिर थे । जब वे सरस्वती को देखकर कामातुर हुए तब भगवान् शंकर ने उनकी भर्त्सना की और अपने हाथ से उनका पाँचवाँ मस्तक काट डाला ।

अविचाराद्धरिः पूर्वं भृगुपत्नीं निहत्य तु ।
शापेन परमं दुःखमाप्तमत्यन्तदुःसहम् ॥ ६१ ॥
एवमन्ये सुरा दैत्या यातुधाना नरा मृगाः ।
अविचारवशादेव विपदं प्राप्नुवन्ति हि ॥ ६२ ॥
महाभागास्ते हि धीरा यान् कुत्रापि च भार्गव ।
विजहाति विचारो नो नमस्तेभ्यो निरन्तरम् ॥ ६३ ॥
कर्त्तव्यमविचारेण प्राप्य मुह्यन्ति सर्वतः ।
विचार्यं कृत्या सर्वेभ्यो मुच्यतेऽपारसङ्कटैः ॥ ६४ ॥
एवं लोकांश्चिरादेषोऽविचारः सङ्गतोऽभवत् ।
यस्याविचारो यावत् स्यात् कुतस्तावद्विमर्शनम् ॥ ६५ ॥
ग्रीष्मभीष्मकरातप्ते मरौ क्व शिशिरं जलम् ।
एवं चिराविचाराग्निज्वालामालापरीवृते ॥ ६६ ॥
विचारशीतलस्पर्शः कथं स्यात् साधनं विना ।
साधनन्त्वेकमेवात्र परमं सर्वतोऽधिकम् ॥ ६७ ॥

अविचारसे ही पूर्वकालमें विष्णुभगवान् भृगुकी भार्याको मारकर फिर शापसे अत्यन्त असहनीय आपत्तिमें पड़ गये ॥ ६१ ॥

इसी प्रकार और भी असुर, देवता, राक्षस, मनुष्य एवं मृग आदि अविचारके अधीन होनेपर ही विपत्तिमें पड़ते हैं ॥ ६२ ॥

परशुराम ! वे बुद्धिमान् पुरुष बड़े ही भाग्यशाली हैं जिन्हें किसी भी परिस्थितिमें विचार नहीं छोड़ता । उन्हें बार-बार प्रणाम है ॥६३॥

अविचारसे अकर्त्तव्यको ही कर्त्तव्य समझकर लोग सब प्रकार मोहमें पड़ जाते हैं और विचारपूर्वक कर्म करनेपर वे सब प्रकारके अपार संकटोंसे भी छुटकारा पा लेते हैं ॥ ६४ ॥

इस प्रकार चिरकालसे इस अविचारने ही लोगोंको प्रभावित कर रखा है । और जबतक किसीपर अविचारका अधिकार है तबतक वह विचार कैसे कर सकता है ॥ ६५ ॥

ग्रीष्मकालके प्रचण्ड मार्त्तण्डकी किरणोंसे तपे हुए मरुस्थलमें भला, शीतलजल कहाँ मिल सकता है ? इसी प्रकार चिरकालसे अविचाररूप अग्निकी लपटोंसे घिरे हुए अन्तःकरणमें बिना साधन

सर्वहृत्पद्मनिलयदेवतायाः परा कृपा ।
तां विना स्यात् कथं कस्य महाश्रेयः सुसाधनः ॥ ६८ ॥
विचारार्कोऽविचारान्धमहाध्वान्तनिबर्हणः ।
तत्र मूलं भवेद्भक्त्या देवतापरिराधनम् ॥ ६९ ॥
राधिता परमा देवी सम्यक् तुष्टा सती तदा ।
विचाररूपतां याति चित्ताकाशे रविर्यथा ॥ ७० ॥
तस्मान्निजात्मरूपां तां त्रिपुरां परमेश्वरीम् ।
सर्वान्तरनिकेतां श्रीमहेशीं चिन्मयीं शिवाम् ॥ ७१ ॥
आराधयेदकापट्यात् सद्गुरुद्वारतः क्रमात् ।
आराधनेऽपि मूलं स्याद्भक्तिः श्रद्धा च निर्मला ॥ ७२ ॥
तत्रापि मूलं माहात्म्यश्रवणं परिकीर्त्तितम् ।
अतस्ते प्रथमं राम माहात्म्यं सम्प्रवर्त्तितम् ॥ ७३ ॥

किये विचारका शीतल स्पर्श कैसे प्राप्त हो सकता है। इसके लिये परम साधन भी एक ही है और वह सबसे बढ़कर है ॥ ६६–६७ ॥

[वह है—] सबके हृदयकमलमें निवास करनेवाली श्रीत्रिपुरादेवीकी परम कृपा। उसके बिना भला किसीको परम कल्याणकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? ॥ ६८ ॥

विचाररूपी सूर्य अविचारसे अन्धे हुए लोगोंके अज्ञानरूप महान् अन्धकारको नष्ट करनेवाला है। उसका मूल भक्तिभावसे उनकी आराधना करना ही है ॥ ६९ ॥

आराधिता होनेपर महादेवी त्रिपुरा प्रसन्न होकर विचार रूपमें परिणत हो सूर्यके समान हृदयाकाशमें प्रकट हो जाती हैं ॥ ७० ॥

अतः उन भगवती त्रिपुराकी जो अपनी आत्मस्वरूपा, सर्वान्तरयामिनी, महान् ऐश्वर्यशालिनी, चिन्मयी और कल्याणस्वरूपिणी हैं—सद्गुरुके द्वारा दीक्षित होकर निश्छल भावसे विधिवत् आराधना करनी चाहिये। उनकी आराधनामें भी निर्मल श्रद्धा एवं भक्ति ही मूल (प्रधान कारण) हैं ॥ ७१–७२ ॥

उनका भी मूल बताया गया है उनके माहात्म्यका श्रवण, इसीसे हे परशुराम! पहले मैंने तुम्हें उनका माहात्म्य सुनाया था ॥ ७३ ॥

तेन श्रुतेनाधुना त्वं प्राप्तवानसि मङ्गलम्।
विचारं श्रेयसो मूलं यस्मात्ते न हि भीरितः॥ ७४॥
विचारोदयपर्यन्तं भयमस्ति महत्तरम्।
अविचारात्मदोषेण ग्रस्तस्य प्रतिवासरम्॥ ७५॥
यथा हि सन्निपातेन ग्रस्तस्यौषधसेवनात्।
अपि तावद्भवेद् भीतिर्यावद्धातोरशुद्धता॥ ७६॥
प्राप्ते विचारे परमे फलितं जीवितं नृणाम्।
यावत् सुजन्म सुनृणां विचारो न भवेत् परः॥ ७७॥
तावन्तो जन्मतरवो वन्ध्या विफलहेतुतः।
स एव सफलो जन्मवृक्षो यत्र विमर्शनम्॥ ७८॥
कूपमण्डूकसदृशा ये नरा निर्विमर्शनाः।
यथा कूपे समुत्पन्नो भेको नो वेद किञ्चन॥ ७९॥
शुभं वाप्यशुभं वापि कूपे एव विनश्यति।
तथा जना अपि वृथोत्पन्ना ब्रह्माण्डकूपके॥ ८०॥

उसके श्रवणसे ही तुम्हें इस [विचाररूप] मंगलकी प्राप्ति हुई है। विचार ही कल्याणका मूल है, अतः अब तुम्हें इस लोकमें किसी प्रकारका भय नहीं है॥ ७४॥

जबतक विचार उदय नहीं होता तबतक तो अविचाररूप दोषसे ग्रस्त पुरुषके लिये प्रतिदिन (नित्य ही) बड़ा भारी भय रहता है॥७५॥

जिस प्रकार सन्निपातग्रस्त पुरुषको तबतक तो भय रहता है जबतक कि औषध सेवन कर लेनेपर भी धातुओंकी अशुद्धि शेष रहती है॥ ७६॥

उत्तम विचारकी प्राप्ति होनेपर ही मनुष्यका जीवन सफल होता है। उत्तम मनुष्यजन्म मिलनेपर भी जबतक विचार न हो तबतक तो निष्फल रहनेके कारण ये मानवजन्मरूप वृक्ष भी वन्ध्य (व्यर्थ) हैं। इनमें सफल तो वही जन्मरूप वृक्ष है जिसमें विचारका उदय हुआ है॥ ७७-७८॥

जो लोग विचारहीन हैं वे तो कूपमण्डूकके समान हैं। जिस प्रकार कुएँमें उत्पन्न हुआ मेंढक कुएँसे बाहरकी अच्छी या बुरी कोई भी बात नहीं जानता और कुएँमें ही नष्ट हो जाता है, उसी

शुभं वाप्यशुभं वापि न विदुः स्वात्मनः क्वचित् ।
उत्पद्योत्पद्य नश्यन्ति न जानन्ति स्वकं हितम् ॥ ८१ ॥
सुखबुद्धिश्च दुःखेषु सुखे दुःखविनिश्चयम् ।
प्राप्याविचारमाहात्म्यात् पच्यन्ते सृतिपावके ॥ ८२ ॥
दुःखेन क्लिश्यमानाश्च न कथञ्चित् त्यजन्ति तत् ।
यथा पादशताघातैस्ताडितोऽपि महाखरः ॥ ८३ ॥
रासभीमनुयात्येव तथा संसरणं जनः ।
त्वन्तु राम विचारात्मा पारं दुःखस्य सङ्गतः ॥ ८४ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे विचारमाहात्म्ये
द्वितीयोऽध्यायः ॥



प्रकार [विचारहीन] लोग भी वृथा ही इस ब्रह्माण्डकूपमें उत्पन्न होते हैं ॥ ७९–८० ॥

उन्हें अपने हिताहितका कुछ भी ज्ञान नहीं होता। वे पुनः पुनः उत्पन्न होकर मरते रहते हैं, अपने हितका उन्हें कुछ पता नहीं चलता ॥ ८१ ॥

अविचारके प्रभावसे उनकी [पुत्र-सम्पत्ति आदि] दुःखके साधनोंमें सुखबुद्धि हो जाती है और [वैराग्यादि] सुखके साधनोंमें दुःखबुद्धि । अतः वे [जन्म-मरणरूप] संसाराग्निमें जलते रहते हैं ॥ ८२ ॥

दुःखरूप स्त्री-पुत्रादिसे तरह-तरह क्लेश पानेपर भी वे किसी प्रकार उन्हें त्याग नहीं पाते। जिस प्रकार गधा सैकड़ों लातें खानेपर भी गधी के पीछे लगा ही रहता है उसी प्रकार लोग संसारका पीछा नहीं छोड़ते। परशुराम ! तुम तो विचारवान् हो, इसलिये अब इस संसाररूप दुःखसे पार हो गये हो ॥ ८३–८४ ॥

द्वितीय अध्याय समाप्त ।



तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

दत्तात्रेयप्रोक्तवचः श्रुत्वात्यन्तसुकौतुकी ।
जामदग्न्यः पुनरपि पप्रच्छ विनयान्वितः ॥ १ ॥
भगवन् गुरुणाऽथोक्तं भवता यत्तथैव तत् ।
अविचारात्परो नाशः संप्राप्तः सर्वथा जनैः ॥ २ ॥
विचारेण भवेच्छ्रेयस्तन्निदानमपि श्रुतम् ।
माहात्म्यश्रुतिरित्येव तत्र मे संशयो महान् ॥ ३ ॥
कथं वा तदपि प्राप्यं साधनं तत्र किं भवेत् ।
स्वाभाविकं तद्यदि स्यात्तत् सर्वैर्न कुतः श्रुतम् ॥ ४ ॥
अहं वाद्यावधि कुतः प्रवृत्तिं नाप्तवानिह ।
दुःखं मत्तोऽधिकं प्राप्ता विहताश्च पदे पदे ॥ ५ ॥
न कुतः साधनं प्राप्ता एतन्मे कृपया वद ।
इत्यापृष्टः प्राह भूयो हृष्टो दत्तो दयानिधिः ॥ ६ ॥

तृतीय अध्याय ॥ ३ ॥

हेमचूड और हेमलेखाका समागम

श्रीदत्तात्रेयजीकी कही बातें सुनकर परशुरामजीने अत्यन्त कुतूहल और विनयपूर्वक पुनः प्रश्न किया ॥ १ ॥

"भगवन्! गुरुदेव! आपने जो कुछ कहा वह सत्य ही है। लोगोंको सब प्रकार अविचारसे ही बड़ी हानि हुई है ॥ २ ॥

अतः विचारसे ही उनका कल्याण हो सकता है। और उसका मूल माहात्म्यश्रवण है—यह भी मैंने सुना। किन्तु उसमें मुझे एक बड़ा सन्देह है ॥ ३ ॥

वह श्रवण भी कैसे प्राप्त हो? उसके लिये क्या उपाय है। यदि आप कहें कि वह तो स्वाभाविक ही हो जाता है तो सबहीने माहात्म्य-श्रवण क्यों नहीं कर लिया ॥ ४ ॥

अथवा मुझे भी आजतक उसे श्रवण करनेकी रुचि क्यों नहीं हुई? ऐसे भी लोग हैं जिन्हें मुझसे भी अधिक दुःख प्राप्त हैं और जो

शृणु राम प्रवक्ष्यामि निदानं श्रेयसः परम् ।
सद्भिः सङ्गः परं मूलं सर्वदुःखनिबर्हणम् ॥ ७ ॥
परमार्थफलप्राप्तौ बीजं सत्सङ्ग उच्यते ।
त्वं चापि तेन हि सता संवर्त्तेन महात्मना ॥ ८ ॥
सङ्गतः सन्निमां प्राप्तो दशां श्रेयःफलोदयाम् ।
सन्त एव हि संयाता दिशन्ति परमं सुखम् ॥ ९ ॥
विना सत्सङ्गतः केन प्राप्तं श्रेयः परं कदा ।
लोकेऽपि यादृशं सङ्गं यो यः प्राप्नोति मानवः ॥ १० ॥
तत्फलं स समाप्नोति सर्वथा न हि संशयः ।
अत्रेति कीर्त्तयिष्यामि शृणु राम कथामिमाम् ॥ ११ ॥
पुरा दशार्णाधिपतिर्मुक्ताचूड इतीरितः ।
तस्य पुत्रौ हेमचूडमणिचूडौ बभूवतुः ॥ १२ ॥

पद-पदपर ठुकराये जा रहे हैं, उन्हें इस साधनकी प्राप्ति क्यों नहीं हुई ? कृपा करके यह मुझे बताइये।" इस प्रकार पूछे जानेपर दयानिधि दत्तात्रेयजी बड़े प्रसन्न हुए और पुनः कहने लगे ॥ ५–६ ॥

"परशुराम ! सुनो, मैं तुम्हें कल्याणका जो मूल कारण है वह बताता हूँ। सत्पुरुषोंका संग ही इसका सबसे प्रधान कारण है, वही सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति करनेवाला है ॥ ७ ॥

परमार्थरूप फलकी प्राप्तिमें सत्संग बीज कहा जाता है। तुमको भी उन सन्तशिरोमणि महात्मा संवर्त्तका संग होनेपर ही यह श्रेयरूप फलको प्राप्त करानेवाली दशा प्राप्त हुई। सन्तजन ही समागम होनेपर परम सुख प्रदान करते हैं ॥ ८–९ ॥

बिना सत्संगके भला कब किसीको परमश्रेयकी प्राप्ति हुई है? इसमें सन्देह नहीं कि लोकमें भी जिस-जिसको जैसा-जैसा संग प्राप्त होता है उसे ठीक वैसा ही फल मिल जाता है। परशुराम ! सुनो, इस प्रसंगमें मैं तुम्हें यह कथा सुनाता हूँ ॥ १०–११ ॥

प्राचीन समयमें मुक्तापीड नामसे प्रसिद्ध एक दशार्ण देशका राजा था। उसके हेमचूड और मणिचूड नामके दो पुत्र थे ॥ १२ ॥

सुरूपौ सुगुणौ चोभौ सर्वविद्याविशारदौ।
कदाचिन्मृगयोत्साहात् सेनाभिः परिवारितौ ॥ १३ ॥
सह्याचलवनं भीमं सिंहव्याघ्रादिसङ्कुलम्।
महाबलौ विविशतुर्धनुर्बाणधरौ किल ॥ १४ ॥
अथ तत्र मृगान् सिंहान् वराहान् महिषान् वृकान्।
जघ्नतुर्निशितैर्बाणैर्लाघवात् कार्मुकच्युतैः ॥ १५ ॥
एवं विनिघ्नतोर्वन्यान् मृगान् राजकुमारयोः।
चण्डवायुः प्रादुरासीच्छर्कराश्मप्रवर्षणः ॥ १६ ॥
पांशुभिर्नभ आक्रान्तमभूद्दर्शनिशोपमम्।
न दृश्यते तत्र शिला वृक्षः पुरुष एव वा ॥ १७ ॥
कुतो नीचोच्चतां पश्येदेवं ध्वान्तावृतो गिरिः।
निहता शर्करावर्षैः सेनात्यन्तं पलायिता ॥ १८ ॥

दोनों ही बड़े रूपवान्, गुणवान् और सब प्रकारकी विद्याओंमें कुशल थे। कहते हैं, किसी समय आखेटकी इच्छा होनेपर ये महाबली राजकुमार धनुष-बाण धारणकर बहुत-सी सेना साथ ले सह्यपर्वतके भयङ्कर बनमें घुस गये, जो सिंह और व्याघ्रादि जन्तुओंसे भरा हुआ था ॥ १३–१४ ॥

वहां उन्होंने अपने धनुषोंसे छूटे हुए तीखे बाणों द्वारा बड़ी फुर्तीसे अनेकों हरिण, सिंह, सूअर, भैंसे और भेड़ियोंका बध कर दिया ॥ १५ ॥

इस प्रकार जब वे राजकुमार अनेकों जंगली जीवोंका शिकारकर रहे थे वहाँ बड़ी प्रचण्ड आँधी उठी। उससे रेती और कंकर-पत्थरोंकी वर्षा होने लगी ॥ १६ ॥

सारा आकाश धूलिसे भर गया। इससे अमावास्याकी रात्रिका-सा अन्धकार छा गया। फिर वहां शिला, वृक्ष, मनुष्य कुछ भी दिखाई देना बन्द हो गया ॥ १७ ॥

उस पहाड़पर ऐसा अँधेरा छाया कि कहाँ नीचा है कहाँ ऊँचा है यह भी दिखायी नहीं देता था। बालूकी वर्षासे पीड़ित होकर सेना भी तितर-बितर होकर भाग गयी ॥ १८ ॥

वृक्षान् केचिच्छिलाः केचिद् गुहाः केचिदुपासदुः ।
अश्वारूढौ राजपुत्रावपि दूरं पलायितौ ॥ १९ ॥
हेमचूडः क्वचित्तत्र प्रपेदे तापसाश्रमम् ।
कदलीखर्ज्जूरवनैराक्रान्तमतिसुन्दरम् ॥ २० ॥
तत्रापश्यच्छुभां काञ्चित् कन्यामग्निशिखामिव ।
प्रद्योतमानां वपुषा तप्तहेमसुवर्चसाम् ॥ २१ ॥
तां दृष्ट्वा राजपुत्रोऽपि पद्मामिव सुरूपिणीम् ।
स्मयमान इवाऽपृच्छत् का त्वं पद्मानने वने ॥ २२ ॥
निर्जने भीतिजनने निर्भये वशमास्थिता ।
कस्य त्वमपि केनात्र निवसस्येकला कथम् ॥ २३ ॥
पृष्टैव प्राह सा कन्या राजपुत्रमनिन्दिता ।
स्वागतन्ते राजपुत्र विष्टरं प्रतिपद्यताम् ॥ २४ ॥

सैनिकोंमेंसे किन्हींने वृक्षोंका, किन्हींने शिलाओंका और किन्हींने गुफाओंका आश्रय लिया । दोनों राजकुमार भी घोड़ोंपर चढ़े हुए दूर निकल गये ॥ १९ ॥

उनमेंसे हेमचूड किसी तपस्वियोंके आश्रममें पहुँच गया । वह बड़ा ही रमणीक था और उसमें केले तथा खजूरके वृक्ष लगे थे ॥ २० ॥

वहाँ उसने अग्निकी ज्वालाके समान तेजस्विनी एक सुन्दरी कन्या देखी । उसका शरीर तपाये हुए सुवर्णके समान बड़ा कान्तिमान् था ॥ २१ ॥

साक्षात् लक्ष्मीके समान रूपवती उस कन्याको देखकर राजपुत्रने कुछ मुसकाते हुए पूछा, "कमलानने ! तुम कौन हो ? निर्भये ! इस भयङ्कर निर्जन बनमें तुम विवश होकर किसलिये निवास कर रही हो ? तुम किसकी पुत्री हो ? यहाँ किसके साथ रहती हो ? इस समय अकेली क्यों हो ?" ॥ २२–२३ ॥

इस प्रकार पूछे जानेपर उस निर्दोष बालाने राजपुत्रसे कहा, "राजपुत्र ! आप, भले आये । आइये, आसनपर विराजिये ॥ २४ ॥

तपस्विनामयं धर्मः पूजनं ह्यतिथेस्तु यत्।
श्रान्तं त्वामभिपश्यामि व्यथितं चण्डवायुना ॥ २५ ॥
बद्धा खर्जूरवृक्षेऽश्वमत्रासीनो गतश्रमः।
मद्वृत्तमर्हसि श्रोतुमित्युक्तः स तथाकरोत् ॥ २६ ॥
फलानि भोजयामास पाययामास सद्रसम्।
एवं तं विश्रमं प्राप्तं राजपुत्रमनिन्दिता ॥ २७ ॥
प्राह सा मधुसंस्रावपेशलाकारया गिरा।
राजपुत्र व्याघ्रपादो मुनिः शिवपदाश्रयः ॥ २८ ॥
येन लोकाः पुण्यतमा जिताः स्वतपसो बलात्।
परावरज्ञो ह्यनिशं पूजितो मुनिनायकैः ॥ २९ ॥
तस्याहं धर्मतः पुत्री हेमलेखेति विश्रुता।
विद्युत्प्रभाख्या विद्याध्री सा सर्वाङ्गमनोहरा ॥ ३० ॥
इमां वेणामनुनदीं स्नातुमभ्याययौ क्वचित्।
तदा तत्राजगामार्थात् सुषेणो वङ्गभूपतिः ॥ ३१ ॥

अतिथियोंका सत्कार करना तो तपस्वियोंका धर्म ही है। आप मुझे बहुत थके हुए और प्रचण्ड पवनसे व्यथित जान पड़ते हैं ॥२५॥

घोड़ेको खजूरके पेड़से बाँधकर यहाँ कुछ देर बैठकर विश्राम कीजिये। फिर आप मेरा सब वृत्तान्त सुन लेंगे।" कन्याके इस प्रकार कहनेपर हेमचूडने वैसा ही किया ॥ २६ ॥

उस बालाने उसे कुछ फल खिलाये और सुस्वादु जल पीनेके लिये दिया। फिर उसे श्रमहीन देखकर वह मधु-सा बरसानेवाले मीठे शब्दोंमें कहने लगी, "राजपुत्र! व्याघ्रपाद नामके एक मुनि थे। वे भगवान् शिवके चरणाश्रित थे ॥ २७—२८ ॥

अपने तपके प्रभावसे उन्होंने स्वर्णादि पुण्यलोकोंका अधिकार प्राप्त कर लिया था। वे ब्रह्मज्ञानसम्पन्न थे और बड़े-बड़े मुनिजन रात-दिन उनकी सेवामें रहते थे ॥ २९ ॥

मैं उनकी धर्मपुत्री हूँ और हेमलेखा नामसे प्रसिद्ध हूँ। एकबार सर्वाङ्गसुन्दरी विद्युत्प्रभा नामकी विद्याधरी इस वेणा नदीमें स्नान करनेके लिये आयी। संयोगवश उसी समय वहाँ बंगदेशके राजा सुषेण भी आये ॥ ३०—३१ ॥

स ददर्श विगाहन्तीं नदीं तां लोकसुन्दरीम् ।
क्लिन्नांशुकान्तरात्यन्तव्यक्तपीनकुचद्वयीम् ॥ ३२ ॥
कामबाणहतस्तत्र तां प्रार्थयदथापि सा ।
सौन्दर्यमोहिता तस्य तदुक्तिं सममंसत ॥ ३३ ॥
सङ्गम्याथ तया राजा ययौ स्वनगरं प्रति ।
दधार सापि विद्याध्री गर्भं राजर्षिवीर्यतः ॥ ३४ ॥
भीतापचारात् पत्युः सा गर्भं त्यक्त्वात्र संययौ ।
अमोघवीर्याद्राजर्षेर्जाताहं कन्यका ततः ॥ ३५ ॥
मां ददर्श व्याघ्रपादः सन्ध्योपास्त्यर्थमागतः ।
दयया मामुपादायापालयज्जननी यथा ॥ ३६ ॥
धर्मेण यः पालयिता प्रोच्यते हि पितैव सः ।
अहन्तस्य धर्मपुत्री पितृसेवापरायणा ॥ ३७ ॥

उन्होंने उस त्रिलोकसुन्दरी विद्याधरीको नदीमें स्नान करते देखा । उसके जलमें भीगे झीने वस्त्रोंमेंसे दोनों पीन पयोधर दिखाई दे रहे थे ॥ ३२ ॥

इससे राजा सुषेण कामबाणसे विधगये और उस विद्याधरीसे उन्होंने प्रार्थना भी कर दी । राजाके सौन्दर्यसे मोहित होकर उसने उनकी बात मान ली ॥ ३३ ॥

उसके साथ समागम करके राजा अपने नगरको चले गये । उस विद्याधरीको राजाके वीर्यसे गर्भ रह गया ॥ ३४ ॥

किन्तु इस व्यभिचारके कारण पतिके डरसे वह गर्भको वहीं छोड़कर चली गयी । तब राजाके उस अमोघ वीर्यसे मैं कन्या उत्पन्न हुई ॥ ३५ ॥

जब सन्ध्योपासनके लिये वहाँ व्याघ्रपाद मुनि आये तो उन्होंने मुझे देखा । वे दयावश मुझे उठा लाये और माताके समान मेरा पालन करने लगे ॥ ३६ ॥

जो धर्मपूर्वक पालन करता है वह पिता ही कहा जाता है । अतः मैं उनकी धर्मपुत्री हूँ और पिताजीकी सेवा करती रहती हूँ ॥ ३७ ॥

तस्य माहात्म्यतो मेऽत्र भयं नास्त्येव कुत्रचित् ।
नायं सुरासुरैर्वापि कदाचिद् दुष्टबुद्धिभिः ॥ ३८ ॥
प्रवेष्टुमाश्रमोऽर्हः स्यात् प्रविशन्नाशमाप्नुयात् ।
एतन्मेऽभिहितं वृत्तं तिष्ठ किञ्चिन्नृपात्मज ॥ ३९ ॥
आयास्यति स भगवान् पिता मे तं निशामय ।
प्रणम्य तं प्राप्य चेष्टं ततः कल्ये प्रयास्यसि ॥ ४० ॥
हेमलेखावचः श्रुत्वा तत्सौन्दर्येण मोहितः ।
भीतः किञ्चित् प्रवक्तुं तां विमना इव चाभवत् ॥ ४१ ॥
अथालक्ष्य राजपुत्रं कामस्य वशमागतम् ।
प्राह सा विदुषी भूयो राजपुत्र धृतिं भज ॥ ४२ ॥
आगच्छति पिता सद्यस्ततोऽभिलषितं भज ।
एवं वदन्त्यां तस्यां स व्याघ्रपादो महामुनिः ॥ ४३ ॥
आजगाम वनाद्यत्र पुष्पादेः कृतसञ्चयः ।
मुनिं समागतं दृष्ट्वा राजपुत्रः समुत्थितः ॥ ४४ ॥

उनके प्रभावसे मुझे यहाँ कहीं भी किसी प्रकारका भय नहीं है। इस आश्रममें कोई देवता या असुर भी दूषित विचारसे प्रवेश नहीं कर सकता। यदि करेगा तो नष्ट हो जायगा। यह मैंने अपना वृत्तान्त सुनाया। राजपुत्र ! आप कुछ देर यहाँ ठहरिये ॥ ३८-३९ ॥

मेरे पिता भगवान् व्याघ्रपाद आने ही वाले हैं। उनके दर्शन करें और उन्हें प्रणाम करके अपना मनोरथ पूरा कराकर कल प्रातःकाल प्रस्थान करें" ॥ ४० ॥

हेमलेखाकी बात सुनकर उसके सौन्दर्यसे मोहित हो जानेके कारण राजपुत्रने कुछ कहना चाहा, किन्तु बोलनेका साहस न होनेके कारण वह कुछ अनमना-सा हो गया ॥ ४१ ॥

उसे कामके वशीभूत देख विदुषी हेमलेखाने उससे फिर कहा, "राजपुत्र ! धैर्य धारण करो ॥ ४२ ॥

पिताजी शीघ्र ही आते होंगे। तब अपनी अभिलाषा पूरी कर लेना।" उसके ऐसा कहते ही महामुनि व्याघ्रपाद वनसे पुष्पादि संग्रह करके आ गये। उन्हें आये देखकर राजपुत्र खड़ा हो गया ॥ ४३-४४ ॥

प्रणम्य नाम संश्राव्योपविष्टस्तेन देशितः।
अथ दृष्ट्वा राजपुत्रं कामेन विकृताकृतिम् ॥ ४५ ॥
ज्ञात्वा योगदृशा सर्वं मत्वा युक्तञ्च तत्तदा।
दारक्रियार्थं तस्मै तां हेमलेखां ददौ मुनिः ॥ ४६ ॥
तुष्टो राजकुमारोऽपि तामादाय पुरं ययौ।
मुक्ताचूडोऽतिसन्तुष्टो महोत्सवविधानतः ॥ ४७ ॥
विवाहमकरोत्तस्य विधानेन क्षितीश्वरः।
अथ राजकुमारोऽपि तया क्रीडापरः सदा ॥ ४८ ॥
सौधेषु वनराजिषु पुलिनादिषु संभ्रमौ।
हेमलेखां राजपुत्रो भोगेष्वनतिकामिनीम् ॥ ४९ ॥
उदासीनां सदा दृष्ट्वा पप्रच्छ रहसि क्वचित्।
किं प्रिये नानुरक्तासि प्रिये मय्यनुरागिणि ॥ ५० ॥

उसने अपना नाम लेकर मुनिको प्रणाम किया और उनकी आज्ञा पाकर बैठ गया। मुनिने देखा कि कामके कारण राजपुत्रकी चेष्टा विकृत-सी हो गयी है, तो योगबलसे उन्होंने सब हाल जान लिया और उसे उचित ही समझा। अतः उन्होंने पत्नीरूपसे उसे हेमलेखा दे दी ॥ ४५-४६ ॥

इससे राजकुमारको बड़ी प्रसन्नता हुई और वह उसे लेकर नगरमें लौट आया। राजा मुक्ताचूड भी बहुत सन्तुष्ट हुआ और उसने बड़ा महोत्सव करके उनका विधिवत् विवाह संस्कार सम्पन्न कर दिया ॥ ४७-४८ पू० ॥

तब राजकुमार महलोंमें, उपवनोंमें और नदीतट आदि स्थानोंमें उसके साथ निरन्तर विहार करने लगा ॥ ४८ उ०-४९ पू० ॥

किन्तु उसने देखाकि हेमलेखाको भोगोंकी विशेष कामना नहीं है और वह सर्वदा उदासीन ही रहती है। तब एक दिन उसने एकान्तमें उससे पूछा, "प्रिये ! मैं तुमसे प्रेम करता हूँ तो भी तुम अपने प्रियतम मुझसे प्रेम क्यों नहीं करतीं ? ॥ ४९ उ०-५० ॥

कुतो भोगेषु नात्यन्तमासक्तासि शुचिस्मिते ।
किं भोगास्ते मनोयोग्या न सन्त्यत्र कुतस्त्विदम् ॥ ५१ ॥
अत्युत्तमेषु भोगेषु नासक्तेव विभासि मे ।
त्वय्यासक्तिविहीनायां कथं मे सुखदा रतिः ॥ ५२ ॥
आसक्ते मयि चापि त्वं भास्यन्यगतमानसा ।
भाषितापि मया भूयो न शृणोष्येव किञ्चन ॥ ५३ ॥
आगतं कण्ठसंलग्नं चिरादपि विभाव्य च ।
कदा नाथागतं चेति पृच्छस्यविदिता यथा ॥ ५४ ॥
पेशलेषूपभोगेषु दुर्लभेषु क्वचिन्न ते ।
मन आसज्जते कस्मान्न किञ्चिदनुमोदसि ॥ ५५ ॥
मया विरहितां त्वां वै निमील्य नयने स्थिताम् ।
यदा यदोपगच्छामि पश्यामि च तदा तदा ॥ ५६ ॥

तुम्हारी मुसकान बड़ी मनोहारिणी है, किन्तु भोगोंमें तुम्हारी विशेष रुचि क्यों नहीं है। क्या यहाँ के भोग तुम्हारे मनके अनुकूल नहीं हैं? फिर यह उदासीनता क्यों? ॥ ५१ ॥

अत्यन्त उत्तम भोगोंमें भी मुझे तुम अनासक्त-सी जान पड़ती हो। यदि तुम्हारा इधर झुकाव नहीं होगा तो मुझे तुम्हारे साथ विहार करनेसे सुख कैसे मिलेगा ॥ ५२ ॥

मेरी तो तुम्हारे प्रति आसक्ति रहती है, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि तुम्हारा मन मानो कहीं अन्यत्र लगा हुआ है। मैं बार-बार बोलता हूँ, पर तुम कुछ सुनती ही नहीं हो ॥ ५३ ॥

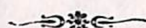
मैं बड़ी देरसे तुम्हारे पास आकर तुम्हें आलिंगन किये बैठा हूँ; और तुम 'नाथ, कब आये' ऐसा प्रश्न करती हो, मानो तुम्हें कुछ पता ही नहीं है ॥ ५४ ॥

तुम्हारे सामने बड़ी सुन्दर और दुर्लभ भोगसामग्रियाँ उपस्थित की जाती हैं, तथापि तुम्हारा मन उनकी ओर क्यों नहीं जाता, तुम क्यों उनमें अपनी रुचि प्रकट नहीं करती? ॥ ५५ ॥

जब मैं पास नहीं होता तो तुम नेत्र मूँदे बैठी रहती हो। यह बात मैं जब-जब तुम्हारे पास आता हूँ तब-तब ही देखता हूँ ॥ ५६ ॥

विमुख्यां त्वयि भोगेषु विषयेषु सुखं मम ।
कथं भवेद्दारुयोषासङ्गतस्येव तद्वद ॥ ५७ ॥
न तवाभिमतं त्यक्त्वा किञ्चिन्मम समीहितम् ।
सर्वथा त्वामनुगतो ज्योत्स्नां कुमुदवत् किल ॥ ५८ ॥
तदेवं ते कुतश्चित्तं ब्रूहि प्राणाधिकप्रिये ।
येन शुद्ध्येत् तु मच्चित्तं शापितासि मया प्रिये ॥ ५९ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे विचारमाहात्म्ये
तृतीयोऽध्यायः ॥

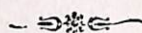


जब तुम इस प्रकार भोगोंसे विमुख रहोगी तो बताओ काठकी पुतलीके साथ रहनेवाले पुरुषके समान मुझे भी विषयोंसे क्या सुख मिलेगा ? ॥ ५७ ॥

जो तुम्हें अच्छा लगता है उसे छोड़कर तो मुझे कुछ भी करनेकी इच्छा नहीं होती । कुमुद जिस प्रकार चन्द्रिका का अनुसरण करता है उसी प्रकार मैं तो सब प्रकार तुम्हारा ही अनुगत हूँ ॥ ५८ ॥

तुम मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हो । बताओ तो तुम्हारा चित्त ऐसा विषयविमुख क्यों हो गया है । प्रिये ! तुम्हें मेरी सौगन्ध है । बोलो, जिससे मेरे मनका समाधान हो" ॥ ५९ ॥

तृतीय अध्याय समाप्त ।



चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

प्रियस्य कण्ठासक्तस्य निशम्यैवं वचो हि सा ।
ईषत्स्मितानना प्राह राजपुत्रमनिन्दिता ॥ १ ॥
बुबोधयिषती राजपुत्रं युक्त्याऽब्रवीदिदम् ।
राजपुत्र शृणु वचो नाहं त्वयि विरागिणी ॥ २ ॥
किं स्यात् प्रियतमं लोके किंनु स्यादप्रियन्त्विति ।
विचारयन्त्या नित्यं नान्तमेत्यत्र मे मतिः ॥ ३ ॥
ध्यायाम्येतच्चिरान्नित्यं स्त्रीस्वभाववशादहम् ।
नैतज्जानामि तत्त्वं मे वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ॥ ४ ॥
एवं प्रोक्तो हेमचूडः प्रहस्य प्राह तां प्रियाम् ।
नूनं स्त्रियो मूढधिय इति सत्यं न संशयः ॥ ५ ॥

चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

हेमचूड-प्रबोध

गलेसे लगे प्रियतमका ऐसा भाषण सुनकर वह निर्दोष बाला कुछ मुसकराहटके साथ राजकुमारसे कहने लगी ॥ १ ॥

वह राजपुत्रको तत्त्वका बोध कराना चाहती थी, इसलिये उसने इस प्रकार युक्तिपूर्वक बोलना आरम्भ किया, "राजकुमार ! सुनिये, मेरा आपके प्रति प्रेम न हो—ऐसी बात नहीं है ॥ २ ॥

किन्तु मैं हर समय इसी उधेड़-बुनमें रहती हूँ कि लोकमें सबसे बढ़कर प्रिय कौन वस्तु है और अप्रिय क्या है। मेरी बुद्धि इसका कोई निर्णय नहीं कर पाती है ॥ ३ ॥

मैं बहुत दिनोंसे बराबर यही सोच रही हूँ। किन्तु स्त्रीस्वभाव होनेके कारण इस रहस्यको मैं समझ नहीं सकी। आप इसका ठीक-ठीक विवेचन कर दीजिये" ॥ ४ ॥

हेमलेखाके इस प्रकार कहने पर हेमचूडने हँसकर अपनी प्रियासे कहा, "सचमुच इसमें सन्देह नहीं कि स्त्रियाँ मूढबुद्धि होती हैं ॥ ५ ॥

प्रियाप्रिये हि जानन्ति पशुपक्षिसरीसृपाः ।
यतस्तेषां दृश्यते हि प्रियेष्वप्रियकेषु च ॥ ६ ॥
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च किमत्र बहु चिन्तनम् ।
सुखं यस्मात् तत् प्रियं स्याद् दुःखं यस्मात्तदप्रियम् ॥ ७ ॥
किमत्र मुग्धभावेन नित्यं चिन्तयसि प्रिये ।
श्रुत्वा प्रियवचः प्राह हेमलेखा पुनः प्रियम् ॥ ८ ॥
सत्यं स्त्रियो मुग्धभावा नास्त्यासां सद्विमर्शनम् ।
तथाप्यहं बोधनीया त्वया सम्यग्विमर्शिना ॥ ९ ॥
सुबोधिता त्वया चाहं चिन्तामेतां विसृज्य तु ।
त्वया भोगेषु सततं भवाम्यनुदिनं ततः ॥ १० ॥
राजन् सुखञ्च दुःखञ्च याभ्यां भवति ते ननु ।
प्रियाप्रिये विनिर्दिष्टे त्वया सूक्ष्मविमर्शिना ॥ ११ ॥

प्रिय और अप्रियकी पहचान तो पशु, पक्षी और कीड़े-मकोड़ोंको भी होती है; क्यों कि उनकी भी अपने प्रियके प्रति प्रवृत्ति और अप्रियकी ओरसे निवृत्ति देखी जाती है। इसमें बहुत सोचनेकी क्या बात है ? जिससे सुखहो वह प्रिय और जिससे दुःख हो वह अप्रिय होता है ॥ ६–७ ॥

प्रिये ! तुम बड़ी भोली हो, भला, इस विषयमें तुम निरन्तर क्या सोचती रहती हो ?" प्रियतमकी यह बात सुनकर हेमलेखाने उससे फिर कहा— ॥ ८ ॥

"स्त्रियाँ मूढ होती हैं—यह तो ठीक ही है, इनमें वास्तविक वस्तुका विचार करनेकी योग्यता नहीं होती। परन्तु आप तो बड़े विचारवान् हैं, अतः मुझे समझा दीजिये ॥ ९ ॥

आपके समझा देने पर मैं इस चिन्ताको छोड़कर फिर सर्वदा आपके साथ भोगोंमें ही तत्पर रहूँगी ॥ १० ॥

राजन् ! आप बड़े सूक्ष्मदर्शी हैं। आपने बताया कि जिनसे सुख और दुःख हो वे ही क्रमशः प्रिय और अप्रिय हैं ॥ ११ ॥

एकमेव सुखं दुःखं कालदेशाकृतेर्भिदा।
जनयेदत्र तत् कस्मात् प्रतिष्ठाध्यवसायिनी ॥ १२ ॥
यतो वह्निः कालभेदात् पृथगेव फलप्रदः।
तथा देशविभेदेनाप्याकारस्य विभेदतः ॥ १३ ॥
शीतकाले प्रियो वह्निरुष्णे त्वप्रिय एव हि।
हिमोष्णदेशभेदेन प्रियश्चाप्रिय एव च ॥ १४ ॥
शीतप्रकृतिजीवानां प्रियोऽन्येषां तथेतरः।
अथाप्यधिकभावेनाल्पभावेनैवमीरितः ॥ १५ ॥
एवं शीतं धनं दाराः पुत्रा राज्यं तथेतरत्।
अथाप्येवं महाराजो दारपुत्रधनैर्वृतः ॥ १६ ॥
शोचत्यनुदिनं कस्मान्न शोचन्तीतरे कुतः।
योऽयं भोगः सुखार्थोऽस्ति सोऽप्यनन्तो भवेन्न तु ॥ १७ ॥

किन्तु जब एक ही वस्तु काल, देश और आकृतिका भेद होनेपर सुख-दुःख दोनोंही देती हो तो उसकी एकरूपताका निश्चय कैसे हो सकता है? ॥ १२ ॥

जिस प्रकार अग्नि कालभेदसे अलग-अलग फल देनेवाली है उसी प्रकार देश और आकृतिके भेदसे भी उसके विभिन्न फल होते हैं ॥ १३॥

अग्नि शीतकालमें तो प्रिय होती है किन्तु ग्रीष्ममें अप्रिय ही है। इसी तरह शीत और उष्ण देशोंके भेदसे भी वह प्रिय और अप्रिय ही है ॥ १४ ॥

वह ठंडी प्रकृतिवाले जीवोंको प्रिय है और दूसरे प्रकारकी प्रकृतिवालोंको अन्य प्रकारकी है। इसी प्रकार अधिक या अल्प परिमाणमें होने पर भी ऐसाही कहा जा सकता है ॥ १५ ॥

यही बात शीत, धन, स्त्री, पुत्र, राज्य तथा अन्य विषयोंके सम्बन्धमें भी है। आप महाराज मुक्ताचूडको ही लीजिये। वे स्त्री, पुत्र, धन सभीसे सम्पन्न हैं ॥ १६ ॥

फिर भी नित्य क्यों चिन्तातुर रहते हैं तथा दूसरे लोग [जिनके पास इतनी भोगसामग्री नहीं है] क्यों चिन्ता नहीं करते। और यह जो सुख देनेवाले भोग हैं वे भी अनन्त तो किसीके पास हो नहीं सकते ॥ १७ ॥

न केनचित्तदखिलं प्राप्तं यस्मात् सुखं भवेत् ।
यत्किञ्चिल्लाभतो यस्मात् सुखं तत्रापि संश्रृणु ॥ १८ ॥
न तत् सुखं भवेन्नाथ यतो दुःखविमिश्रितम् ।
दुःखन्तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमान्तरमित्यपि ॥ १९ ॥
बाह्यं शरीरसम्भूतं धातुदोषादिसम्भवम् ।
आन्तरं मानसं प्रोक्तं तच्च वाञ्छासमुद्भवम् ॥ २० ॥
महत्तरं मानसं स्याद्येन ग्रस्तमिदं जगत् ।
वाञ्छैव दुःखविटपिबीजं सुदृढशक्तिकम् ॥ २१ ॥
यया किङ्करतां प्राप्ताः कुर्वन्त्येव दिवानिशम् ।
इन्द्रादयोऽपि विबुधाः स्वर्निवासाः सदोदिताः ॥ २२ ॥
सुखं वाञ्छावशेषेऽपि यदस्ति नृपसम्भव ।
तद्दुःखमेव जानीहि यत् कृमिष्वपि सम्भवेत् ॥ २३ ॥

वे पूरे तो किसीको भी प्राप्त नहीं हुए, जिससे कि उसे सुख मिल जाता । [यदि आप कहें कि] थोड़े मिलनेसे भी सुखतो होता ही है, तो इसपर आप मेरी बात सुनिये ॥ १८ ॥

हे नाथ ! वह तो सुख है ही नहीं, क्योंकि उसमें दुःख मिला हुआ है । दुःख दो प्रकारका कहा गया है—बाह्य और आन्तर ॥ १९ ॥

धातुओंके दोषादिसे होनेवाला शरीरजनित दुःख बाह्य होता है और मानस दुःख आन्तर कहलाता है । वह कामनाओंके कारण हुआ करता है ॥ २० ॥

इनमें मानस दुःख अधिक बड़ा है, जिसने कि इस सारे जगत्को ग्रस रखा है । दुःखरूपी वृक्षका बड़ा शक्तिशाली बीज कामना ही तो है ॥ २१ ॥

इस कामनाकी दासता स्वीकार करनेसे ही स्वर्गमें रहनेवाले बड़े वैभवशाली इन्द्रादि देवताभी रात-दिन कर्म करनेमें ही लगे रहते हैं ॥ २२ ॥

राजकुमार ! कामनाके रहते हुए भी जो सुख होता है उसे तो आप दुःख ही समझें । वह सुख तो कीड़े-मकोड़ोंमें भी संभव हो सकता है ॥ २३ ॥

वरं तिर्यक्कीटकृमिप्रभृतीनां सुखन्तु यत्।
स्वल्पवाञ्छासम्मिलितं नृणां किं स्यात् सुखं वद॥ २४॥
वाञ्छाशतसमाविष्टो यदि किञ्चिदुपेत्य तु।
सुखी भवेदिह तदा को हि न स्यात् सुखी वद॥ २५॥
अखिलाङ्गे वह्निदग्धे सूक्ष्मपाटीरबिन्दुना।
यदि शीतलदेहः स्यात्तदा सोऽपि सुखी भवेत्॥ २६॥
प्रियायाः सम्परिष्वङ्गात् सुखं प्राप्नोति वै नरः।
तत्रैवाङ्गस्य विषमबन्धाद् दुःखं भवेन्ननु॥ २७॥
रत्यावेशात् परिश्रान्तिः सर्वेषां जायते किल।
अनन्तरं भारवाहपशोरिव परिश्रमः॥ २८॥
कथं पश्यसि तत् सौख्यं नाथैतन्मे समुच्यताम्।
यावत् सुखं प्रियासङ्गे नाडीसंघट्टसम्भवम्॥ २९॥
तदास्ति तावन्न किमु शुनामस्तीह तद्वद।

कीड़े, मकोड़े और तिर्यक योनिके प्राणियोंका सुख तो थोड़ी ही कामनाओंसे युक्त होता है, इसलिये वह तो अच्छा है। परन्तु बताइये, मनुष्यको क्या सुख हो सकता है, क्योंकि उसके सुखके साथ तो सैंकडों इच्छाएँ लगी हुई हैं। यदि उनमेंसे कुछकी पूर्त्ति होनेसे ही वह सुखी हो सकता है तब तो बताओ, ऐसा कौन है जो सुखी न हो॥२४–२५॥

जिसका सारा शरीर अग्निसे जल रहा हो उसे यदि छोटी-सी चन्दनकी बूँदसे शारीरिक शीतलताकी उपलब्धि हो सके तो वह (कामनाकुल) पुरुषभी सुखी हो सकता है॥ २६॥

कहते हैं कि प्रियतमाके आलिंगनसे पुरुषको सुख मिलता है। परन्तु वहाँ भी शरीरके कसे जानेसे तो दुःख भी रहता ही है॥ २७॥

कामक्रीडाके आवेशसे भी सबको थकान होती ही है। उसके अन्तमें उसे भारवाही पशुके समान श्रम जान पड़ता है॥ २८॥

नाथ! मुझे बतलाइये तो, आपको उसमें सुख कैसे दिखायी देता है। नाड़ियोंके घर्षणसे जितना सुख किसीको अपनी प्रियतमाके सहवाससे मिलता है, बतलाइये, उतना ही क्या कुत्तेको कुत्तीके सहवाससे नहीं मिलता?॥ २९–३० पू०॥

यत्ततो ह्यतिरिक्तं ते दृष्टसौन्दर्यसम्भवम् ॥ ३० ॥
तत् केवलाभिमानोत्थं स्वाप्नस्त्रीसङ्गमे यथा ।
पुरा कश्चिद्राजसुतो मन्मथाधिकसुन्दरः ॥ ३१ ॥
काञ्चित् सुरूपिणीं प्राप्तः स्त्रियं सर्वमनोहराम् ।
अत्यन्तमनुरक्तः स तस्यां राजकुमारकः ॥ ३२ ॥
सा त्वन्यस्मिन् राजसुत भृत्ये संसक्तमानसा ।
स भृत्यो राजपुत्रं तं वञ्चयामास युक्तितः ॥ ३३ ॥
मदिरां मोहनार्थाय तस्मै दत्त्वातिमात्रकम् ।
ततो मदान्धाय चेटीं काञ्चित् प्रेष्य कुरूपिणीम् ॥ ३४ ॥
बुभुजे तां तस्य पत्नीं सर्वलोकैकसुन्दरीम् ।
एवमेव चिरं तत्र मदान्धो नृपतेः सुतः ॥ ३५ ॥
प्रत्यहं चेटिकां गच्छन् स्वात्मानं सममंसत ।
धन्योऽहमीदृशीं लोकसुन्दरीं प्राणप्रेयसीम् ॥ ३६ ॥
उपगच्छाम्यहं नित्यं न मेऽस्ति सदृशः क्वचित् ।

यदि कहो कि प्रियतमाका सौन्दर्य देखनेसे उसकी अपेक्षा अधिक सुख होता है तो वह स्वप्नके स्त्रीसमागमके समान केवल माना हुआ ही है ॥ ३० उ०–३१ पू० ॥

प्राचीन समयकी बात है कोई राजकुमार कामदेवसे भी अधिक सुन्दर था। उसे स्त्री भी अत्यन्त रूपवती और सब प्रकार मनको हरनेवाली प्राप्त हुई थी। तथा उसका उसमें अनुराग भी बहुत था ॥ ३१ उ०–३२ ॥

किन्तु उस स्त्रीका चित्त राजकुमारके एक सेवकमें लगा हुआ था। वह सेवक राजकुमारको एक युक्तिद्वारा धोखा दिया करता था ॥ ३३ ॥

उसे मदोन्मत्त करनेके लिये वह बहुत-सी मदिरा पिला देता। और जब वह नशेमें चूर हो जाता तो उसके पास एक कुरूपा दासीको भेज देता तथा स्वयं उसकी सम्पूर्ण लोकोंमें एकमात्र सुन्दरी स्त्रीके साथ सम्भोग करता ॥ ३४–३५ पू० ॥

इसी प्रकार वह मदोन्मत्त राजकुमार बहुत समयतक नित्यप्रति उस दासीके साथ सहवास करते हुए यही समझता रहा कि मैं नित्य

एवं वृत्ते चिरे काले कदाचिद्दैवयोगतः ॥ ३७ ॥
भृत्यो निधाय पानं स कार्ये चात्यन्तिके ययौ ।
अथ राजकुमारस्तत् पानं नात्यन्तिकं पपौ ॥ ३८ ॥
निमित्ततो ययौ शीघ्रं रत्युत्सुकितमानसः ।
शयनीयं मनः कान्तं सर्वभोगर्द्धिसंयुतम् ॥ ३९ ॥
शचीगृहं देवपतिरिव नन्दनसंस्थितम् ।
पराद्ध्यर्पर्यङ्कगतां तां चेटीमुपसङ्गतः ॥ ४० ॥
कामवेगेन विवशो बुभुजेऽत्यन्तहर्षतः ।
उपलभ्याथ रत्यन्ते चेटीं तां विकृताकृतिम् ॥ ४१ ॥
शङ्कितोऽमर्षितश्चापि किमेतदिति चिन्तयन् ।
क्व सा मम प्रियतमेत्येवं तामन्वपृच्छत ॥ ४२ ॥
पृष्टैवं तेन सा चेटी विमदन्तं निशम्य तु ।
भीता न किञ्चित्तं प्राह वेपमाना तदा ततः ॥ ४३ ॥

ऐसी त्रिलोकसुन्दरी प्राणप्रियाका उपभोग करता हूँ, इसलिये धन्य हूँ। मेरे समान कहीं कोई नहीं है ॥ ३५ उ०–३७ पू० ॥

बहुत दिनों तक ऐसा ही होता रहा। तब किसी दिन कोई विशेष कार्य होनेके कारण वह सेवक मदिरा रखकर चला गया। तथा राजकुमार ने भी उस दिन किसी निमित्तसे अधिक मद्य नहीं पी तथा भोग-वासना से आतुर हो शीघ्र ही वह अपने विलासभवनमें गया ॥ ३७ उ० ३६ पू० ॥

वह भवन बड़ा ही सुन्दर, मनको प्रिय लगनेवाला, सम्पूर्ण भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न था। देवराज इन्द्र जिस प्रकार नन्दनवनमें स्थित शचीके भवनमें जाते हैं उसी प्रकार वह उस भवनमें गया और वहाँ बहु-मूल्य पलंगपर पौढ़ी हुई दासीके साथ समागम करने लगा ॥३६ उ०–४०॥

कामवेगसे व्यथित होनेके कारण वह बड़े हर्षसे उसके साथ सम्भोग करता रहा। सम्भोगके अन्तमें उस कुरूपा दासीको देखकर उसे शंका हुई और कुछ रोषके साथ यह सोचते हुए कि यह सब क्या हो रहा है उसने उससे पूछा, "मेरी वह प्रियतमा कहाँ है ?" ॥ ४१–४२ ॥

उसके इस प्रकार प्रश्न करने पर जब दासीने देखा कि आज तो राजकुमार सचेत है तो वह डरकर काँपने लगी और चुप हो गई ॥ ४३ ॥

आलक्ष्य राजपुत्रोऽपि वैषम्यं चात्मवञ्चनम् ।
वामेन जग्राह कचे चेटीं क्रोधारुणेक्षणः ॥ ४४ ॥
कृपाणमाददे दक्षहस्तेन नृपसम्भवः ।
तर्जयंस्तां प्रत्युवाच वद वृत्तं यथातथम् ॥ ४५ ॥
नो चेन्न स्याज्जीवितं ते क्षणमात्रमपि द्रुतम् ।
सैवं निशम्य तद्वाक्यं भीता प्राणपरीप्सया ॥ ४६ ॥
जगौ यथावत्तत् सर्वं चिराद् वृत्तं समास्थितम् ।
प्रादर्शयच्चापि तस्मै तां भृत्येन सुसङ्गताम् ॥ ४७ ॥
क्वचिद्भूमौ कटे भृत्यं कृष्णं पिङ्गललोचनम् ।
प्रांशुं मलिनसर्वाङ्गं रूक्षवक्त्रं जुगुप्सितम् ॥ ४८ ॥
समाश्लिष्य रतिश्रान्तां सर्वाङ्गैः प्रेमभावतः ।
मृदुबाहुलतावृत्तग्रीवस्य वदने स्वकम् ॥ ४९ ॥
निवेश्य वक्त्रकमलं पद्भ्यामाश्लिष्य गाढतः ।
तस्योरुयुग्मं तद्धस्तसंसक्तगुरुसुस्तनीम् ॥ ५० ॥

राजकुमारने जब ऐसा विपरीत व्यवहार और अपनेको वञ्चित होते देखा तो क्रोधसे उसकी आँखें लाल हो गयीं। उसने अपने बायें हाथसे दासी की चोटी पकड़ ली ॥ ४४ ॥

और दायें हाथमें तलवार ले ली। फिर उसे डपटते हुए पूछा, "ठीक-ठीक बात बता, नहीं तो अब एक क्षण भी तेरा जीवन नहीं रह सकता ॥ ४५–४६ पू० ॥

राजकुमारके ये वचन सुनकर वह डर गयी और अपने प्राण बचानेके लिये बहुत दिनोंसे जो कुछ हो रहा था वह सब बता दिया। तथा सेवकके साथ समागम करती उसकी पत्नी भी दिखा दी ॥ ४६ उ०–४७ ॥

राजकुमारने देखा कि उसकी स्त्री भूमि पर बिछी एक चटाईपर उस सेवकको अपने सब अंगोंसे आलिंगित किये पड़ी है, जिसका काला रंग है, लाल आँखें हैं, लंबा शरीर है, सब अंग मलिन हैं, रूखा चेहरा है और जो अत्यन्त घृणित है। रतिके श्रमसे वह कुछ श्रान्त है, अपनी कोमल बाहुलताओंको उसके गलेमें डालकर उसने अपने

वासन्तिकामिव लतां वृतां कुसुमकोरकैः ।
रोहिणीं राहुणोपेतामिवापश्यन्नृपात्मजः ॥ ५१ ॥
एवंविधां समालोक्य निद्रयापगतस्मृतिम् ।
मोमुह्यमानश्चात्यन्तं क्षणं पश्चाद्धृतिं भजन् ॥ ५२ ॥
यत् प्राह राजतनयस्तन्मत्तः श्रूयतां ननु ।
धिङ्मामनार्यमत्यन्तं मूढं मदविमोहितम् ॥ ५३ ॥
धिग्ये स्त्रीष्वभिसंप्रीता धिक् तांश्च पुरुषाधमान् ।
न कामिन्यः कस्यचित् स्युर्वृक्षस्येव च शारिकाः ॥ ५४ ॥
किमहं मां प्रवक्ष्यामि मुग्धं महिषपोतवत् ।
जानन्तमेनां प्राणेभ्यः प्रेष्ठां सुचिरकालतः ॥ ५५ ॥
न स्त्रियः कस्यचिद्वा स्युर्वेश्या इव विटस्य हि ।
यः स्त्रीषु विश्रब्धमनाः स एव वनगर्दभः ॥ ५६ ॥

मुखकमलको उसके मुँहसे सटा रखा है, चरणोंसे उसकी दोनों टाँगोंको कसा हुआ है तथा उसके पीन पयोधर उसके हाथों से कसे हुए हैं। [उस समय वह ऐसी जान पड़ती थी] मानों कुसुम-कलिकाओंसे घिरी हुई वासन्तिका लता हो, अथवा राहुसे मिली हुई रोहिणी हो ॥ ४८–५१ ॥

निद्रासे अचेत अपनी पत्नीको ऐसी स्थितिमें देखकर राजकुमार कुछ देरके लिये अपनेको बिलकुल भूल गया, फिर धैर्य धारणकर उसने जो कुछ कहा वह मुझसे सुनिये—॥ ५२–५३ पू० ॥

मदिराके नशेमें चूर मुझ अनार्य महामूढको धिक्कार है। इन स्त्रियोंमें जिनकी अत्यन्त आसक्ति है उन नीच मनुष्योंको भी धिक्कार है। [जहाँ-तहाँ चारा चुगनेवाली] सारिकाएँ (मैनाएँ) जैसे किसी एक वृक्षकी नहीं हो सकतीं उसी प्रकार ये नारियाँ किसीकी भी नहीं होतीं ॥ ५३ उ०–५४ ॥

मैं अपनेको ही क्या कहूँ ? मैं तो इसमें भैंसके बच्चेके समान मोहग्रस्त रहा, चिरकालसे इसे अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय समझता रहा ॥ ५५ ॥

वेश्या जैसे अपने प्रेमीकी नहीं होती इसी प्रकार स्त्रियाँ किसीकी भी नहीं होतीं। जिसका स्त्रियोंमें विश्वास है वह तो जंगली गधा ही है॥५६॥

या स्थितिः शारदाभ्रस्य क्षणिका ह्यनवस्थिता ।
ततोऽपि पेलवा स्त्रीणां स्थितिरत्यन्तचञ्चला ॥ ५७ ॥
नाहमद्यावधि ह्येवं स्त्रीस्वभावमहोऽविदम् ।
यन्मां सर्वात्मनासक्तं त्यक्त्वा भृत्यमनुव्रता ॥ ५८ ॥
अन्यासक्ता गूढभावा मयि छद्मानुरागिणी ।
प्रदर्शयन्ती भक्तिं स्वां नटीव विटमण्डले ॥ ५९ ॥
नाविदं लेशतोऽप्येनां मदिरामत्तमानसः ।
छायेव मां सङ्गतेति मत्वा विश्रब्धमानसः ॥ ६० ॥
अप्रेक्षणीयां चेटीं तां वञ्चितश्चिरसङ्गतः ।
नूनं मत्तो मूढतमः को भवेज्जगतीतले ॥ ६१ ॥
य एवं विस्रम्भपूर्वमनया चिरवञ्चितः ।
अहोऽयं भृत्यहतकः सर्वाङ्गविकृताकृतिः ॥ ६२ ॥

शरत्कालीन मेघकी स्थिति जो क्षणिक और अस्थायी होती है इन स्त्रियोंकी स्थिति तो उससे भी अधिक अस्थायी और चंचल समझनी चाहिये ॥ ५७ ॥

अहो ! आजतक भी मैंने इन स्त्रियोंके स्वभावको नहीं समझा । मैं सब प्रकार इसमें आसक्त था, फिर भी इसने मुझे छोड़कर इस सेवकका पल्ला पकड़ा ॥ ५८ ॥

यह दूसरेमें आसक्त थी, परन्तु इस भावको इसने खूब छिपाया । नटी जैसे नटोंके बीच अपना अत्यन्त भक्तिभाव प्रदर्शित करती है उसी प्रकार यह भी कपटपूर्वक मुझसे प्रेम दिखाती रही ॥ ५९ ॥

मेरा मन मदिरापानसे ऐसा उन्मत्तहो गया कि मैं इसे लेशमात्र भी न पहचान सका । मेरे मनमें सदा यही विश्वास रहा कि यह तो छायाके समान मेरी नित्यसंगिनी है ॥ ६० ॥

इनसे ठगा जाकर मैं चिरकालसे उस दासीके साथ ही समागम करता रहा, जिसकी ओर देखनेसे भी दुःख होता है । सचमुच मुझसे बढ़कर मूढ इस पृथ्वीतलमें और कौन हो सकता है, जिसे यह विश्वास दिलाकर चिरकालसे इस प्रकार ठगती रही ॥ ६१–६२ पू० ॥

वाहरे ! यह निन्दनीय सेवक ! इसके तो सभी अंग भोंड़ी आकृति-

किमस्मिन्ननया दृष्टं सौन्दर्यं सर्वतोऽधिकम् ।
यतो मां निजसौन्दर्याहृतलोकावलोकनम् ॥ ६३ ॥
अनुरक्तं सर्वथैव त्यक्त्वैनमुपसङ्गता ।
एवं प्रलप्य बहुधा निर्विण्णोऽतितरां तदा ॥ ६४ ॥
राजपुत्रो वनं प्रागात् सर्वसङ्गविवर्जितः ।
तस्माद्राजकुमारैतत् सौन्दर्यं मनसोत्थितम् ॥६५ ॥
यथा त्वं मपि चात्यन्तसौभगेक्षणपूर्वकम् ।
रतिं विन्दस्यतितरां तथा वा तद्विशेषतः ॥ ६६ ॥
विन्दन्ति रतिमत्यन्तं योषित्सु विकृतास्वपि ।
अत्र ते प्रत्ययं वक्ष्ये शृणु प्रिय समाहितः ॥ ६७ ॥
विलोक्यते या हि योषित् सा बहिःसुव्यवस्थिता ।
या च तत्प्रतिबिम्बात्मरूपिणी चित्तसंश्रया ॥ ६८ ॥
सङ्कल्परूपिणी तस्याः सौष्ठवं मनसोल्लिखन् ।
पौनःपुन्येन तदनु वाञ्छामुपसमागतः ॥ ६९ ॥

वाले हैं। इसमें इसे ऐसा सबसे बड़ा क्या सौन्दर्य 'दिखायी दिया जो मुझे छोड़कर इसका सहवास स्वीकार कर बैठी! मेरी सुन्दरताने तो सभी लोगोंकी आँखोंको आकर्षित कर रखा है और इसके प्रति मेरा अनुराग भी पूरा था॥ ६२ उ०–६४ पू०॥

इस प्रकार बहुत कुछ कहकर वह राजपुत्र अत्यन्त विरक्त हो गया और सबकी आसक्ति छोड़कर वनको चला गया॥ ६४ उ० –६५ पू०॥

अतः राजकुमार! यह सुन्दरता तो अपने मनकी ही उपज है। जिस प्रकार अत्यन्त सुन्दरता देखकर आपको मुझसे रतिजनित सुख मिलता है उससे भी अधिक सुख कुरूपा नारियोंसे भी प्राप्त हो जाता है। प्रियवर! इस विषयको मैं निश्चयात्मक रूपसे समझाती हूँ, आप सावधान होकर सुनें॥ ६५ उ०–६७॥

जो स्त्री दिखायी देती है वह तो बाहर रहती है किन्तु चित्त में संकल्परूपसे रहनेवाली उसकी जो प्रतिबिम्बरूपिणी आकृति है, मनसे उसमें सुन्दरताकी कल्पना हो जाती है। उसकी पुनः पुनः [स्मृति

क्षुब्धेन्द्रियो नरस्तस्यां रतिमाप्नोति सर्वतः ।
अक्षुब्धे त्विन्द्रिये न स्यात् सुन्दर्यामपि वै रतिः ॥ ७० ॥
तत्र मूलं समुल्लेखः सौष्ठवस्य पुनः पुनः ।
अतः क्षोभो नैव दृष्टो बालानां योगिनामपि ॥ ७१ ॥
तथा च यो यो यस्यान्तु रतिं विन्दति मानवः ।
सुन्दर्यां वापि चान्यस्यां तत्र सौष्ठवमुल्लिखेत् ॥ ७२ ॥
दृश्यन्ते योषितोऽन्यन्तबीभत्साकारविग्रहाः ।
तरुणैः सङ्गतास्ताश्च दृश्यन्तेऽपत्यहेतुतः ॥ ७३ ॥
विरूपतोल्लेखनं वाप्यनुल्लेखस्तु सौष्ठवे ।
यदि स्यात्तत् कथं नृणां रतिस्तासु हि सम्भवेत् ॥ ७४ ॥
किं वक्तव्यमहो नृणां कामिनां क्षिप्तचेतसाम् ।
जघन्याङ्गेऽपि सौन्दर्यं भासते सर्वतोऽधिकम् ॥ ७५ ॥

होने से] मनमें भोगनेकी इच्छा होती है । उसके कारण अन्य इच्छाएँ दब जाती हैं तथा उपस्थेन्द्रियमें क्षोभ होनेसे उसीमें पुरुष रतिसुख अनुभव करने लगता है । यदि इन्द्रियमें क्षोभ न हो तो सुन्दरी स्त्रीमें भी पुरुषको रतिसुख नहीं मिल सकता ॥ ६८-७० ॥

उस क्षोभमें हेतु है मनमें पुनः सुन्दरताका स्फुरण होना । इसीसे बालकों और योगियोंमें क्षोभ होता नहीं देखा जाता ॥ ७१ ॥

इससे निश्चय हुआ कि सुन्दरी अथवा असुन्दरी जिस स्त्रीमें जिस पुरुषको रतिसुख की अनुभूति होती है उसीमें उसे सुन्दरताकी कल्पना हो जाती है ॥ ७२ ॥

ऐसी स्त्रियाँ भी देखी ही जाती हैं जिनके आकार और शरीर अत्यन्त बीभत्स होते हैं । किन्तु उनके सन्तान होती दिखायी देती है, इससे निश्चय होता है कि उनका भी युवकोंसे समागम हुआ है ॥७३॥

यदि उनमें कुरूपताकी कल्पना रहती अथवा चित्तपर उनका सौन्दर्य अङ्कित ही न होता तो उनमें पुरुषोंको रतिसुख कैसे मिल सकता था ॥ ७४ ॥

इन कामातुर और विक्षिप्तचित्त पुरुषोंके विषयमें क्या कहा जाय, जिन्हें स्त्रीके अत्यन्त घृणित अंगमें भी सबसे अधिक सुन्दरता की प्रतीति होती है ॥ ७५ ॥

मलमूत्रपरिक्लिन्नं यदङ्गं तत्र सौभगम् ।
पश्येच्चेत् कुत्र नो पश्येत् सौन्दर्यं तन्ममेरय ॥ ७६ ॥
तस्मात् सौन्दर्यमेतद्वै राजपुत्र निशामय ।
अभिमानमृते नैष सुखहेतुर्भवेत् क्वचित् ॥ ७७ ॥
क्षौद्रमाधुर्यवद्देहे सौन्दर्यं सहजं यदि ।
तद्बालानां कुमाराणां कुतो नो भाति तद्वद ॥ ७८ ॥
देशभेदेषु दृश्यन्ते विविधाकृतयो नराः ।
एकपादैकनयना लम्बकर्णा हयाननाः ॥ ७९ ॥
कर्णप्रावरणाः फालवक्त्रा निर्गतदंष्ट्रकाः ।
विनसा दीर्घनासाश्च लोमच्छन्ना विलोमकाः ॥ ८० ॥
पिङ्गकेशाः श्वेतकेशा विकेशाः स्थूलकेशकाः ।
चित्रवर्णाः काकवर्णाः पिङ्गला लोहिताङ्गकाः ॥ ८१ ॥

मुझे बताइये तो, जो मूर्ख मल-मूत्रसे भरे अंगमें भी सुन्दरता देख लेता है उसे कहाँ सौन्दर्यका भान नहीं हो सकता ॥ ७६ ॥

अतः राजपुत्र ! खूब ध्यान रखें, यह सुन्दरता बिना मानसिक कल्पनाके कहीं भी सुखकी हेतु नहीं हो सकती ॥ ७७ ॥

यदि मधुके माधुर्यकी तरह सुन्दरताको भी शरीरका स्वभाव माना जाय तो बताइये, छोटे बच्चोंको उसकी प्रतीति क्यों नहीं होती ॥ ७८ ॥

देशभेदसे अनेकों आकृतियोंके पुरुष देखे जाते हैं। कोई एक पैरवाले, कोई एक आँखवाले, कोई लंबे कानोंवाले और कोई घोड़ेके-से मुँहवाले होते हैं ॥ ७९ ॥

किन्हींके कान फैले हुए होते हैं, किन्हींका मुँह हलकी तरह होता है, उनकी दाढ़ें बाहर निकली होती हैं। किन्हींके नाक होती ही नहीं और कोई लंबी नाकवाले होते हैं। कोई लोमोंसे ढके होते हैं और किन्हींके लोम बिलकुल नहीं होते ॥ ८० ॥

किन्हींके केश पीले होते हैं, कोई श्वेत केशवाले होते हैं तथा कोई केशहीन और कोई सघन केशोंवाले देखे जाते हैं। कोई (श्वेत कुष्ठके कारण) चितकबरे, कोई कौएके समान काले, कोई पीले और कोई लाल शरीरवाले होते हैं ॥ ८१ ॥

एवं बहुविधा मर्त्याः सजातिवनितासु ते ।
रतिं विन्दन्ति त्वमिव राजपुत्र निशामय ॥ ८२ ॥
सुखसाधनभूतेषु मुख्यं यत् स्त्रीवपुःस्थितम् ।
सर्वप्रियं यत्र सर्वे मुह्यन्ति विबुधा अपि ॥ ८३ ॥
पुंसां वपुस्तथा स्त्रीणां प्रियमत्यन्तसुन्दरम् ।
विमर्शय सुबुद्ध्या त्वं राजपुत्र यथास्थितम् ॥ ८४ ॥
मांसलिप्तमसृक्क्लिन्नं शिराबद्धं त्वगाततम् ।
अस्थिपञ्जरकं लोमच्छन्नं पित्तकफाहितम् ॥ ८५ ॥
मलमूत्रकुसूलं तच्छुक्रशोणितसम्भवम् ।
मूत्रद्वारसमुद्भूतमहो प्रियमिहेष्यते ॥ ८६ ॥
य एवमतिबीभत्से वितन्वन्ति रतिं नराः ।
विट्क्रिमिभ्यः कुतस्तेषां भवेदन्तरमीरय ॥ ८७ ॥

ऐसे ही अनेकों प्रकारके पुरुष हैं। राजपुत्र ! निश्चय मानिये, वे सभी अपनी सजातीय स्त्रियोंमें आपहीकी तरह रतिसुख अनुभव करते हैं ॥ ८२ ॥

सुखके साधनोंमें जो स्त्रीशरीर सबसे प्रधान समझा जाता है, जो सभीको प्रिय है और जिसमें सम्पूर्ण देवताओंको भी मोह हो जाता है, इसी प्रकार स्त्रियोंके लिये जो पुरुषोंका शरीर अत्यन्त प्रिय और सुन्दर भासता है, हे राजपुत्र ! आप अपनी सुबुद्धिसे तनिक विचार तो करें कि वह वास्तवमें कैसा है ॥ ८३–८४ ॥

वह मांससे लिपटा है, लोहूसे लथपथ है, नस-नाड़ियोंसे बँधा हुआ है, खालसे ढका हुआ है, हड्डियोंका ढाँचा है, बालोंसे आच्छन्न है और पित्त एवं कफसे भरा हुआ है ॥ ८५ ॥

[यही नहीं,] वह मल-मूत्रका भण्डार है तथा वीर्य एवं रजसे उत्पन्न हुआ है। हाय ! मूत्रद्वारसे निकले हुए इस घृणित शरीरको ही लोग प्रिय मान बैठते हैं ! ॥ ८६ ॥

बताइये, जो लोग ऐसे बीभत्स शरीरमें राग करते हैं, उनका विष्ठाके कीड़ोंसे क्या अन्तर हो सकता है ॥ ८७ ॥

राजपुत्र तनुरियं प्रिया हि नितरां तव ।
विभावय विवेकेन धातूनाञ्च पृथक्स्थितिम् ॥ ८८ ॥
एवमन्यत्रोपयोज्ये मधुराम्लादिषड्रसे ।
परिणामस्वभावन्तु सूक्ष्मदृष्ट्या विभावय ॥ ८९ ॥
भक्षितस्यापि सर्वस्य विड्भावः परिणामके ।
सर्वथा नात्र सन्देहः सर्वैरेव विभावितः ॥ ९० ॥
वदैवं संस्थिते लोके किं प्रियं स्यात् किमप्रियम् ।
इत्युक्तो हेमचूडोऽथ वैरस्यं विषये विदन् ॥ ९१ ॥
श्रुत्वाऽपूर्वं वाक्यजालं विस्मितोऽभवदञ्जसा ।
विचार्य भूयस्तत् सर्वं यदुक्तं हेमलेखया ॥ ९२ ॥
भोगेषु जातनिर्वेदः परं वैराग्यमाप्तवान् ।
अथ क्रमेण पृष्ट्वा तां प्रियां ज्ञात्वा च तत्पदम् ॥ ९३ ॥

राजकुमार ! आपको जो यह शरीर अत्यन्त प्रिय जान पड़ता है, तनिक विवेकद्वारा इसके रक्त-मज्जा आदि धातुओंकी पृथक्-पृथक् स्थितिका तो विचार कीजिये ॥ ८८ ॥

यही बात अन्य भोज्य पदार्थोंके विषयमें भी है । उन मीठे-खट्टे आदि षड्रस पदार्थोंके परिणाम और स्वभावका भी आप सूक्ष्म बुद्धि-से विचार करें ॥ ८९ ॥

जो कुछ खाया जाता है उस सबका परिणाममें विष्ठा ही बनता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है, सभी जानते हैं। संसारकी ऐसी स्थिति देखते हुए बताइये, इसमें क्या प्रिय है और क्या अप्रिय है ?" ॥ ९०–९१ पू० ॥

हेमलेखाका यह भाषण सुनकर हेमचूडको विषयोंमें वैराग्य हो गया। उसका यह अपूर्व वाक्य-विन्यास सुनकर उसे स्वभावसे ही बड़ा विस्मय हुआ ॥ ९१ उ०–९२ पू० ॥

फिर हेमलेखाने जो कुछ कहा था उसपर स्वयं विचार किया। इससे भोगोंमें अरुचि हो जानेके कारण उसे परम वैराग्य हो गया ॥ ९२ उ०–९३ पू० ॥

तब क्रमशः उसने उस प्रियतमासे अनेकों प्रश्न करके उस परम

केवलां चितिमात्मस्थां त्रिपुरामात्मरूपिणीम् ।
बुद्ध्वाऽभवद्विमुक्तात्मा स्वात्मभूताखिलेक्षणः ॥ ९४ ॥
जीवन्मुक्तः समभवत् ततस्तस्यानुजोऽपि हि ।
मणिचूडोऽविदद्भ्रातुर्मुक्ताचूडोऽपि पुत्रतः ॥ ९५ ॥
मुक्ताचूडप्रिया चापि स्नुषया ज्ञानमासदत् ।
मन्त्रिणश्चापि पौराश्च बभूवुर्ज्ञानशालिनः ॥ ९६ ॥
न तत्र नगरे कश्चिदविद्वान् समजायत ।
आसीद् ब्रह्मपुरप्रख्यं शान्तसंसृतिवासनम् ॥ ९७ ॥
विशालनगरं तच्च जगत्यत्युत्तमं बभौ ।
यत्र कीराः शारिकाश्च पञ्जरस्थाः पठन्ति वै ॥ ९८ ॥
चितिरूपं स्वमात्मानं भजध्वं चेत्यवर्जितम् ।
नास्ति चेत्यं चितेरन्यद्दर्पणे प्रतिबिम्बवत् ॥ ९९ ॥

पदको जान लिया, जो विशुद्ध चिन्मात्रा आत्मस्वरूपिणी श्रीत्रिपुरा ही है और सबके अन्तःकरणमें स्थित है। उसे जानकर वह मुक्तस्वरूप (जीवन्मुक्त) हो गया और सबको अपने आत्मस्वरूपसे ही देखने लगा ॥ ९३ उ०–९४ ॥

फिर उसका छोटा भाई मणिचूड भी अपने भाईसे ज्ञान प्राप्त करके जीवन्मुक्त हो गया और राजा मुक्ताचूडने भी अपने पुत्रसे ही ज्ञान प्राप्त किया ॥ ९५ ॥

मुक्ताचूडकी रानीने अपनी पुत्रवधू (हेमलेखा) से ज्ञान प्राप्त किया। इसी प्रकार सब मन्त्री और पुरवासी भी ज्ञानसम्पन्न हो गये ॥९६॥

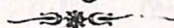
उस नगरमें कोई भी अज्ञानी नहीं रहा। सभीकी सांसारिक वासनाएँ निवृत्त हो गयीं। इस प्रकार वह नगर ब्रह्मपुरीके समान जान पड़ता था ॥ ९७ ॥

वह विशाल नगर संसारमें अत्यन्त उत्कृष्ट हो गया। वहाँ पिंजड़ोंमें बन्द तोते और मैना भी इस प्रकार पढ़ते रहते थे— ॥ ९८ ॥

"चेत्य (दृश्य) पदार्थोंसे रहित जो चिन्मात्र अपना आत्मा है उसका भजन करो। दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान चेत्य पदार्थ चिन्मात्रसे भिन्न नहीं है ॥ ९९ ॥

चितिश्चेत्यं चितिरहं चितिः सर्वं चराचरम्।
यतः सर्वं चितिमनु भाति सा तु स्वतन्त्रतः॥ १०० ॥
अतश्चितिं जनाः सर्वे भासिनीं सर्वसंश्रयाम्।
भजध्वं भ्रान्तिमुत्सृज्य चितिमात्रसुदृष्टयः॥ १०१ ॥
कदाचिदेवं कीराणां श्रुत्वा वाक्यं महोदयम्।
ब्राह्मणा वामदेवाद्या नामाचख्युः पुरस्य तु॥ १०२ ॥
यतोऽत्र विद्यां तिर्यञ्चोऽप्याहुस्तस्मादिदं पुरम्।
प्रसिद्धविद्यानगरमिति नाम्ना प्रसिद्ध्यतु॥ १०३ ॥
तदद्यापि च तेनैव नाम्ना तन्नगरं स्थितम्।
राम तस्मात्तु सत्सङ्गो मूलं सर्वशुभोदये॥ १०४ ॥
सङ्गेन हेमलेखायाः सर्वे विद्याविदोऽभवन्।
तस्मात् सङ्गः परं मूलं राम जानीहि श्रेयसः॥ १०५ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे हेमचूडोपाख्याने
सत्सङ्गफलं चतुर्थोऽध्यायः॥



चिति (चिन्मात्र) ही चेत्य है, चिति ही मैं हूँ और चिति ही सारा चराचर है, क्योंकि इन सबका भान चितिसे ही होता है और चिति स्वयंप्रकाश है॥ १०० ॥

इसलिये हे लोगो! भ्रान्तिको त्यागकर केवल चितिपर ही दृष्टि रखते हुए सबको प्रकाशित करनेवाली और सभीकी आश्रयभूत चितिका ही भजन करो"॥ १०१ ॥

किसी दिन वामदेवादि ब्रह्मज्ञ महात्माओंने तोतोंके ये अत्यन्त सारगर्भित वचन सुनकर उस नगरका नाम बदल दिया॥ १०२ ॥

[वे बोले—] क्योंकि यहाँ पक्षी भी विद्या (ब्रह्मज्ञान) का प्रतिपादन करते हैं, इसलिये अब यह नगर 'विद्यानगर' नामसे प्रसिद्ध होगा॥

अतः आज भी वह नगर उसी नामसे विख्यात है। इसलिये परशुराम! सत्संग ही सब प्रकारके मंगलका आविर्भाव होनेमें मूल कारण है॥ १०४ ॥

एक हेमलेखाके संगसे ही वहाँ सब लोग ज्ञानवान हो गये। अतः परशुराम! निश्चय जानो, कल्याणका वास्तविक मूल सत्संग ही है॥

चतुर्थ अध्याय समाप्त।



पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

एवं सत्सङ्गमाहात्म्यं श्रुत्वाऽत्रिसुतभाषितम् ।
प्रहृष्टमानसो भूयः प्रष्टुमेवोपचक्रमे ॥ १ ॥
सत्यं प्रोक्तमिदं नाथ भवता शुभकारणम् ।
सत्सङ्गरूपमेतच्च प्रत्यक्षेणैव भावितम् ॥ २ ॥
यो यथा सङ्गमाप्नोति फलं तस्य तथा भवेत् ।
स्त्रियोऽपि हेमलेखायाः सङ्गात् सर्वे महाफलाः ॥ ३ ॥
भूय इच्छाम्यहं श्रोतुं हेमचूडस्तया कथम् ।
बोधितस्तन्ममाचक्ष्व विस्तरेण दयानिधे ॥ ४ ॥
एवं रामेणानुयुक्तो दत्तात्रेय उवाच तम् ।
शृणु भार्गव वक्ष्यामि कथां परमपावनीम् ॥ ५ ॥

पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

हेमचूडकी विवशता, हेमलताद्वारा अद्भुत उपाख्यानका वर्णन

इस प्रकार श्रीदत्तात्रेयजी द्वारा कही हुई सत्संगकी महिमा सुनकर परशुरामके चित्तको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने पुनः प्रश्न किया—॥ १ ॥

"नाथ ! आपने सत्संगको कल्याणका प्रधान कारण बताया, सो ठीक ही है। मैंने तो [श्रीसंवर्त मुनिके सत्संगद्वारा] इसका प्रत्यक्ष अनुभव भी कर लिया ॥ २ ॥

जो जैसा संग करता है उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है। हेमलेखा स्त्री थी, तथापि उसके संगसे सभी महान् फलके भागी हुए ॥ ३ ॥

किन्तु यह बात मैं फिर भी सुनना चाहता हूँ कि उसने हेमचूडको किस प्रकार तत्त्वज्ञान कराया। दयानिधे ! वह प्रसंग आप मुझे विस्तार से सुनाइये" ॥ ४ ॥

परशुरामके इस प्रकार प्रश्न करनेपर श्रीदत्तात्रेयजीने उनसे कहा, "भृगुनन्दन ! सुनो, मैं तुम्हें वह परम पवित्र कथा सुनाता हूँ ॥ ५ ॥

एवं तस्या वचः श्रुत्वा विषयान् विरसान् विदन्।
तेषु सञ्जातनिर्वेदो विमना इव संबभौ ॥ ६ ॥
चिरस्थितविषयजवासनानां वशं गतः।
त्यक्तुं वा संग्रहीतुं वा नाशकत् सहसा हि सः ॥ ७ ॥
प्रियां न किञ्चित् प्रोवाच राजपुत्रोऽतिलज्जितः।
कांश्चिच्च दिवसानेवमनयच्चिन्तयाकुलः ॥ ८ ॥
विषयेषु प्रसक्तेषु स्मृत्वा तत् प्रिययोदितम्।
विगर्हन्नेव स्वात्मानं बुभुजे वासनावशः ॥ ९ ॥
वासनावेगवशतो विषयाननुगच्छति।
दृष्ट्वैव विषयान् दोषान् प्रियाप्रोक्तान् विचिन्तयन् ॥ १० ॥
शोकसंविग्नहृदयो विषीदति मुहुर्मुहुः।
एवं तस्याभवच्चित्तं चलद्दोलास्थितं यथा ॥ ११ ॥

हेमलताके वैसे वचन सुनकर हेमचूडको विषय रसहीन-से दिखायी देने लगे और उनमें रुचि न रहनेके कारण वह उदास-सा हो गया ॥ ६ ॥

विषयजनित वासनाएँ तो उसमें चिरकालसे थीं ही और उनका उसके चित्तपर अधिकार भी था। इसलिये अब वह उन्हें न तो सहसा त्याग सकता था और न रख ही सकता था ॥ ७ ॥

[हेमलताने उसे निरुत्तर कर दिया था, इसलिये] वह राजकुमार बहुत लज्जित हो जानेके कारण अपनी प्रिया हेमलतासे कुछ कह न सका। उसने कुछ दिन इसी प्रकार चिन्ताकुल रहते हुए निकाल दिये ॥ ८ ॥

जब विषय प्राप्त होते तो अपनी प्रियाकी बातें याद करके वह अपनी भर्त्सना करते हुए भी वासनाओंके अधीन होनेके कारण उन्हें भोग लेता ॥ ९ ॥

वासनाओंका वेग होनेके कारण वह विषयोंको देखते ही उनकी ओर खिंच तो जाता, किन्तु फिर अपनी प्रियतमाके कहे हुए दोषोंका विचार आनेपर उसका हृदय शोकसे व्याकुल हो जाता और वह बार-बार विषाद करने लगता। इस प्रकार उसका चित्त झोंका लेते हुए झूलेके समान अस्थिर हो गया ॥ १०-११ ॥

भोज्यं वस्त्रं भूषणं वा योषिद्वाहनमेव वा।
मित्राणि वापि सुहृदो नैतत्तं सुखयन्ति वै ॥ १२ ॥
नष्टाखिलार्थ इव स शोचत्येव निरन्तरम्।
वासनाविवशः सर्वं त्यक्तुं नाशकदञ्जसा ॥ १३ ॥
नोपभोक्तुं तथा शक्तो दोषदृष्टियुतस्ततः।
एवं तं शोकवशतो विवर्णवदनेक्षणम् ॥ १४ ॥
हेमलेखा समालक्ष्य कदाचित् सङ्गता रहः।
किं नाथ पूर्ववत्त्वं नो लक्ष्यसेऽत्यन्तहर्षितः ॥ १५ ॥
शोचन्तमिव पश्यामि कुत एवं तव स्थितिः।
कच्चिच्छरीरमात्मा ते नामयैर्बाध्यते सदा ॥ १६ ॥
भोगेषु रोगभीतिं वै प्रवदन्ति मनीषिणः।
त्रिदोषसम्भवे देहे दोषवैषम्यसम्भवाः ॥ १७ ॥

अब उसे भोजन, वस्त्र, आभूषण, स्त्री, सवारी अथवा मित्र या सुहृद्—ये कोई भी सुखी नहीं कर पाते थे ॥ १२ ॥

वह निरन्तर शोकमग्न ही रहता था, मानो उसकी सारी सम्पत्ति नष्ट हो गयी हो। किन्तु वासनाओंके अधीन होनेके कारण वह सहसा सबको छोड़ नहीं सकता था ॥ १३ ॥

साथ ही विषयोंमें दोषदृष्टियुक्त होनेके कारण उन्हें भोगनेका भी साहस नहीं होता था। इस प्रकार जब हेमलताने देखा कि वह शोकाकुल है तथा उसके मुख और नेत्र भी मलिन हो गये हैं तो एक दिन उसने एकान्तमें मिलकर पूछा, "नाथ क्या कारण है आप पहले की तरह खूब प्रसन्न दिखायी नहीं देते ॥ १४–१५ ॥

मैं आपको सदा शोकमग्न-सा ही देखती हूँ। आपकी ऐसी स्थिति क्यों है। क्या आपका शरीररूप आत्मा सर्वदा किन्हीं रोगोंसे पीडित रहता है? ॥ १६ ॥

विचारवान् पुरुष भोगोंमें रोगकी आशंका बताया करते हैं। शरीर वात, पित्त, कफ इन तीन दोषोंसे बना है, इसलिये इसमें इन दोषों-की विषमता होनी सम्भव ही है ॥ १७ ॥

आमयाः प्रायशः सर्वदेहान् व्याप्यैव संस्थिताः ।
सर्वथा ह्यप्रतीकार्यं वैषम्यं दोषजं ननु ॥ १८ ॥
अशनाद्वसनाद्वाचो दर्शनात् स्पर्शनादपि ।
कालाद्देशात् कर्मतश्च दोषा वैषम्यमाप्नुयुः ॥ १९ ॥
अतस्तस्योद्भवो लोके सर्वथाऽलक्ष्यतां गतः ।
इत्यतः सति वैषम्ये चिकित्सा सम्प्रकीर्त्तिता ॥ २० ॥
नोक्ता चिकित्सानुत्पत्तौ वैषम्ये केनचित् क्वचित् ।
तद्वद प्रिय कस्माद्धि शोकस्य तव सम्भवः ॥ २१ ॥
इति श्रुत्वा हेमलेखां प्राह राजसुतस्ततः ।
प्रिये शृणु प्रवक्ष्यामि यन्मे शोकस्य कारणम् ॥ २२ ॥
त्वदुक्त्या यत् पुरा मेऽभूत् सुखदन्तद्धतं ननु ।
न पश्याम्यधुना किञ्चिदपि मे सुखवर्द्धनम् ॥ २३ ॥

इसीसे रोग प्रायः सभी शरीरोंमें व्यापे हुए हैं। इस दोषजनित विषमताको दूर रखना निश्चय ही बहुत कठिन है ॥ १८ ॥

ये दोष भोजनसे, वस्त्रसे, वाणीसे, किसी वस्तुविशेषको देखने या छूनेसे तथा देश-काल और क्रिया-विशेषसे और भी विषम हो जाते हैं ॥ १९ ॥

इसलिये इनकी उत्पत्तिका निमित्त सामान्य पुरुषोंके लिये जानना बहुत कठिन होता है। इसीसे जब कोई विषमता होती है तो शास्त्रमें उसकी चिकित्सा कही गयी है ॥ २० ॥

यदि विषमता न होती तो कोई कभी उसकी चिकित्साका भी वर्णन न करता। अतः प्रियतम ! बतलाइये, आपको किस कारणसे शोक उत्पन्न हुआ है" ॥ २१ ॥

यह सुनकर राजकुमारने हेमलेखासे कहा, "प्रिये ! सुनो, मेरे शोकका जो कारण है वह मैं तुम्हें बताता हूँ ॥ २२ ॥

पहले मुझे जो कुछ सुखदायक जान पड़ता था वह तुम्हारी बातें सुनकर सब नष्टप्राय हो गया है। अब मुझे ऐसी कोई चीज दिखायी नहीं देती जो मेरे सुखको बढ़ानेवाली हो ॥ २३ ॥

राज्ञा वितीर्णो विषयः सुखदोऽपि समन्ततः ।
वध्यं न सुखयेद्यद्वत्तथा तस्मान्न मे सुखम् ॥ २४ ॥
विषयान् सेवमानोऽहं सदा विष्टिगृहीतवत् ।
तत् पृच्छामि प्रिये ब्रूहि किं कृत्वा सुखमेम्यहम् ॥ २५ ॥
एवं तेन समापृष्टा हेमलेखा तदाऽब्रवीत् ।
नूनमेष सुनिर्वेदमागतो मद्वचःश्रुतेः ॥ २६ ॥
अस्ति बीजं श्रेयसोऽस्मिन् यत एवंविधो ह्ययम् ।
येषु श्रेयो ह्यसम्भाव्यं त एवं वाक्यगुम्फनैः ॥ २७ ॥
न ह्यण्वपि विशेषेण विशिष्यन्ते कदाचन ।
चिरं संराधिता हृत्स्था प्रसन्ना स्वात्मदेवता ॥ २८ ॥
त्रिपुरा येन तेष्वेव भवेदेवंविधा स्थितिः ।
इत्यालोच्यातिविदुषी बुबोधयिषती प्रियम् ॥ २९ ॥

महाराजने मुझे जो विषय दिये हैं वे सब प्रकार सुखदायक हैं, तथापि वध्य पुरुषको जैसे विषयोंसे सुख नहीं मिल सकता उसी प्रकार उनसे मुझे सुख नहीं मिलता ॥ २४ ॥

मैं जो विषयोंका सेवन करता हूँ वह सर्वदा बेगारमें पकड़े हुए पुरुषके समान [वासनाओंकी अधीनताके कारण] ही होता है। अतः प्रिये ! मैं तुमसे पूछता हूँ, अब क्या करनेसे मैं सुख प्राप्त कर सकूँगा" ? ॥ २५ ॥

हेमचूडके इस प्रकार पूछनेपर हेमलेखाने [मन ही मनमें] कहा, 'मेरा भाषण सुनकर सचमुच इन्हें खूब वैराग्य हो गया है ॥२६॥

इनमें निश्चय ही निःश्रेयसप्राप्तिका बीज है, तभी तो इनकी ऐसी अवस्था है। जिनके मुक्त होनेकी सम्भावना नहीं होती उनमें इस प्रकारके वाक्यविन्याससे कभी अणुमात्र भी कोई अन्तर नहीं पड़ता ॥ २७-२८ पू० ॥

चिरकालतक आराधना किये जानेपर जिनके हृदयमें विराजमान आत्मस्वरूपिणी भगवती त्रिपुरा प्रसन्न होती है उन्हींमें ऐसी स्थिति पायी जाती है' ॥ २८ उ०-२९ पू० ॥

तब उस महापण्डिताने इस प्रकार विचार कर अपने पाण्डित्यको

गोपयन्ती स्ववैदुष्यं प्राहान्यव्यपदेशतः।
श्रृणु राजकुमारेदं यन्मे वृत्तं पुरातनम् ॥ ३० ॥
पुरा मे जननी काश्चित् क्रीडनाय सखीं ददौ।
सा स्वभावसती काश्चिदसतीमनुसङ्गता ॥ ३१ ॥
सा विचित्रविधाश्चर्यसृष्टिसामर्थ्यसंयुता।
अलक्षिता मे जनन्या सख्या मे सङ्गताभवत् ॥ ३२ ॥
असच्चरित्रयात्यन्तं सङ्गता मम सा सखी।
प्राणेभ्योऽपि प्रियतमा सदा तद्वशगा ह्यहम् ॥ ३३ ॥
न तां विहाय मे संस्था क्षणार्द्धं वा क्वचिद्भवेत्।
सा निर्मलस्वभावेन मां वशीकृत्य संस्थिता ॥ ३४ ॥

छिपाते हुए, अपने प्रियतमको बोध करानेकी इच्छासे किसी अन्यकी ओट लेकर कहा–॥ २९ उ०–३० पू० ॥

राजकुमार! सुनो, यह बात[1] पहले मेरे साथ बीत चुकी है। पूर्वकालमें मेरी माताने[2] खेलनेके लिये मुझे[3] एक सखी[4] दी थी। वह स्वभावसे तो सती थी, किन्तु किसी कुलटाकी[5] संगतिमें पड़ गयी ॥ ३० उ०–३१ ॥

उस कुलटामें अनेक प्रकारकी आश्चर्यमयी सृष्टि रचनेकी सामर्थ्य थी। वह मेरी माताको पता लगाये बिना ही मेरी सखीसे मिल गयी[6] ॥

मेरी सखीका उस दुराचारिणीसे बहुत अधिक सम्पर्क बढ़ गया। और मुझे वह प्राणोंसे भी अधिक प्रिय थी। मैं सदा उसके अधीन ही रहती थी ॥ ३३ ॥

उसे छोड़कर तो आधे क्षणके लिये भी मैं कहीं नहीं रह सकती थी। अपने पवित्र (सत्त्वगुणप्रधान) स्वभावके कारण उसने मुझे

---

१. यहाँ जो बात कही जा रही है उसका कुछ गूढ़ आशय है। यहाँ जिन व्यक्तियोंके द्वारा जिन तत्त्वोंका उल्लेख किया गया है उनका विवरण नीचे दिया जाता है—।

२. शुद्धचिति। ३. जीवात्मा। ४. बुद्धि। ५. अविद्या।

६. क्योंकि अविद्या कब जीवकी बुद्धिपर अधिकार करती है, इसका पता शुद्धचितिको भी नहीं लगता। अथवा यों समझना चाहिए कि शुद्धचिति वास्तवमें अविद्या या बुद्धिको विषय ही नहीं करती, क्योंकि उसकी दृष्टिमें तो बुद्धि आदि प्रपञ्चकी सत्ता ही नहीं है, यह केवल आभासमात्र है।

निरन्तरं तद्गतात्मस्वभावाऽभवमञ्जसा ।
सा तया दुष्टया युक्ता नट्या चित्रस्वभावया ॥ ३५ ॥
परोक्षवृत्तिमानीता स्वपुत्रेणाभियोजिता ।
तस्याः पुत्रोऽतिमूढात्मा मदिराघूर्णितेक्षणः ॥ ३६ ॥
बुभुजे तां समाक्रम्य सर्वदा मत्समक्षतः ।
सा तेनाक्रान्तसर्वाङ्गी भुज्यमानानुवासरम् ॥ ३७ ॥
न मां जहौ कदाचिच्च तत्स्पृष्टा तेन चाप्यहम् ।
ततः पुत्रः समुत्पन्नो मूढस्य सदृशाकृतिः ॥ ३८ ॥
तरुणः सोऽभवत्तूर्णमतिचञ्चलसंस्थितिः ।

अपने अधीन कर लिया था। निरन्तर उसीमें चित्त लगा रहनेके कारण मैं भी उसीके-से स्वभाववाली हो गयी ॥ ३४-३५ पू० ॥

उस विचित्र स्वभाववाली नटीने अपने साथ मिली हुई मेरी सखीको [स्वर्गादि] परोक्ष पदार्थोंका झूठा लोभ देकर अपने पुत्रके[1] अधीन कर दिया ॥ ३५ उ०-३६ पू० ॥

उसका पुत्र बड़ा ही मूढचित्त था, मदिरासे उसकी आँखें चढ़ी रहती थीं। वह मेरे सामने ही बलात्कारसे उसे निरन्तर भोगता था ॥ ३६ उ०-३७ पू० ॥

उसके द्वारा रात-दिन अंग-प्रत्यंगोंके आक्रान्त रहने और भोगे जानेपर भी वह कभी मुझे नहीं छोड़ती थी।[2] इसलिये एक दिन तो मेरा भी उससे स्पर्श हो गया।[3] तदनन्तर उन दोनोंके एक पुत्र[4] उत्पन्न हुआ। वह अपने पिता मूढके समान ही आकृतिवाला था ॥ ३७ उ०-३८ ॥

वह तुरन्त ही तरुण (कार्यक्षम) हो गया। उसका स्वभाव बड़ा

---

१. मोह।

२. क्योंकि मोहाक्रान्त रहनेपर भी बुद्धिके सब व्यापार और भोग चित्प्रकाशसे ही प्रकाशित रहते हैं।

३. बुद्धिसे तादात्म्य रहनेके कारण जीवात्माने भी अपनेको मोहग्रस्त मान लिया।

४. मन।

पितुर्मौढ्येन संयुक्तः पितामह्या गुणेन च ॥ ३९ ॥
अनेकचित्रनिर्माणसामर्थ्येन समावृतः।
पितामह्या शून्यनाम्न्या पित्रा मूढाभिधेन च ॥ ४० ॥
अस्थिराह्वः शिक्षितोऽभूत् स्वयं चातिविशारदः।
गतिमप्रतिबद्धां वै शीघ्राच्छीघ्रां समासदत् ॥ ४१ ॥
एवं मम सखी स्वच्छस्वभावा जन्मतः सती।
असतीसङ्गतोऽत्यन्तं मालिन्यं समुपागता ॥ ४२ ॥
सख्या प्रियेण पुत्रेणासत्स्वभावयुतेन सा।
चिरसङ्गात्तेषु दृढानुरागेण समायुता ॥ ४३ ॥
जहौ मय्यनुरागन्तु सर्वथा क्रमतः सखी।
अहं स्वभावसरला हातुं तत्सङ्गमञ्जसा ॥ ४४ ॥

चंचल था। तथा वह अपने पिताकी मूढतासे और दादीके गुणसे भी सम्पन्न था[1] ॥ ३९ ॥

उसमें अनेक प्रकारके चित्र बनानेका सामर्थ्य भी आ गया। फिर शून्य[2] नामवाली दादी और मूढ नामवाले पिताने अपने उन अस्थिर नामक पुत्रको, जो स्वयं भी बहुत कुशल था, पढ़ा-लिखाकर पक्का कर दिया। इससे उसे शीघ्रातिशीघ्र ऐसी गति प्राप्त हो गयी जो किसीके द्वारा भी रोकी नहीं जा सकती थी ॥ ४०–४१ ॥

इस प्रकार मेरी सखी, जो बड़े निर्मल स्वभाववाली और जन्मसे सती ही थी, उस असतीका संग पाकर अत्यन्त मलिनताको प्राप्त हो गयी[3] ॥ ४२ ॥

अपने असत्स्वभाव प्रेमी और पुत्रका चिरकालतक संग रहनेसे उसका उन्हींमें दृढ अनुराग हो गया ॥ ४३ ॥

अतः क्रमशः मेरी सखीने मुझसे प्रेम करना छोड़ दिया। किन्तु मैं सरल स्वभावकी थी, इसलिये सहसा अपनी सखीका संग छोड़ने में

---

१. मनमें अपने पिता मोहका गुण जड़ता और अपनी दादी अविद्याका गुण विचित्र सृष्टि-रचना रहते ही हैं।

२. वास्तव मेंअविद्याकी कोई सत्ता नहीं है, इसलिये उसे शून्य कहा गया है।

३. शुद्ध सत्त्वमयी होनेपर भी अविद्याके अधीन होनेपर रजोगुण-तमोगुण-विशिष्ट हो गयी।

अनीशा तत्परैवासं सर्वथा तामनुव्रता ।
अथ तस्याः प्रियो मूढो भुञ्जानस्तां तु सर्वदा ॥ ४५ ॥
प्रसह्य मां समाक्रान्तुमुद्युक्तः सर्वथाऽभवत् ।
नाहं स्वभावसंशुद्धा वस्तुतस्तद्वशं गता ॥ ४६ ॥
तथापि लोके मेऽत्यन्तं परीवादो महानभूत् ।
मूढेन सर्वथेयं च भुज्यते इति सर्वतः ॥ ४७ ॥
अस्थिराख्यं स्वपुत्रं सा मयि न्यस्य सखी मम ।
प्रियेण संपरिष्वक्ता सर्वथा तत्पराऽभवत् ॥ ४८ ॥
अथास्थिरो मया सम्यग् लालितः पोषितस्ततः ।
प्रौढस्त्रियं पितामह्या अनुमत्योपसङ्गतः ॥ ४९ ॥
सा प्रिया तस्य चपलाभिधाना हि प्रतिक्षणम् ।
प्रियस्य सम्मतं रूपं भिन्नं भिन्नं मनोहरम् ॥ ५० ॥

समर्थ न हो सकी। सर्वदा उसीके साथ रहती और उसका अनुसरण करती[१] ॥ ४४–४५ पू० ॥

अब तो उसका प्रेमी मूढ सर्वदा उसका भोग करते हुए सब प्रकार बलात्कारसे मुझपर भी आक्रमण करने को उद्यत रहने लगा। किन्तु स्वभावसे शुद्ध होने के कारण वस्तुतः मैं उसके अधीन नहीं हो सकी ॥ ४५ उ०–४६ ॥

तथापि लोकमें सब ओर मेरे विषयमें यह महती अपकीर्ति तो फैल ही गयी कि मूढ इसका यथेच्छ उपभोग करता है ॥ ४७ ॥

मेरी सखीने अपने अस्थिर नामक पुत्रको तो मेरे पास छोड़ दिया और स्वयं अपने प्रेमीसे आलिंगित रहकर सर्वथा उसीकी हो गयी ॥४८॥

अब अस्थिर सर्वथा मेरे द्वारा लालित-पोषित होने लगा। उसने अपनी दादीकी अनुमतिसे एक प्रौढा स्त्रीसे[२] सम्बन्ध जोड़ लिया ॥४९॥

उसकी वह चपला नामकी प्रेमिका अपने प्रियतमकी इच्छानुसार क्षण-क्षणमें तरह-तरहके मनोहर और आश्चर्यजनक रूप धारण कर

---

१. अर्थात् बुद्धिसे जीवात्माका तादात्म्य हो गया और वह बुद्धिके व्यापारोंको अपने ही व्यापार मानने लगा।

२. कल्पना।

गृह्णात्याश्चर्यजननं प्रियमेवं स्वके वशे ।
चक्रे सात्यन्तनिपुणा स्वनैपुण्यवशात् खलु ॥ ५१॥
अस्थिरोऽपि क्षणेनैव त्वसंख्यशतयोजनम् ।
प्रयात्यायाति च सदा न श्रान्तिमुपगच्छति ॥ ५२ ॥
समीहते यत्र गन्तुमस्थिरश्च यदा यदा ।
तस्येष्टं स्वस्वरूपन्तु कृत्वा सा चपलापि हि ॥ ५३ ॥
तत्र तत्र स्थिता भूत्वा रमयत्येव स्वं प्रियम् ।
एवं सा चपला सम्यगस्थिरेण युता सती ॥ ५४ ॥
सुषुवे पञ्चतनयान् मातापितृपरायणान् ।
ते समर्थाः पञ्चविधा मयि सख्या निवेशिताः ॥ ५५ ॥
अहं सख्यनुरक्ता तानकुर्वं बलवत्तरान् ।
अथ ते पञ्चतनयाश्चपलायाः पृथक् पृथक् ॥ ५६ ॥

लेती थी। वह बड़ी ही चतुर थी। उसने अपनी चतुरतासे अपने प्रेमीको अपने अधीन कर लिया ॥ ५०–५१ ॥

अस्थिर भी एक क्षणमें ही असंख्य शत (करोड़ों) योजन आ-जा सकता था। इससे थकता तो वह कभी था ही नहीं ॥ ५२ ॥

अस्थिर जब-जब भी जहाँ कहीं जानेका विचार करता, चपला भी वहीं-वहीं पहुँचकर उसकी रुचिके अनुसार अपना रूप बनाकर अपने प्रियतमका मनोरञ्जन करती ॥ ५३–५४ पू० ॥

इस प्रकार अस्थिरके सम्पर्कमें रहते हुए चपलाने पाँच पुत्र[1] उत्पन्न किये। वे अपने माता-पिताके बड़े अनुगत थे।[2] वे बड़े समर्थ थे और पाँचों पाँच प्रकारके थे। मेरी सखीने उन्हें मुझे ही सौंप दिया[3] ॥ ५४ उ०–५५ ॥

सखीके अनुरागवश मैंने उन्हें और भी बलवान् बना दिया। फिर चपलाके उन पाँच पुत्रोंने अपने लिये अलग-अलग बड़े विचित्र,

---

१. पाँच कर्मेन्द्रियाँ।
२. क्योंकि इन्द्रियवर्ग मनकी कल्पना-शक्तिको बढानेमें सहायक होते हैं।
३. अर्थात् उनका भी चेतन जीवात्मासे तादात्म्य हो गया।

चक्रुरायतनं श्रेष्ठं विचित्रमतिविस्तृतम् ।
पितरं स्ववशे चक्रुर्मात्रा सम्यग् विभाविताः ॥ ५७ ॥
आनयन्ति स्वायतनं पितरं तं क्षणे क्षणे ।
तत्रास्थिरो ज्येष्ठसुतायतनं विनिविश्य तु ॥ ५८ ॥
अशृणोद्विविधान् शब्दान् सुस्वरानितरानपि ।
क्वचिन्मधुरसङ्गीतं क्वचिद्वाद्यं सुमङ्गलम् ॥ ५९ ॥
ऋचो यजूंषि सामानि मन्त्रानाथर्वणानपि ।
शास्त्रागमेतिहासांश्च भूषणानाञ्च सिञ्जितम् ॥ ६० ॥
भृङ्गसंघस्य गीतञ्च पिकपञ्चमसुस्वरम् ।
एवं मनोहराञ् शब्दाञ् शृण्वन् पुत्रनिदेशतः ॥ ६१ ॥
प्रीतः पुत्रवशं प्रागादथ पुत्रोऽन्यथादिशत् ।
विरुद्धान् कर्णकटुकानशृणोद्भैरवान् रवान् ॥ ६२ ॥
सिंहादिगर्जितं मेघनिर्घोषमशनेस्तथा ।

विशाल और सुन्दर निवासस्थान[1] बनवाये। फिर माताके द्वारा परिपुष्ट होकर उन्होंने पिताको अपने अधीन कर लिया ॥ ५६–५७ ॥

वे क्षण-क्षणमें पिताको अपने निवासस्थानमें बुला लेते थे। एक बार अस्थिरने अपने सबसे बड़े पुत्रके[2] भवनमें जाकर नाना प्रकारके बड़े सुरीले तथा अन्य प्रकारके भी शब्द सुने ॥ ५८–५९ पू० ॥

वहाँ उसने कभी मधुर संगीत और कभी मंगलमय बाजे सुने। कभी ऋक्, यजु, साम और अथर्ववेदके मन्त्र तथा शास्त्र, आगम और इतिहास सुने एवं कभी आभूषणोंकी झनकार भ्रमर-निकरकी गुंजार और कोकिलका सुमधुर पञ्चम स्वर भी सुनाई दिया ॥ ५९ उ०–६१ पू० ॥

इस प्रकार उस पुत्रके संकेतसे मनोहर शब्द सुनकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ और उसके अधीन हो गया। अब उसी पुत्रने उसे दूसरा रंग दिखाया। उसने अपनी रुचिके विरुद्ध अनेकों कठोर और भयानक शब्द भी सुने ॥ ६१ उ०–६२ ॥

सिंहादि हिंस्र पशुओंकी गर्जना, बादल और बिजलीकी कड़कड़ाहट,

---

१. इन्द्रियगोलक। २. श्रवणेन्द्रिय।

ब्रह्माण्डभेदनं गर्भस्रावणं सुभयङ्करम् ॥ ६३ ॥
रुदितं विप्रलपितं शोचितादिविचित्रितम्।
एवं श्रुत्वा सुचकितश्चान्यत्राप्यशृणोत्तथा ॥ ६४ ॥
द्वितीयसुतनीतोऽथास्थिरस्तद्भुवनं ययौ।
तत्रापश्यन् मृदुस्पर्शान्यासनानि शुभानि च ॥ ६५ ॥
शयनानि च वासांसि कठिनस्पर्शकान्यपि।
शीतस्पर्शानि वस्तूनि तथोष्णस्पर्शकानि च ॥ ६६ ॥
अनुष्णाशीतस्पर्शानि विचित्राण्यभिवीक्ष्य तु।
हितान् दृष्ट्वा प्रमुदितो विषण्णस्त्वहितानपि ॥ ६७ ॥
अथ तृतीयतनयभवनं प्राप्य सोऽस्थिरः।
अपश्यद्रुचिराकारान् भावान् विविधवर्णकान् ॥ ६८ ॥
रक्तान् श्वेतान् पीतनीलान् हरितान्पाटलानपि।
धूम्रान् कडारान् कपिशान्मेचकान् कर्बुरांस्तथा ॥ ६९ ॥
स्थूलान् कृशानणून्दीर्घानायतान् वर्त्तुलांस्तथा।
अर्द्धवृत्तान् दीर्घवृत्तान् सुन्दरांश्च विभीषणान् ॥ ७० ॥

ब्रह्माण्डका भयङ्कर स्फोट, गर्भस्रावका क्रन्दन तथा शोकाकुलोंका प्रलाप आदि विचित्र शब्द सुनकर वह बड़ा चकित हुआ। इसी प्रकार और भी बहुत-से शब्द सुने ॥ ६३–६४ ॥

एक बार दूसरे पुत्रके[1] ले जानेसे वह उसके घर भी गया। वहाँ उसने कोमल स्पर्शवाले सुन्दर आसन, शयन (बिछौने) और वस्त्र देखे। इसी प्रकार कठिन, शीत और उष्ण स्पर्शवाली वस्तुएँ भी देखीं ॥

कोई वस्तुएँ ऐसी भी थीं जिनका स्पर्श न अधिक उष्ण था न शीत। इस प्रकार तरह-तरह की वस्तुएँ देखकर अनुकूलोंसे उसे हर्ष हुआ और प्रतिकूलोंसे विषाद ॥ ६७ ॥

फिर उस अस्थिरने तीसरे पुत्रके[2] भवनमें जाकर वहाँ अनेक रंगोंके सुन्दर-सुन्दर आकारवाले पदार्थ देखे ॥ ६८ ॥

वे पदार्थ लाल, सफेद, पीले, नीले, हरे, भूरे, धूमिल, मटियाले, सुनहरे, काले और चितकबरे इत्यादि अनेकों रंगों तथा स्थूल, कृश, अणु, दीर्घ, चौड़े, गोल आदि अनेकों आकारोंके थे। कोई गोलार्ध और कोई

---

१. त्वगिन्द्रिय।   २. चक्षुरिन्द्रिय।

बीभत्सान् भास्वरान् रौद्राननालोकांश्च दृङ्मुषः ।
क्वचिद्धितं ततोऽन्यश्च पश्यन्तं पितरं पुनः ॥ ७१ ॥
अनयत्तुर्यतनयो भवनं स्वं विचित्रितम् ।
तत्राससाद पुष्पाणि फलान्यन्यानि च क्रमात् ॥ ७२ ॥
पेयानि लेह्यचोष्याणि भक्ष्याणि रसवन्ति वै ।
सुधास्वादूनि मधुराण्यन्यान्यम्लरसानि च ॥ ७३ ॥
कटुकानि च तिक्तानि कषायाण्यपि कानिचित् ।
क्षाराणि मधुराम्लानि कट्वम्ललवणानि च ॥ ७४ ॥
कटुतिक्तानि चित्रात्मरसानि विविधान्यपि ।
आस्वादयन्नात्मजेन समेतोऽथान्तिमः सुतः ॥ ७५ ॥
निनाय पितरं स्थाने स्वीयेऽत्यन्तविचित्रिते ।
तत्रोपालभतानेकपुष्पाणि च फलानि च ॥ ७६ ॥

दीर्घ गोलाकार थे। कोई देखनेमें सुन्दर और कोई भयानक जान पड़ते थे ॥ ६६–७० ॥

इसीप्रकार कोई घृणाके योग्य, कोई तेजोमय, कोई उग्र और कोई अन्धकाररूप थे, जहाँ दृष्टि काम नहीं करती थी। उनमेंसे कोई हितकर और कोई अहितरूप जान पड़ता था। इस प्रकार जब पिता अस्थिर तरह-तरहके पदार्थ देख रहा था तब चौथा पुत्र[1] उसे अपने विचित्र भवनमें ले गया ॥ ७१–७२ पू० ॥

वहाँ क्रमशः अनेकों पुष्प और फल उसके दृष्टिगोचर हुए। उसने अनेकों सरस पेय, लेह्य, चोष्य और भक्ष्य पदार्थोंका आस्वादन किया। उनमें कोई अमृतके समान मधुर, कोई खट्टे रसवाले, कोई कड़वे, कोई चरपरे और कोई कसैले थे। कोई नमकीन, कोई खटमिट्ठे, कोई कड़वे खट्टे और नमकीन तीन रसवाले और कोई कटु और तिक्त थे। इस प्रकार जब वह अनेकों प्रकारके रसोंवाले विभिन्न पदार्थोंका अपने पुत्र के साथ आस्वादन कर रहा था उसी समय उसका अन्तिम पुत्र[2] उसे अपने अत्यन्त विचित्र स्थानमें ले गया। वहाँ भी उसे अनेकों पुष्प और फल मिले ॥ ७२ उ०–७६ ॥

---

१. रसनेन्द्रिय। २. घ्राणेन्द्रिय।

तृणान्यन्यान्योषधीश्च भावानन्यांश्च सर्वतः ।
सुगन्धान् पूतिगन्धांश्च मृदुगन्धोग्रगन्धकान् ॥ ७७ ॥
मोहगन्धान् ज्ञानगन्धान्मूर्छागन्धान्विचित्रितान् ।
पुत्राणां भवने चैवं प्रविशन् निविशन्नपि ॥ ७८ ॥
हितेषु रमते क्वापि विषीदत्यहिते क्वचित् ।
सदा गमागमपरः पुत्राणां भवने बभौ ॥ ७९ ॥
ते पुत्राः पितृवात्सल्यात् पितृहीना न च क्वचित् ।
स्पृशन्ति विषयांश्चित्रान् स्वल्पं वापि कदाचन ॥ ८० ॥
अस्थिरस्तु पुत्रगृहे भुक्त्वा तान् विषयान् बहून् ।
मुषित्वान्यांश्च विषयान् गुप्त्या नयति स्वं पदम् ॥ ८१ ॥
पत्न्या चपलया साकं रहः पुत्रैर्विना स्वयम् ।
भुनक्त्यतितरां नित्यमथान्या चपला स्वसा ॥ ८२ ॥
महाशना पतिं वव्रे मनःकान्तं तमस्थिरम् ।
तस्यामतितरां सक्तो यदाभूदस्थिरोऽपि वै ॥ ८३ ॥

वहां उसने सब ओर वनस्पति, ओषधि और अन्य वस्तुओंका भी अनुभव किया। उनमें कोई अच्छी गंधवाली, कोई दुर्गन्धयुक्त, कोई भीनी गंधवाली और कोई उग्र गन्धयुक्त थी। किन्हींकी गन्ध मुग्ध कर देनेवाली, किन्हींकी सचेत करनेवाली और किन्हींकी मूर्च्छित कर देनेवाली थी। इस प्रकार अनेकों विचित्र पदार्थ अनुभव किये ॥७७-७८ पू०॥

पुत्रोंके भवनोंमें इसी तरह जाते-आते वह कहीं तो हितकारी वस्तुएँ मिलनेपर उन्हींमें रम जाता और कहीं अहितकर पदार्थ मिलने पर ऊबने लगता। अतः वह बराबर अपने पुत्रोंके भवनोंकी ओर आने-जानेमें ही लगा रहता था ॥ ७८ उ०-७९ ॥

वे पुत्र बड़े पितृभक्त थे, अतः पिताको साथ लिये बिना उन विचित्र विषयोंमेंसे कभी किसीको थोड़ा-सा छूतेतक नहीं थे ॥ ८० ॥

किन्तु अस्थिर उन अनेकों विषयोंको पुत्रोंके भवनोंमें भोगता और उनमेंसे कुछको गुप्त रूपसे चुराकर अपने घर[1] ले आता ॥ ८१ ॥

वहाँ पुत्रोंके बिना एकान्त[2]में अपनी पत्नी चपलाके साथ नित्य ही उन्हें खूब भोगता। कुछ काल बीतनेपर चपलाकी एक बहिन

---

१. हृदयदेशमें। २. स्वप्नादिमें।

तदा तस्याः प्रीतये स भोगाहरणतत्परः।
तेनानीतं बह्वपि च भक्षित्वा क्षणमात्रतः॥ ८४॥
पुनर्बुभुक्षयाक्रान्ता भोगाहरणहेतवे।
सदा प्रियं सन्दिशति सोऽप्याहर्तुं सदेक्षते॥ ८५॥
पुत्रैः पञ्चभिरानीतं प्रियेणापि सुसंभृतम्।
भुक्त्वा क्षणेन भूयोऽपि सा बुभुक्षाप्रपीडिता॥ ८६॥
भोगाहृतौ सन्दिशति प्रियं पुत्रांश्च सर्वदा।
ततः सा स्वल्पकालेन सुषुवे पुत्रयोर्युगम्॥ ८७॥
ज्वालामुखस्तयोर्ज्येष्ठो निन्द्यवृत्तस्तथापरः।
सदा मातुः प्रियतमौ तौ पुत्रौ संबभूवतुः॥ ८८॥

महाशनाने उस अस्थिरको अपने मनोनुकूल देखकर पतिरूपसे वरण कर लिया॥ ८२-८३ पू०॥

अस्थिरकी भी अब उसमें अत्यन्त आसक्ति हो गयी और वह उसकी प्रसन्नताके लिये सर्वदा तरह-तरहके भोग लानेमें तत्पर रहने लगा॥ ८३ उ०-८४ पू०॥

वह जो कुछ लाता उसे क्षणमात्रमें ही चट करके वह पुनः भोगाकांक्षासे व्याकुल हो जाती और अपने प्रियतमको सर्वदा नये-नये भोग लानेके लिये प्रेरित करती रहती। तथा वह भी सदा उन्हें लानेकी ही ताकमें लगा रहता॥ ८४ उ०-८५॥

पाँचों पुत्र तरह-तरहके भोग लाते और पति भी खूब पेट भरता रहता। किन्तु महाशना एक क्षणमें सबको स्वाहा करके भूखसे व्याकुल ही बनी रहती॥ ८६॥

वह सर्वदा अपने प्रेमी और पुत्रोंको भोग लानेमें ही जोतती रहती। फिर कुछ समयमें ही उसके दो पुत्र हुए॥ ८७॥

उनमें बड़ा था ज्वालामुख और छोटा था निन्द्यवृत्त। वे दोनों पुत्र अपनी माँके बड़े ही लाड़िले थे॥ ८८॥

---

१. आशा; विषयभोगोंसे कभी तृप्त न होनेके कारण इसे 'महाशना' कहा है।
२. क्रोध। ३. लोभ।

महाशनायामासक्तः संश्लिष्यति यदास्थिरः।
तदा ज्वालामुखज्वालालीढसर्वकलेवरः ॥ ८९ ॥
अस्थिरः पीडितोऽत्यन्तं गाढमूर्छामुपैति हि।
कदाचिन्निन्द्यवृत्तेन सङ्गतः प्रियसूनुना ॥ ९० ॥
सर्वैर्विनिन्द्यतामेति मृततुल्यो हि जायते।
एवं यदास्थिरो जातो दुःखभोगैकतत्परः ॥ ९१ ॥
तदा सखी मे स्वभावसती पुत्रेऽस्थिराह्वये।
अतिवात्सल्यतस्तेन सङ्गता तस्य दुःखतः ॥ ९२ ॥
दुःखभारसमाक्रान्ता निन्द्यवृत्तेन सङ्गता।
ज्वालामुखेन च तथा पौत्रेणाश्लेपिता सती ॥ ९३ ॥
सुदग्धा निन्दिता लोकैर्मृतप्राया बभूव ह।
तां सदानुगता चाहं लुप्तप्रायाभवं प्रिय ॥ ९४ ॥

अस्थिर महाशनामें अत्यन्त आसक्त होकर जब उसका आलिंगन करता तो कभी तो ज्वालामुखकी ज्वालाओंसे सारा शरीर व्याप्त हो जाने के कारण अत्यन्त पीडित होता और उसे गहरी मूर्च्छा हो जाती। तथा कभी प्रिय पुत्र निन्द्यवृत्तका सम्पर्क होनेपर सबकी निन्दाका पात्र बनकर मृतकतुल्य हो जाता ॥ ८९–९१ पू० ॥

इस प्रकार अस्थिर सर्वदा केवल दुःखभोगमें ही डूबा रहने लगा। तब स्वभावसे ही सती मेरी सखीका भी अपने पुत्र अस्थिरमें अत्यन्त स्नेह होनेके कारण उससे तादात्म्य हो गया। अतः उसके दुःखसे वह भी दुःखाक्रान्त हो गयी। क्रमशः निन्द्यवृत्त और ज्वालामुखसे भी उसका सम्पर्क बढ़ा और उन पौत्रोंके संस्पर्शसे उसे जो दाह और लोकनिन्दा मिली उससे वह मृतप्राय हो गयी। मैं तो सदा उसीके अनुरूप रहती थी, अतः प्रियतम! उसके साथ मानो मैं भी लुप्त[1] हो गयी ॥ ९१ उ०–९४ ॥

---

१. अर्थात् जब जीवकी उपाधिवृद्धि रजोगुण-तमोगुणरूप लोभ एवं क्रोधसे व्याप्त हो गयी तो चित्स्वरूपका भान न होनेके कारण मानो जीवात्मा लुप्त हो गया।

एवं बहूनि वर्षाणि सख्या दुःखेन दुःखिता ।
अस्थिरोऽभूदस्वतन्त्रो महाशनापरिग्रहात् ॥ ९५ ॥

पुरं प्राप दशद्वारं केनचित् कर्मणा क्वचित् ।
तस्मिन्महाशनायुक्तो पुत्रैर्मात्रादिभिर्युतः ॥ ९६ ॥

न्यवसत् स सुखप्रेप्सुर्दुःखं भुञ्जन् दिवानिशम् ।
पुत्राभ्यां दग्धसर्वाङ्गो निन्दितश्चानुवासरम् ॥ ९७ ॥

इतस्ततः समाकृष्टः प्रियाभ्यां सर्वदा हि सः ।
पुत्राणां पञ्चभवनं प्रविशन् निविशन्नपि ॥ ९८ ॥

अत्यन्तं श्रान्तिमायाति न सुखं लभते क्वचित् ।
एवं पुत्रस्य दुःखेन सखी मेऽत्यन्तदुःखिता ॥ ९९ ॥

अभून्मूर्च्छितकल्पा सा एवं तत्पुर आवसत् ।
ज्वालामुखनिन्द्यवृत्तयुता या सा महाशना ॥ १०० ॥

इस प्रकार अनेकों वर्षोंतक मैं अपनी सखीके दुःखसे दुःखित रही। इधर अस्थिर महाशनाके जालमें फँसकर बिलकुल पराधीन हो गया ॥ ९५ ॥

किसी कर्मवश एक दिन वह दस द्वारवाले एक नगर[1]में जा पहुँचा। उसमें वह महाशना-सहित अपनी माता और पुत्रादिके साथ रहने लगा। वहाँ रहकर वह पाना तो सुख चाहता था, परन्तु रात-दिन भोगना पड़ता था उसे दुःख ही ॥ ९६–९७ पू० ॥

अपने दो प्रिय पुत्रोंके द्वारा नित्यप्रति इधर-उधर आकर्षित होकर उसे सर्वाङ्गमें दाह और लोकनिन्दाका सामना करना पड़ता। तथा दूसरे पुत्रोंके पाँच निवासस्थानोंमें जाने-आनेसे अत्यन्त थकान हो जाती। सुख उसे कभी नहीं मिलता था ॥ ९७ उ०–९८ पू० ॥

इस प्रकार पुत्रके दुःखसे मेरी सखी भी अत्यन्त दुःखित होकर मूर्च्छित-सी हो गयी। इस तरह अपने पुत्र ज्वालामुख और निन्द्यवृत्तके साथ वह महाशना उस पुरमें रहने लगी ॥ ९८ उ०–१०० ॥

---

१. शरीर ।

शून्याख्यया पोषिता च मूढेन श्वशुरेण च ।
तथा सपत्न्या चपलाख्ययात्यन्तं समेधिता ॥ १०१ ॥
अस्थिरं स्ववशे चक्रे पतिं तत्पुरसंश्रिता ।
सखीप्रीत्या तत्र चाहमवसं तत्परा सती ॥ १०२ ॥
सखीदुःखाद्धतप्राया सर्वेषां रक्षणोद्यता ।
यद्यहं तत्र न स्यां वै क्षणमात्रमपि प्रिय ॥ १०३ ॥
न भवेत्तत्र चैकोऽपि मया सर्वं हि रक्षितम् ।
शून्यया शून्यतां प्राप्ता मूढेन मूढतामपि ॥ १०४ ॥
अस्थिरेणास्थिरत्वञ्च चापल्यं चपलायुता ।
ज्वालामुखाज्ज्वलत्त्वञ्च निन्द्यवृत्तात्तदात्मताम् ॥ १०५ ॥
सखीसंयोगतश्चैवमभवन्तत्तदाकृतिः ।
सखीं यदि विमुञ्चामि सा नश्येत् क्षणमात्रतः ॥ १०६ ॥

अपने शून्यसंज्ञक मूढ श्वशुरसे वह खूब पोषित हुई तथा चपला नामकी सौतने भी उसका अच्छी तरह पोषण किया ॥ १०१ ॥

उस पुरमें रहकर उसने अपने पति अस्थिरको पूर्णतया अपने अधीन कर लिया। सखीके प्रेमवश मैं भी उसके अनुकूल रहकर उसी स्थानपर बनी रही ॥ १०२ ॥

सखीके दुःखसे यद्यपि मैं प्रायः मर-सी गयी थी, तो भी मैं सबकी रक्षा करती रहती थी। प्यारे! यदि मैं वहाँ एक क्षण भी न रहती तो उनमेंसे एक भी न बचता; मैंने ही उन सबको बचाये रखा[1] ॥ १०३-१०४ पू० ॥

मैं शून्या (अविद्या) के सम्पर्कसे शून्यरूप, मूढके संगसे मूढरूप, अस्थिरके साथसे अस्थिरस्वरूप, चपलाके सहवाससे चपलतारूप, ज्वालामुखके कारण ज्वलनरूप और निन्द्यवृत्तके तादात्म्यसे तद्रूप हो गयी थी ॥ १०४ उ०-१०५ ॥

इस प्रकार सखीका संयोग रहनेसे मुझे ये सब आकार धारण करने पड़े। यदि मैं सखीको छोड़ देती तो वह एक क्षणमें ही मर जाती ॥ १०६ ॥

---

१. क्योंकि जीवात्माके रहनेपर ही ये सब जीवित रहते हैं।

सां सङ्गतेन तेषां वै समाहुर्व्यभिचारिणीम् ।
जना मूढा सर्व एव कुशला निर्मलां विदुः ॥ १०७ ॥
महासती मे जननी विशुद्धा निर्मलाकृतिः ।
आकाशादपि विस्तीर्णा सूक्ष्मा च परमाणुतः ॥ १०८ ॥
सर्वज्ञाप्यकिञ्चिज्ज्ञा सर्वकर्त्र्यपि निष्क्रिया ।
सर्वाश्रयाप्यनाधारा सर्वाधाराप्यनाश्रिता ॥ १०९ ॥
सर्वरूपाप्यरूपा सा सर्वयुक्ताप्यसंयुता ।
सर्वत्र भासमानापि न ज्ञेया केनचित् क्वचित् ॥ ११० ॥

उनकी संगतिके कारण ही मूढ पुरुष तो मुझे व्यभिचारिणी कहने लगे थे। परन्तु जो कुशल (विवेकी) पुरुष थे वे सब मुझे निर्दोष ही समझते थे ॥ १०७ ॥

मेरी माता परम सती थी। वह मानसिक और शारीरिक दोषोंसे शून्य, आकाशसे भी अधिक विस्तीर्ण और परमाणुसे भी सूक्ष्म थी ॥ १०८ ॥

वह सब कुछ जानती थी, तथापि [अभिमानशून्य होनेके कारण] मानो कुछ नहीं जानती, इसी प्रकार सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करती थी, सबकी आश्रय होकर भी किसीका आधार[1] नहीं थी तथा सबकी आधार होते हुए भी स्वयं निराधार[2] थी ॥ १०९ ॥

वह सर्वरूप होकर भी स्वयं रूपहीन थी, सबसे संयुक्त होनेपर भी सर्वथा असंयुक्त[3] (असंग) थी और सर्वत्र भासमान होनेपर भी किसीके द्वारा कभी जानी नहीं जा सकती थी ॥ ११० ॥

---

१. शुद्धचितिमें ही सबका भास होता है, इसलिये वह सबका आश्रय तो है किन्तु वास्तवमें उसमें किसीकी सत्ता नहीं है इसलिये उसे किसी आधेयका आधार नहीं कह सकते।

२. सब उसीमें भासते हैं इसलिये वह सबका आधार है परन्तु उसका कोई अन्य प्रकाशक नहीं है, वह स्वयंप्रकाश है, इसलिये निराधार है।

३. क्योंकि उससे भिन्न किसीकी सत्ता ही नहीं है।

महानन्दाप्यनानन्दा मातापितृविवर्जिता।
मादृश्यस्तनयास्तस्याः सन्ति संख्याविवर्जिताः ॥ १११ ॥
यथा तरङ्गा जलधेरसंख्यः सोदरीगणः।
सर्वास्ता मत्समाचारा राजपुत्र भवन्ति वै ॥ ११२ ॥
महामन्त्रवती चाहं सर्वैरेतैः सखीगणैः।
सङ्गता तत्परा चापि मातृतुल्या स्वरूपतः ॥ ११३ ॥
अस्मिन् पुरे सखीपुत्रो यदा श्रान्तो भवत्यलम्।
तदा मातुः समुत्सङ्गेऽस्थिरः शेते सुनिर्भरम् ॥ ११४ ॥
अस्थिरस्तु यदा सुप्तस्तदा तस्य सुतादयः।
स्वापं समधिगच्छन्ति नान्यो जागर्त्ति कश्चन ॥ ११५ ॥
तदा तद्रक्षति पुरमस्थिरस्य प्रियः सखा।
प्रचाराख्यः प्रतिचरन् पूर्वद्वारयुगे मुहुः ॥ ११६ ॥

वह परमानन्दमयी होनेपर भी निरानन्द[1] तथा माता-पिताले रहित थी। हाँ, मेरी-जैसी उसकी अगणित सन्तानें अवश्य थीं ॥ १११ ॥

जिस प्रकार समुद्रकी तरंगें होती हैं उसी प्रकार मेरी अगणित बहिनें थीं। राजकुमार! वे सब मेरे ही समान आचरणवाली हैं ॥११२॥

मैं बड़ी भारी मन्त्रशक्ति[2]से सम्पन्न हूं, इसीसे इन सब सखियोंके साथ उन्हींके अनुकूल रहते हुए भी स्वरूपतः अपनी माताके समान निर्मलस्वभाव ही रहती हूं ॥ ११३ ॥

इस पुरमें जब मेरी सखीका पुत्र अस्थिर बहुत थक जाता तो वह निश्चिन्त होकर अपनी माँकी गोदमें सो जाता ॥ ११४ ॥

जब अस्थिर सो जाता तो उसके पुत्रादि भी निद्रादेवीकी गोदमें चले जाते। फिर और कोई भी जगा न रहता ॥ ११५ ॥

उस समय अस्थिरका प्रचार नामक प्रिय सखा[3] पूर्वके दोनों द्वारों[4]में आते-जाते इस नगरकी रक्षा करता ॥ ११६ ॥

---

१. स्वरूपतः आनन्दस्वरूपा होनेपर भी कोई निमित्त न होनेके कारण उसमें आनन्दका आविर्भाव नहीं होता।

२. अघटितघटनापटीयसी मायाशक्तिसे। ३. प्राण। ४. दोनों नासिकारन्ध्रोंमें।

अस्थिरस्यापि या माता सखी मे तनयेन सा ।
तस्याः सखी च या श्वश्रूरसती या स्वभावतः ॥ ११७ ॥
सा समाच्छाद्य तान् सर्वान् पुत्रेण सह रक्षति ।
एवं सर्वेषु सुप्तेषु प्राप्य स्वां मातरं तदा ॥ ११८ ॥
आनन्दिताहं भवामि मात्राश्लिष्टा चिरं ननु ।
पुनस्तानुत्थितान् शीघ्रमनुसंयामि चान्वहम् ॥ ११९ ॥
अस्थिरस्य सखा योऽयं प्रचाराख्यो महाबलः ।
स सर्वानस्थिरमुखान् पोषयत्यनुवासरम् ॥ १२० ॥
स एको बहुधा भूत्वा पुरश्च पुरवासिनः ।
व्याप्य रक्षत्यनुदिनं सर्वान् संश्लेषयत्यपि ॥ १२१ ॥
तं विना ते हि विश्लिष्टा नष्टाः स्युरपि सर्वथा ।
सूत्रेण हीना मणयो मालाबद्धा यथा पृथक् ॥ १२२ ॥

अस्थिरकी माता मेरी सखी भी अपने पुत्रके साथ निद्राके वशीभूत हो जाती । उस अवस्थामें उसकी सखी[1], जो उसकी असत्स्वभाववाली सास भी थी, अपने पुत्र[2]के सहित उन सबको आच्छादित करके उनकी रक्षा करती थी ॥ ११७-११८ पू० ॥

इस प्रकार जब सब सो जाते तो मैं अपनी माता[3]के पास जाती और चिरकालतक उसका आलिंगन पाकर आनन्दमग्न हो जाती थी । फिर जब वे सब उठते तो नित्यप्रति तुरन्त ही मैं भी उनसे तादात्म्य स्थापित कर लेती ॥ ११८ उ०-११९ ॥

अस्थिरका जो यह महाबली प्रचार नामक सखा था वह नित्यप्रति अस्थिर आदि सभी परिवारका पोषण करता था ॥ १२० ॥

वह एक ही अनेकरूप होकर उस नगर और नगरनिवासियोंमें व्याप्त हो जाता, नित्यप्रति सबकी रक्षा करता और सबका अपने-अपने विषयोंसे सम्पर्क कराता ॥ १२१ ॥

उसके बिना तो वे सब इसी प्रकार छिन्न-भिन्न होकर सर्वथा नष्ट

---

१. अविद्या या शून्या । २. मोह ।

३. सुषुप्तिमें जीवका अपने शुद्धस्वरूप या शुद्धचितिसे संयोग हो जाता है; जैसा कि यह श्रुति कहती है—'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति ।'

स एव माञ्च सङ्गम्य सर्वैः संयोजयत् पुरम् ।
मया संजीवितोऽत्यन्तं सूत्रधारो हि तत्पुरे ॥ १२३ ॥
जीर्णे तु तत्पुरे चान्यत् पुरं तान्नयति द्रुतम् ।
एवं प्रचारं संश्रित्य पुराणामधिपोऽभवत् ॥ १२४ ॥
बहूनामस्थिरो नूनं विचित्राणां क्रमेण वै ।
सतीपुत्रोऽप्यस्थिरः स संश्रितोऽपि महाबलम् ॥ १२५ ॥
मया च भावितोऽत्यन्तं सर्वथा दुःखभागभूत् ।
चपलामहाशनाभ्यां पत्नीभ्यां सुसमागमत् ॥ १२६ ॥
ज्वालामुखनिन्द्यवृत्ताभिधपुत्रयुगेन च ।
अन्यैः पुत्रैः पञ्चभिः स सर्वत्राभिविकर्षितः ॥ १२७ ॥
महाक्लेशपरीतात्मा सुखलेशविवर्जितः ।
इतस्ततः क्वचित् पुत्रैः पञ्चभिः स विकर्षितः ॥ १२८ ॥

हो जाते जैसे मालामें पिरोये हुए मनके तागा न रहनेपर बिखर जाते हैं ॥ १२२ ॥

मेरे साथ मिलकर वह प्रचार ही सबके साथ उस पुरका संयोग कराता है तथा मेरे द्वारा अनुप्राणित होकर वही उस पुरमें सबको प्रेरित करनेवाला प्रधान सूत्रधार है ॥ १२३ ॥

जब वह नगर बहुत जीर्ण हो जाता है तो वही उन सबको तुरन्त दूसरे नगरमें ले जाता है। इस प्रकार प्रचारका आश्रय पाकर अस्थिर क्रमशः तरह-तरहके अनेकों नगरोंका स्वामी हो गया॥ १२४-१२५ पू० ॥

अस्थिर साध्वी माताका पुत्र था, उसे महाबली प्रचारका आश्रय प्राप्त था और मेरे द्वारा भी उसका पोषण होता था, तथापि वह सब प्रकार दुःखका ही भागी रहा ॥ १२५ उ०-१२६ पू० ॥

उसका चपला और महाशना दो पत्नियोंसे समागम रहा तथा ज्वालामुख और निन्द्यवृत्त इन दो एवं अन्य पाँच पुत्रोंके द्वारा सब ओर उसकी खींच-तान रही ॥ १२६ उ०-१२७ ॥

इससे उसका हृदय अत्यन्त क्लेशमें डूबा रहा, सुख तो लेशमात्र भी उसे नहीं मिला। कभी तो उसके पाँचों पुत्र उसे इधर-उधर घसीटते ॥ १२८ ॥

क्वचिच्चपलयात्यन्तं चालितः खेदमीयिवान् ।
क्वचिन्महाशनाहेतोरशनार्थं प्रधावति ॥ १२९ ॥

क्वचिज्ज्वालामुखाक्षिप्तो निर्दग्धापादमस्तकः ।
महामूर्छां समायाति चाविदंस्तत्प्रतिक्रियाम् ॥ १३० ॥

निन्द्यवृत्तं क्वचित् प्राप्य गर्हितो भर्त्सितः परैः ।
मृततुल्यं स्वमात्मानं मन्यते शोकसन्ततः ॥ १३१ ॥

दुष्पत्नीपुत्रसहितो मोहितो दुष्कुलोद्भवः ।
पत्नीपुत्रैः समाक्रान्तो नीयमानस्तु तैः सदा ॥ १३२ ॥

उवास तैर्विचित्रेषु पुरेषूच्चावचेषु हि ।
क्वचित् कान्तारकीर्णेषु क्रव्यादाकुलभूमिषु ॥ १३३ ॥

क्वचिदत्यन्ततप्तेषु क्वचिच्छीतजडेषु च ।
क्वचित् पूतिवहास्थेषु क्वचिद्गाढतमःसु च ॥ १३४ ॥

कभी चपलाके कारण अत्यन्त चंचल होकर उसे महान् दुःख मिलता, कभी महाशनाके कारण वह उसके भोगोंके लिये दौड़-धूप करता रहता ॥ १२९ ॥

कभी ज्वालामुखकी लपेटमें आ जानेसे उसे एड़ीसे चोटीतक ऐसा दाह होता कि घोर मूर्च्छा हो जाती और उसकी कोई चिकित्सा भी न सूझती ॥ १३० ॥

कभी निन्द्यवृत्तका सम्पर्क होनेपर दूसरोंके द्वारा उसे निन्दा और अपमान सहने पड़ते; जिनके कारण शोकाकुल होकर वह अपनेको मृतकतुल्य ही समझता ॥ १३१ ॥

उन दुष्ट पत्नी और पुत्रोंके साथ वह दुष्ट कुलमें उत्पन्न हुआ अस्थिर पत्नी और पुत्रोंसे घिरा तथा सर्वदा उन्हींके द्वारा ले जाया जाता अनेकों प्रकारकी ऊँच-नीच पुरियोंमें रहा ॥ १३२–१३३ पू० ॥

कभी वह वनोंसे व्याप्त एवं मांसभक्षी जीवोंसे पूर्ण भूमियोंमें, कभी अत्यन्त तप्त और कभी शीतसे ठिठुरा देनेवाले प्रदेशोंमें, तथा कभी गन्दी नालियों और कभी घोर अन्धकारमें भटकता रहा ॥ १३३ उ०–१३४ ॥

एवं भूयोऽतिदुःखेन दुःखितं तनयेऽस्थिरे ।
सखी च मे दुःखमूढाऽभवद् दुःसङ्गता सदा ॥ १३५ ॥
स्वभावसत्यपि शुधा तामन्वहमपि प्रिय ।
मूढेवात्यन्तमभवं तत्कुटुम्बपरायणा ॥ १३६ ॥
को हि दुःसङ्गतः सौख्यं प्राप्नुयाल्लेशतः क्वचित् ।
गच्छन् मरुस्थले ग्रीष्मे तृष्णाशान्ति ययौ नरः ॥ १३७ ॥
एवं चिरतरे काले संवृत्ते मम सा सखी ।
मोहितात्यन्तखेदेन मया रहसि सङ्गता ॥ १३८ ॥
मदेकसङ्गाद्युक्तिं सा प्राप्यासाद्य च सत्पतिम् ।
जित्वा स्वतनयं हत्वा बद्ध्वा तत्तनयादिकान् ॥ १३९ ॥

इस प्रकार दुःसंगमें पड़ी मेरी सखी अपने पुत्र अस्थिरके अत्यन्त दुःखसे आतुर होनेपर स्वयं भी सर्वदा दुःखविमूढ रहने लगी ॥ १३५ ॥

प्रियतम ! मैं यद्यपि स्वभावसे तो शुद्ध थी, परन्तु उसके कुटुम्ब की अनुगामिनी होनेके कारण उसके साथ व्यर्थ ही अत्यन्त मूढ-सी हो गयी ॥ १३६ ॥

भला दुःसंगमें पड़कर ऐसा कौन है जो कभी सुख प्राप्त कर सके ? ग्रीष्म ऋतुमें मरुस्थलमें जाकर भी क्या किसी व्यक्तिकी प्यास बुझी है ? ॥ १३७ ॥

इस प्रकार बहुत समय बीत जानेपर जब मेरी वह सखी अत्यन्त खेदसे खिन्न हो गयी तो एक दिन एकान्तमें मुझसे मिली* ॥१३८॥

एकमात्र मेरा ही संग होनेपर उसे जो युक्ति[1] मिली उससे उसने एक सत्पति[2] प्राप्त किया । फिर [उसकी सहायतासे] उसने अपने पुत्र अस्थिरको जीता तथा उसके पुत्रादिमेंसे किन्हींको[3] मार डाला और किन्हींको[4] बाँध लिया ॥ १३९ ॥

---

* 'एकान्त में' अर्थात् विषयावभाससे रहित हो 'मुझसे मिली' अर्थात् शुद्ध चिदाकार हो गयी ।

१. वैराग्य । २. विवेक । ३. क्रोध और लोभको ।

४. पाँच ज्ञानेन्द्रियोंको ।

मया सङ्गम्य मन्मातृपुरमासादयद् द्रुतम् ।
मन्मातरं परिष्वज्य मुहुर्मुहुरकल्मषा ॥ १४० ॥
आनन्दार्णवनिर्मग्नस्वभावाऽभवदञ्जसा ।
एवं त्वमपि दुर्वृत्तं निगृह्य सखिसम्भवम् ॥ १४१ ॥
प्राप्य स्वमातरं नाथ सुखं नित्यं समाप्नुहि ।
एतत्ते कथितं नाथ स्वानुभूतं सुखास्पदम् ॥ १४२ ॥

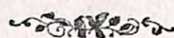
इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे हेमचूडोपाख्याने
बन्धाख्यायिका पञ्चमोऽध्यायः ।



मेरा साथ होनेपर वह तुरन्त ही मेरी माताके नगरमें आ [1]गयी और मेरी माताका पुनः पुनः आलिंगन करके निष्पाप हो गयी ॥१४०॥

फिर तो सहज ही में उसका आनन्दसमुद्रमें मग्न रहनेका स्वभाव हो गया । हे नाथ ! इसी प्रकार आप भी मेरी सखीके दुराचारी पुत्र[2]का दमन करके अपनी [3]मातासे भेंट कर नित्य सुख प्राप्त करें । स्वामिन् ! यह मैंने अपने अनुभव किये हुए सुखस्थानका वर्णन किया है ॥ १४१-१४२ ॥

पंचम अध्याय समाप्त ।



१. शुद्ध चित्स्वरूपसे स्थित हो गयी ।
२. मन ।
३. शुद्धचिति ।

षष्ठोऽध्यायः

एवं प्रियावचः श्रुत्वा हेमचूडोऽतिविस्मितः ।
हसन् पप्रच्छ तां कान्तामविद्वान् विदुषीं तदा ॥ १ ॥
प्रिये प्रोक्तं यदेतत्ते खचित्रमिव भाति मे ।
निरालम्बं ………… जानाम्येतदशेषतः ॥ २ ॥
नूनं तदप्सरोद्भूता ऋषिणा वर्द्धिता वने ।
संस्पृष्टयौवनाद्यापि न तारुण्यमलङ्कृता ॥ ३ ॥
वक्ष्यस्यनेकसाहस्रवर्षाणामिव संस्थितिम् ।
भूतग्रस्तोक्तिसदृशवचसा तेऽतिमात्रतः ॥ ४ ॥
असन्दर्भेण किमहं विबुद्ध्यामि यथार्थतः ।
वदते सा सखी क्वास्ते बद्धश्च सखि पुत्रकः ॥ ५ ॥

षष्ठ अध्याय ॥ ६ ॥

हेमचूडका अविश्वास, हेमलता-द्वारा श्रद्धा-विश्वासकी प्रशंसा

अपनी प्रियतमाके ऐसे वचन सुनकर हेमचूडको बड़ा विस्मय हुआ । वह तत्त्वज्ञा है—यह बात वह नहीं जानता था । अतः उसने हँसकर उससे पूछा ॥ १ ॥

"प्रिये ! तुमने जो कुछ कहा है वह मुझे आकाशमें भासते हुए चित्रके समान जान पड़ता है । मैं तो इसे सर्वथा निराधार समझता हूँ ॥ २ ॥

तुम्हारा जन्म उस अप्सरासे ही तो हुआ है, और ऋषिजीने तुम्हें पाल-पोषके बड़ा किया है । अभी यौवनका तो तुम्हें स्पर्श ही हुआ है, हाँ, तरुणाई (किशोरावस्था) पूरी हो चुकी है ॥ ३ ॥

तो भी तुम अपनी सहस्रों वर्षोंकी स्थिति बतला रही हो । तुम्हारी बातोंसे तो तुम्हारा कथन बहुत-कुछ भूतग्रस्तोंका-सा जान पड़ता है ॥ ४ ॥

तुम्हारे कथनका कोई मेल नहीं है, फिर मैं ठीक-ठीक क्या समझूँ ? बताओ, तुम्हारी वह सखी कहाँ है और उसके द्वारा बाँधा हुआ उसका पुत्र कौन है ? ॥ ५ ॥

पुराणि तानि वा कुत्र संस्थितानि तदीरय।
अस्तु किं तेन वृत्तेन वद मे क्व च सा सखी ॥ ६ ॥
सखीं न प्राप्तवान् मातुरहं तत् प्रतिचारय।
आर्यास्ति मेऽवरोधे स्वे पितुर्मेऽन्या नहि प्रिया ॥ ७ ॥
सा वा सखी मे कुत्रास्ते तत्पुत्रो वा वद द्रुतम्।
मन्येऽहं ते वचो लोके वन्ध्यापुत्रसमाश्रयम् ॥ ८ ॥
यथाह कश्चिन्नटीको विदूषकवचोविधौ।
वन्ध्यापुत्रः समारूढः प्रतिबिम्बमहारथम् ॥ ९ ॥
शुक्त्यारोपितहैरण्यभूषणैर्भूषिताङ्गकः।
आयुधैर्नरशृङ्गोत्थैर्युद्ध्वा गगनकानने ॥ १० ॥
हत्वा भविष्यद्राजानं जित्वा गन्धर्वपत्तनम्।
मरीचिस्रोतसि स्वाप्नकामिनीभिर्हि खेलति ॥ ११ ॥

यह भी बताओ, वे नगर कहाँ हैं। अथवा और सब बातें रहने दो, मुझे केवल इतना बता दो वह सखी कहाँ है ॥ ६ ॥

माताजीसे मुझे तो कोई सखी नहीं मिली। मेरी माताजी अपने महलमें हैं, तुम उनसे पूछ लो। उनसे भिन्न मेरे पिताजीकी कोई और स्त्री नहीं है ॥ ७ ॥

इसलिये शीघ्र ही बताओ मेरी वह सखी तथा उसका पुत्र कहाँ हैं। मुझे तो तुम्हारी बात लोकमें वन्ध्यापुत्रके समान अलीक जान पड़ती है ॥ ८ ॥

[तुम्हारा कथन ऐसा ही है] जैसे विदूषककी भूमिकाका अभिनय करते समय कोई नाटकका पात्र कहे—"एक वन्ध्यापुत्र प्रतिबिम्बके महान् रथपर चढ़ा हुआ है ॥ ९ ॥

उसने सीपीमें आरोपित सुवर्णके आभूषणोंसे अपने सब अंग सजाये हुए हैं। मनुष्यके सींगोंसे बने हुए शस्त्रोंसे आकाशमें प्रतीत होनेवाले वनमें युद्ध करके उसने एक भावी राजाका वध किया और गन्धर्वनगरको जीतकर मरुमरीचिकाके स्रोतमें स्वप्नकी स्त्रियोंके साथ क्रीडा कर रहा है ॥ १०-११ ॥

तथा तव वचो मन्ये सर्वथाऽसङ्गतं ननु ।
श्रुत्वैवं प्रियवाक्यं सा चतुरा प्राह तं पुनः ॥ १२ ॥
नाथ प्रोक्तं मया यत्ते तत् कथं स्यादपार्थकम् ।
न मादृशानां वचनं निरालम्बं क्वचिद्भवेत् ॥ १३ ॥
मृषा हि तपसां हन्त्री सत्यशीलेषु सा कुतः ।
तपस्विनां कुले कस्मांश्चित्रे सौन्दर्यवद्भवेत् ॥ १४ ॥
यो योजयति जिज्ञासुमन्यार्थेन ह्यसत्यतः ।
तस्य नोर्ध्वं न चाधस्ताल्लोकेऽस्ति सुखसाधनम् ॥ १५ ॥
शृणु राजसुतोक्तिं मे लोके तैमिरिकः क्वचित् ।
समदृष्टिं नैति शीघ्रमञ्जनानां वचोगणैः ॥ १६ ॥
असत्यमेव जानाति हितप्रोक्तं च मूढधीः ।
तत्त्वां प्रियाहं जिज्ञासुमसत्यैर्योजयामि किम् ॥ १७ ॥

मैं तो तुम्हारे कथनको इसी प्रकार सर्वथा असंगत मानता हूँ।" प्रियतमकी यह बात सुनकर उस चतुर नारीने उससे पुनः कहा ॥१२॥

"नाथ ! मैंने आपसे जो कुछ कहा है वह असंगत कैसे हो सकता है। मुझ-जैसों का भाषण निराधार कभी नहीं हो सकता ॥ १३ ॥

मिथ्या भाषण तो तपस्याको नष्ट करनेवाला है। तपस्वियोंके कुलमें उत्पन्न हुए सत्यनिष्ठ व्यक्तियोंमें वह कोढ़में सुन्दरताके समान कैसे रह सकता है ? ॥ १४ ॥

जो पुरुष असत्य बोलकर किसी जिज्ञासुको दूसरे विषयोंमें लगा देता है उसे ऊपर और नीचेके किसी लोकमें सुखकी उपलब्धि नहीं होती ॥ १५ ॥

राजकुमार ! मेरी बातपर ध्यान दो। देखो, लोकमें जिसे तिमिर रोग हो गया हो उसे अञ्जनवाचक शब्दोंको उच्चारण करनेसे ही शुद्ध दृष्टि नहीं मिल जाती ॥ १६ ॥

मूढबुद्धि पुरुष तो हितकी बातको भी असत्य ही समझते हैं। भला, आपकी प्रिया होकर भी आप जिज्ञासुको मैं असत्यके साथ कैसे जोड़ सकती हूँ ॥ १७ ॥

अप्यसत्यं मयोक्तं यत्तद्विमर्शय सद्धिया ।
लोके हि कुशलो मर्त्यः सर्वव्यवहृतौ ननु ॥ १८ ॥
परीक्ष्यैकांशतः सर्वामभिजानाति संस्थितिम् ।
निदर्शनं प्रदास्यामि तुभ्यमत्र समीक्षया ॥ १९ ॥
यः पुरा विषयः सर्वो बभूवाभीष्टसाधनम् ।
चिरान्मद्वचनात् सोऽद्य कुतो न सुखसाधनम् ॥ २० ॥
स एवाद्य साधयति सुखमन्येषु वै कुतः ।
एतन्निदर्शनेनैव स्वमतं वेत्तुमर्हसि ॥ २१ ॥
शृणु राजन् यद्धि वरं ऋज्वा निर्मलया धिया ।
अनाश्वासो रिपुलोको भवेदाप्तोक्तिषु स्थिरः ॥ २२ ॥
श्रद्धा माता प्रपन्नं स वत्सलेव सुतं सदा ।
रक्षति प्रौढभीतिभ्यः सर्वथा नहि संशयः ॥ २३ ॥

यदि मेरी कही हुई बात झूठी भी हो तो भी आप अपनी सूक्ष्म बुद्धिसे इसपर विचार करें । लोकमें मनुष्य तो सभी प्रकारके व्यवहारमें कुशल होता है ॥ १८ ॥

वह केवल एक अंशकी ही परीक्षा करके सारी परिस्थितिको जान लेता है । विचार करनेके लिये आपको मैं एक अनुभवका स्मरण कराती हूँ ॥ १९ ॥

पहले चिरकालसे जो विषय आपके लिये सुखके साधन बने हुए थे, मेरी बातें सुनकर अब वे क्यों सुखदायक नहीं रहे ? ॥ २० ॥

वे ही इस समय भी दूसरोंको सुख क्यों देते हैं ? इतने अनुभवसे ही आप मेरे कथनके विषयमें अपना निर्णय समझ सकते हैं ॥ २१ ॥

राजन् ! जो श्रेष्ठ वचन है उसे सरल भावसे सुनिये । विश्वसनीय पुरुषोंके वचनोंमें विश्वास न करना—यह अपना पक्का शत्रु ही है ॥ २२ ॥

श्रद्धा साक्षात् माता है । जो उसकी शरण लेता है वह स्नेहमयी अपने बच्चेकी तरह सर्वदा उसकी बड़ीसे बड़ी आपत्तियोंसे रक्षा करती है—इसमें सन्देह नहीं ॥ २३ ॥

आप्तेष्वश्रद्धितं मूढं जहाति श्रीः सुखं यशः।
स भवेत् सर्वतो हीनो यः श्रद्धारहितो नरः ॥ २४ ॥
श्रद्धा हि जगतां धात्री श्रद्धा सर्वस्य जीवनम्।
अश्रद्धो मातृविषये बालो जीवेत् कथं वद ॥ २५ ॥
अश्रद्धस्तरुणः पत्न्यां कथं स सुखमेधते।
तथापत्येषु स्थविरः कथमीयात् सतीं गतिम् ॥ २६ ॥
अश्रद्धो वा भुवं कस्माद् विकर्षेत् कर्षकः किल।
न प्रवृत्तिर्भवेत् क्वापि त्यागे वा सङ्ग्रहेऽपि वा ॥ २७ ॥
श्रद्धावैधुर्ययोगेन विनश्येज्जगतां स्थितिः।
एकान्तग्रहणाल्लोकप्रवृत्तिरिति चेच्छृणु ॥ २८ ॥
एकान्तग्रहणे वापि श्रद्धा कस्मात् प्रतिष्ठिता।

जो मूर्ख आप्तपुरुषोंमें श्रद्धा नहीं करता उसे श्री, सुख और यश त्याग देते हैं। जो पुरुष श्रद्धाहीन है वह सभी तरहसे हीन हो जाता है॥ २४ ॥

श्रद्धा सम्पूर्ण संसारको धारण (पालन) करनेवाली है, श्रद्धा ही सबका जीवन है। बताइये, यदि मातापर विश्वास न हो तो बालक कैसे जीवित रहे ॥ २५ ॥

यदि युवा पुरुष अपनी पत्नीमें विश्वास न करे तो उसे सुख कैसे मिल सकता है और यदि वृद्धका बालकोंमें विश्वास न हो तो वह भी कैसे चैनसे रह सकता है ॥ २६ ॥

किसानको यदि [आगामी धान्यप्राप्तिमें] विश्वास न हो तो वह भूमिको कैसे जोतेगा ? विश्वास न होनेपर तो त्याग या संग्रह किसीमें भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती ॥ २७ ॥

श्रद्धा या विश्वासका अभाव हो जानेपर तो जगत्की स्थिति ही नष्ट हो जायगी। यदि कहो कि संसारका व्यवहार तो व्याप्तिग्रहण[1]से होता है, तो सुनो ॥ २८ ॥

व्याप्तिग्रहणमें भी भला, क्यों विश्वास होता है [क्योंकि समान

---

१. जो बात एक परिस्थितिमें प्रत्यक्ष देखी जाती है, वैसी ही परिस्थिति आने पर वह उसी प्रकार होगी--इसका नाम 'व्याप्तिग्रहण' है।

तत्राप्येकान्तशरणः श्रद्धाशरण एव हि ॥ २९ ॥
तस्माच्छ्रद्धामृते लोकोऽवसीदेदश्वसन् ध्रुवम् ।
तस्माच्छ्रद्धां दृढां प्राप्य सुखमात्यन्तिकं व्रज ॥ ३० ॥
श्रद्धाऽवरे न कार्येति मन्यसे यदि तच्छृणु ।
इयञ्च श्रद्धयैवास्ते प्रवृत्तिर्नृपतेः सुत ॥ ३१ ॥
तत् कथं ते प्रवृत्तिः स्यादिति श्रुत्वा प्रियावचः ।
हेमचूडः प्राह पुनः प्रियां कुशलभाषिणीम् ॥ ३२ ॥
नूनं प्रिये सर्वथैव श्रद्धातव्यं यदा भवेत् ।
श्रद्धा सत्सु विधातव्या यथा श्रेयः समाप्नुयात् ॥ ३३ ॥
असत्सु नो विधातव्या श्रद्धा श्रेयोऽभिवाञ्छिना ।
अन्यथान्तः सुनिशिते कुटिले बडिशे यथा ॥ ३४ ॥

परिस्थितिमें परिणाम भी समान ही होगा—यह भी श्रद्धा या विश्वास ही है ।] वहाँ भी व्याप्तिग्रहणका आश्रय लेना तो श्रद्धाका आश्रय लेना ही है ॥ २९ ॥

अतः यह निश्चय है कि श्रद्धाके विना तो श्वास लेते भी नहीं बनेगा और लोक नष्ट हो जायगा । इसलिये आप सुदृढ़ श्रद्धा सम्पादन करके आत्यन्तिक सुख प्राप्त करें ॥ ३० ॥

यदि आप सोचते हों कि [स्त्री-मूर्ख आदि] निकृष्ट व्यक्तियोंमें तो विश्वास नहीं करना चाहिये, तो राजकुमार ! सुनिये, आपकी ऐसी प्रवृत्ति भी तो विश्वासके आधारपर ही होती है । नहीं तो आपको ऐसा विचार भी कैसे हो सकता था ।" अपनी प्रियाका ऐसा भाषण सुनकर हेमचूडने उस हितकर भाषण करनेवाली प्रियतमासे पुनः कहा ॥ ३१–३२ ॥

"प्रिये ! [तुम्हारे कथनानुसार] यदि श्रद्धा करना सर्वथा अनिवार्य ही हो तो भी सत्पुरुषोंमें ही श्रद्धा करनी चाहिये, जिससे कि श्रेयकी प्राप्ति हो ॥ ३३ ॥

जिसे श्रेयकी इच्छा हो उसे असत्पुरुषोंमें विश्वास नहीं करना चाहिये, नहीं तो बाहरसे सरल और भीतरसे टेढ़ी एवं तीक्ष्ण बडिश

बहिः समे सुपिष्टेन मीनानां नाशमाप्नुयात्।
तस्मात् सत्स्वेव कर्त्तव्या श्रद्धा नासत्सु कुत्रचित् ॥ ३५ ॥
असत्सु कृत्वा श्रद्धां ये नाशमीयुः परेऽपि च।
सत्सु श्रेयोयुजः श्रद्धावशतस्ते निदर्शनम् ॥ ३६ ॥
अतः प्रतीत्यैव युक्ता कर्त्तुं श्रद्धा न चान्यथा।
तत् कथं ते प्रवृत्तिः स्यादिति प्रश्नः कथं तव ॥ ३७ ॥
इत्युक्ता हेमलेखा सा पुनराह पतिं प्रियम्।
शृणु राजकुमारेदं प्रोच्यमानं मया वचः ॥ ३८ ॥
यदात्थ त्वं कथं प्रश्न इति तत्र ब्रवीमि ते।
अथ सन् वा ह्यसन् वायमिति ते निश्चयः कुतः ॥ ३९ ॥
सत्यस्मिन् निश्चये भूयाच्छुभं सच्छ्रद्धयेह वै।
सोऽपि लक्षणतः स्याच्चेच्छ्रद्धा लक्षणसङ्गता ॥ ४० ॥

(बंसी) पर विश्वास करनेवाली मछलियोंके समान नष्ट होनेका प्रसंग उपस्थित होगा। अतः सत्पुरुषोंपर ही श्रद्धा करे, किन्हीं भी असत्पुरुषोंपर नहीं ॥ ३४-३५ ॥

यह बात, असत्पुरुषोंपर श्रद्धा करनेसे जो नाशको प्राप्त हुए हैं और सत्पुरुषोंपर श्रद्धा करनेसे जो कल्याणके भागी हुए हैं, उन्हें सूचित करनेके लिये दृष्टान्तरूप है ॥ ३६ ॥

इसलिये पहले परखकर ही श्रद्धा करनी उचित है, अन्यथा नहीं। ऐसी स्थितिमें 'श्रद्धा किये बिना तुम्हारा व्यवहार कैसे हो सकता है' तुम्हारा यह प्रश्न कैसे सम्भव है ?" ॥ ३७ ॥

इस तरह पूछे जानेपर हेमलेखाने अपने प्रिय पतिसे पुनः कहा, "राजकुमार ! मैं जो बात कहती हूं वह सुनिये ॥ ३८ ॥

आपने जो कहा कि तुम्हारा प्रश्न कैसे हो सकता है, उसमें मेरा कथन यह है कि आप यह निश्चय कैसे करते हैं कि अमुक पुरुष अच्छा है या बुरा ॥ ३९ ॥

यह निश्चय हो जानेपर ही इस बातका निर्णय हो सकेगा कि सत्पुरुषमें श्रद्धा करनेसे ही हित हो सकता है। यदि कहें कि इसका निश्चय लक्षणोंसे होता है तब तो श्रद्धा लक्षणोंके अधीन हुई। [अब यह प्रश्न होता है कि लक्षणोंका ज्ञान कैसे हो ?] ॥ ४० ॥

प्रमाणाल्लक्षणज्ञानमिति चेत्तत्र संशृणु ।
अश्रद्धस्य प्रमाणं किं भवेत्तत् सुनिरूप्यताम् ॥ ४१ ॥
अन्यथा हि प्रमाता नोऽविसंवाद्येत कुत्रचित् ।
तस्माच्छ्रद्धां समाश्रित्य लोकः सर्वः प्रवर्त्तते ॥ ४२ ॥
तत्प्रकारं प्रवक्ष्यामि शृणु निश्चलचेतसा ।
अनवस्थिततर्को वा ह्यतर्को वापि सर्वथा ॥ ४३ ॥
श्रेयो न प्राप्नुयाल्लोक इह वापि परत्र वा ।
तत्रातर्कस्य कालेन भवेच्छ्रेयः कदाचन ॥ ४४ ॥
अनवस्थिततर्कस्य न श्रेयः स्यात् कथञ्चन ।
पुरा सह्यगिरौ गोदावरीतीरे हि कौशिकः ॥ ४५ ॥
न्यवसच्छान्तसुमतिर्ज्ञातलोकः सतत्त्वकः ।
तस्य शिष्यास्तु शतशः स्थिता गुरुसमाश्रयात् ॥ ४६ ॥

यदि कहें कि लक्षणोंका ज्ञान [शास्त्रवचन आदि] प्रमाणसे हो सकता है, तो सुनिये। जिसे श्रद्धा है ही नहीं उसके लिये प्रमाण क्या हो सकता है—यह बताइये ॥ ४१ ॥

[यदि आगमको ही विश्वसनीय प्रमाण न माना जाय, दूसरोंके कथनको भी प्रमाणरूप मान लें] तबतो प्रमाताका कोई भी बात अविश्वसनीय नहीं जान पड़ेगी। अतः सब लोग श्रद्धाका आश्रय लेकर ही चल रहे हैं ॥ ४२ ॥

मैं आपको श्रेयःप्राप्तिका प्रकार समझाती हूँ, स्थिरचित्त होकर सुनिये। जो पुरुष शुष्क तर्क करता है और जो बिलकुल तर्क नहीं करता उसका इस लोक या परलोकमें कल्याण नहीं हो सकता ॥४३–४४ पू० ॥

उनमेंसे भी तर्क न करनेवालेका तो कभी कल्याण हो भी सकता है, परन्तु शुष्क तर्क करनेवालेका तो किसी प्रकार कल्याण होना सम्भव नहीं है ॥ ४४ उ०–४५ पू० ॥

पूर्वकालमें सह्यपर्वतकी ओर गोदावरीके तीरपर कौशिक मुनि रहते थे। वे बड़े शान्त, सुमति और संसारके रहस्य (वास्तविक स्वरूप) को जाननेवाले थे। अपने गुरुदेवका आश्रय पाकर उनके सैंकड़ों शिष्य भी वहीं रहते थे ॥ ४५ उ०–४६ ॥

त एकदा गुरुमनुगता लोकस्य संस्थितिम्।
निर्णेतुं बुद्ध्यनुगुणं तदा प्रोचुः परस्परम्॥ ४७॥
तत्राजगाम शुङ्गाख्यो विप्रः कश्चिन्महाबुधः।
स सर्वेषां मतं प्रोक्तं दूषयद् बुद्धिकौशलात्॥ ४८॥
अश्रद्धया हतप्रज्ञो विवादनिपुणस्तदा।
प्रमाणात् प्रमितं सत्यमित्युक्तेषु द्विजेष्वथ॥ ४९॥
अनवस्थिततर्को वै प्राह तर्कैकसंश्रयः।
शुङ्गाख्य आक्षिपन् सर्वान् तत्र वादकथान्तरे॥ ५०॥
विप्राः शृणुध्वं मद्वाक्यं सत्यं न क्वापि सिध्यति।
प्रमितं यत् प्रमाणेन तत् सत्यमिति हीरितम्॥ ५१॥
तत्र तेन दोषयुजा भवेदप्रमितं ननु।
निश्चेतव्या ततस्त्वादौ प्रमाणानामदुष्टता॥ ५२॥

एक दिन गुरुदेवकी अनुपस्थितिमें वे शिष्यगण संसारके स्वरूपका निर्णय करनेके लिये आपसमें मिलकर अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार प्रतिपादन करने लगे॥ ४७॥

इतने हीमें वहाँ शुङ्ग नामका एक बुद्धिमान् ब्राह्मण आया। उसने अपने बुद्धिकौशलसे उनके कहे हुए सभी मतोंको सदोष सिद्ध कर दिया॥ ४८॥

शास्त्रोंपर श्रद्धा न होनेके कारण उसकी बुद्धि (विवेकशक्ति) नष्ट हो चुकी थी। तथापि विवाद (शुष्क तर्क) करनेमें वह बहुत कुशल था। जब शिष्योंने कहा कि जो बात प्रमाणसे सिद्ध हो वही सत्य है तो उस विचारगोष्ठीमें वह शुष्क तर्क करनेवाला शुङ्ग केवल तर्कका आश्रय लेकर बोला—॥ ४९-५०॥

“ब्राह्मणो! मेरी बात सुनो। आप लोगोंने कहा कि जो प्रमाणसे सिद्ध हो वह सत्य है। सो इस प्रकार तो सत्य कभी सिद्ध ही नहीं हो सकता॥ ५१॥

क्योंकि यदि प्रमाण दोषयुक्त होगा तो उसके द्वारा होनेवाला निर्णय अप्रामाणिक होगा। इसलिये सबसे पहले तो प्रमाणोंकी निर्दोषताका निर्णय करना चाहिये॥ ५२॥

सा प्रमाणान्तरकृता तत्राप्येवं विचिन्त्यताम् ।
इत्येवमनवस्थानात् न किञ्चित् प्रमितं भवेत् ॥ ५३ ॥
अतः प्रमाता प्रमितं प्रमाणं वा न सिध्यति ।
तस्माच्छून्याश्रयो ह्येष विकल्पो विविधः स्थितः ॥ ५४ ॥
सोऽपि शून्यात्मतां प्राप्तः प्रमाणाविषयत्वतः ।
तस्माच्छून्यं न किञ्चित् स्यादित्येष प्रविनिर्णयः ॥ ५५ ॥
इति शुक्लवचः श्रुत्वा तेषु केचिद् द्विजाधमाः ।
तं श्रिता निश्चयाभासं बभूवुः शून्यवादिनः ॥ ५६ ॥
विनाशमीयुस्तन्निष्ठाः शून्यभावं परं गताः ।
ये द्विजाः सारहृदयास्ते शुक्लस्य प्रभाषितम् ॥ ५७ ॥
निरूप्य कौशिके तेन समाहितहृदोऽभवन् ।
तस्मात् सर्वात्मना त्यक्त्वा तर्कं तमनवस्थितम् ॥ ५८ ॥

और उस निर्दोषताका निश्चय होगा अन्य प्रमाणोंसे। फिर उन प्रमाणोंकी निर्दोषताके विषयमें भी इसी प्रकार विचार करना होगा। इस तरह अनवस्थाका प्रसंग उपस्थित होनेके कारण कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकेगा ॥ ५३ ॥

अतः प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण सिद्ध ही नहीं हो सकते। इसलिये यह जो अनेक प्रकारका आभास प्रतीत हो रहा है उसका आश्रय केवल शून्य ही है ॥ ५४ ॥

वह शून्य भी प्रमाणका विषय न होने के कारण शून्यरूप (अभाव-मात्र) ही है। अतः अन्तिम निर्णय यही है कि यह शून्य भी कुछ नहीं है" ॥ ५५ ॥

शुक्लके ये वचन सुनकर उनमेंसे कुछ अधम ब्राह्मण उसीके इस आभासमात्र निर्णयको मानकर शून्यवादी हो गये। शून्यमें निष्ठा होनेके कारण वे स्वयं भी अत्यन्त शून्यभाव (जडता) को प्राप्त होकर नष्ट ही हो गये [अपने वास्तविक स्वरूपकी प्राप्ति उन्हें नहीं हुई] ॥ ५६–५७ पू० ॥

किन्तु जो शिष्य विचारशील थे उन्होंने शुक्लका कथन कौशिक मुनिके आगे निवेदन किया और उनसे उन्हें उसका समाधान मिल गया ॥ ५७ उ०–५८ पू० ॥

सदा सदागमायत्ततर्कः श्रेयः समाप्नुयात्।
इति प्रोक्तो हेमचूडः प्रिययात्यन्तधीरया ॥ ५९ ॥
पुनः पप्रच्छ चात्यन्तविस्मितस्तां महाशयाम्।
अहो प्रिये ते वैदुष्यमीदृशं नाविदं पुरा ॥ ६० ॥
धन्यासि त्वमहञ्चापि धन्यो यस्त्वामुपागतः।
ब्रवीषि श्रद्धया सर्वं श्रेयःसिद्धिर्हि तत् कथम् ॥ ६१ ॥
कुत्र श्रद्धा विधातव्या कुत्र वा सा न शस्यते।
आनन्त्यादागमानां वै विरुद्धार्थसमाश्रयात् ॥ ६२ ॥
आचार्यमतभेदाच्च व्याख्यातृमतभेदतः।
स्वबुद्धेरनवस्थानात् किमादेयं न वापि किम् ॥ ६३ ॥
यद्यस्याभिमतं तत् स वदत्येव सुनिश्चितम्।
अन्यच्चाप्यव्यवसितं हानिप्रदमपि प्रिये ॥ ६४ ॥

इसलिये शुष्क तर्कको सर्वथा त्यागकर जो सर्वदा शास्त्रानुसारी तर्क करता है उसे ही कल्याणकी प्राप्ति होती है" ॥ ५८ उ०-५९ पू० ॥

अपनी अत्यन्त बुद्धिमती प्रियाके इस प्रकार कहनेपर हेमचूडने अत्यन्त विस्मित होकर उस उदार हृदयवाली देवीसे पूछा ॥ ५९ उ०-६० पू० ॥

"अहो प्रिये! तुममें इतनी विद्वत्ता है—यह बात मैं पहले नहीं जानता था। तुम धन्य हो और मैं भी धन्य हूँ, जिसे तुम्हारा सत्संग मिला। तुम कहती हो कि सम्पूर्ण श्रेयकी सिद्धि श्रद्धासे ही होती है, सो ऐसा कैसे हो? ॥ ६० उ०-६१ ॥

कहाँ तो श्रद्धा करनी चाहिये और कहाँ उसे करना उचित नहीं है? क्योंकि शास्त्र तो अनन्त हैं और उनके अभिप्रायोंमें भी विरोध है ॥ ६२ ॥

इसके सिवा आचार्योंमें भी मतभेद है, शास्त्रकी व्याख्या करनेवालोंके मत भी भिन्न-भिन्न हैं और अपनी बुद्धि भी सदा एक-सी नहीं रहती। अतः किस बातको स्वीकार किया जाय और किसे नहीं? ॥६३॥

प्रिये! जिस आचार्यको जो मत मान्य है उसे वह सर्वथा निश्चित रूपसे ही कहता है तथा अन्य सिद्धान्तोंको अनिश्चित एवं हानिप्रद भी बताता है ॥ ६४ ॥

तत्रैवं सति नैवान्तं कश्चिदत्रापि गच्छति ।
यः शून्यमाह तत्त्वं सोऽप्यशून्यं दूषयेत् परम् ॥ ६५ ॥
अश्रद्धेयं कुतो वा तत् सङ्गतं चागमेन हि ।
एतद् ब्रूहि प्रिये सम्यग् न ह्येतत्तेऽस्त्यचिन्तितम् ॥६६॥

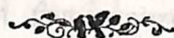
इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे हेमचूडोपाख्याने
श्रद्धाप्रशंसनं नाम षष्ठोऽध्यायः ।



ऐसी स्थितिमें अन्तिम निर्णयतक इन शास्त्रादिमें से भी कोई पहुँच नहीं पाता । जो शून्यको ही तत्त्व बताता है वह भी अपने विरोधी अशून्यको सदोष सिद्ध करता ही है ॥ ६५ ॥

उनका कथन भी उनके शास्त्रसे संगत है ही, अतः उसे भी अविश्वसनीय कैसे कहें ? इसपर तुमने विचार न किया हो—ऐसी बात है नहीं, इसलिये प्रिये ! मुझे यह अच्छी तरह समझाकर कहो" ॥ ६६ ॥

षष्ठ अध्याय समाप्त ।



सप्तमोऽध्यायः

इति पृष्टा हेमलेखा भर्त्रा प्रियतरेण सा ।
प्रोवाच विदुषी सम्यग् विज्ञातलोकसंस्थितिः ॥ १ ॥
शृणु वक्ष्ये प्रियतम स्थिरशान्त समादरात् ।
मनो हि मर्कटप्रायमस्थिरं सर्वदैव तत् ॥ २ ॥
यत एवं महानर्थं प्राप्तवान् प्राकृतो जनः ।
चलन्मनः सर्वदुःखनिदानं दृष्टमेव हि ॥ ३ ॥
यतः सुषुप्तौ चलनाभावाद्विन्दति वै सुखम् ।
तस्मान्मनः स्थिरीकृत्य शृणु यत्ते ब्रवीम्यहम् ॥ ४ ॥
अनादरेण श्रुतञ्च भवेदश्रुतसम्मितम् ।
अफलं स्यात्तदत्यन्तं यथा चित्रतरुश्रयः ॥ ५ ॥

सप्तम अध्याय ॥ ७ ॥

विचार, ईश्वर तथा निष्काम उपासनाके स्वरूपका निर्णय

अपने प्रियतम पतिके इस प्रकार प्रश्न करनेपर संसारके स्वरूपको अच्छी तरह पहचाननेवाली विदुषी हेमलेखा कहने लगी ॥ १ ॥

"प्रियतम ! स्थिर और शान्तचित्त होकर आदरपूर्वक सुनिये । मैं आपके प्रश्नका उत्तर देती हूँ । यह मन बन्दरकी तरह है, सदा चंचल ही रहता है ॥ २ ॥

क्योंकि ऐसा है, इसलिये साधारण लोगोंको बड़े अनर्थोंमें फँस जाना पड़ता है । यह देखा ही गया है कि चंचल मन ही सारे दुःखों-की जड़ है ॥ ३ ॥

क्योंकि सुषुप्तिमें चंचलताका अभाव हो जानेके कारण ही सुखकी अनुभूति होती है । इसलिये मैं आपसे जो कुछ कहती हूँ मनको स्थिर करके सुनिये ॥ ४ ॥

जो बात अनादरपूर्वक सुनी जाती है वह न सुनी-सी ही होती है । चित्रमें बने हुए वृक्षके समान   का कोई फल नहीं होता ॥ ५ "

अनवस्थिततर्कत्वमपहाय विनाशनम् ।
सत्तर्कमाश्रित्य जनः प्राप्नुयात् सुफलं द्रुतम् ॥ ६ ॥
सत्तर्कसंश्रयेणाशु साधनैकपरो भवेत् ।
सत्तर्कजनितां श्रद्धां प्राप्येह फलभाङ् नरः ॥ ७ ॥
अनवस्थिततर्कन्तं विहायालोकय प्रिय ।
प्रवृत्तिमेतां जगतः श्रद्धया फलशालिनीम् ॥ ८ ॥
सुतर्कितेन कालेन कर्षकः क्ष्मां विकर्षति ।
श्रद्धयैव तथा रूप्यस्वर्णरत्नौषधादिकम् ॥ ९ ॥
व्यवस्यन्ति सुतर्केण त्यक्त्वा तर्कानवस्थितिम् ।
तस्मात् सुतर्कश्रद्धाभ्यां व्यवस्य श्रेय आत्मनः ॥ १० ॥
प्रयतेत साधनाय नहि तर्कानवस्थितेः ।
विरमेत् पौरुषाद्यत्नाच्छुङ्गानुगनरा इव ॥ ११ ॥

मनुष्य इस विनाशकारी शुष्क तर्कको त्यागकर सत् (शास्त्रानुसारी) तर्कका आश्रय लेनेसे तत्काल ही उत्तम फल प्राप्त कर सकता है ॥ ६ ॥

इसलिये शास्त्रानुसारी तर्कका आश्रय लेकर उसे साधनमें ही लग जाना चाहिये। मनुष्य शास्त्रानुसारी तर्कसे उत्पन्न होनेवाली श्रद्धाको पाकर इस लोकमें फलका भागी हो सकता है ॥ ७ ॥

प्रिय ! आप निराधार तर्कको त्यागकर देखिये, इस जगत्का सारा व्यवहार श्रद्धा होनेपर ही फलदायक होता है ॥ ८ ॥

विचारपूर्वक निश्चय किये हुए कालमें ही किसान भूमि जोतता है। तथा निराधार शुष्क तर्कको त्यागकर सम्यक् विचारसे श्रद्धाके द्वारा ही लोग चाँदी, सोने, रत्न और ओषधि आदिका निश्चय करते हैं ॥ ९–१० पू० ॥

अतएव शास्त्रानुसारी तर्क और श्रद्धाके द्वारा अपने परम हितका निर्णय कर साधनके लिये प्रयत्न करना चाहिये। तर्ककी कोई स्थिति नहीं है, अतः शुंगका अनुसरण करनेवाले पुरुषोंकी तरह अपना पुरुषार्थ न छोड़ बैठे ॥ १० उ०–११ ॥

श्रद्धया पौरुषपरो न विहन्यते सर्वथा ।
दृढं पौरुषमाश्रित्य न प्राप्येत कथं फलम् ॥ १२ ॥

पौरुषात् कर्षका धान्यं वणिजो धनमेव च ।
राज्यलक्ष्मीं नृपा विप्रा विद्यां सर्वसुखाश्रयाम् ॥ १३ ॥

शूद्रा भृतिं सुधां देवास्तापसा लोकमुत्तमम् ।
प्रापुरन्येऽप्यभिमतं पौरुषेणैव कर्मणा ॥ १४ ॥

अनवस्थिततर्केणाश्रद्धेन पुरुषेण किम् ।
कदा किञ्चित् कथं प्राप्तं फलं वद विमृश्य तत् ॥ १५ ॥

क्वचित् फलविसंवादात् सर्वत्राश्वासवर्जने ।
विजानीयाद्दैवहतं तं स्वात्मरिपुरूपिणम् ॥ १६ ॥

अतः पौरुषमाश्रित्य श्रद्धासत्तर्कपोषितम् ।
श्रेयसां यन्मुख्यतमं साधनं तत् समाश्रयेत् ॥ १७ ॥

जो श्रद्धापूर्वक प्रयत्नमें लगा रहता है वह कभी असफल नहीं रह सकता । सुदृढ पुरुषार्थका आश्रय ले लेनेपर फिर फल कैसे प्राप्त न होगा ॥ १२ ॥

पुरुषार्थसे ही कृषक अनाज, व्यापारी धन, राजा लोग राजवैभव, ब्राह्मण लोग सम्पूर्ण सुखकी आश्रयभूता विद्या, शूद्र आजीविका, देवता अमृत और तपस्वी उत्तम लोक प्राप्त करते हैं । तथा और सबको भी पुरुषार्थरूप कर्मके द्वारा ही अपने अभीष्टकी प्राप्ति होती है ॥१३–१४॥

आप विचारकर बतलाइये कि शुष्क तर्क करनेवाले श्रद्धाहीन पुरुषने क्या कभी किसी प्रकार कोई फल प्राप्त किया है ॥ १५ ॥

[दैवयोगसे] कभी फल न मिलनेके कारण यदि किसीका सर्वत्र ही विश्वास न रहे तो उस अभागे पुरुषको अपना ही शत्रु समझना चाहिये ॥ १६ ॥

अतएव पुरुषार्थका आश्रय लेकर जो श्रद्धा और सत्तर्कसे पोषित श्रेयःप्राप्तिका सबसे मुख्य साधन हो उसका आश्रय ले ॥ १७ ॥

तत्र दृष्टसाधनानां वैचित्र्यञ्च पृथग्विधम् ।
तेषु यत् सर्वथा साध्यं साधयेत् तद्धि मुख्यकम् ॥ १८ ॥
तत् सुतर्कानुभूतिभ्यां व्यवस्याशु समारभेत् ।
तत्ते सर्वं प्रवक्ष्यामि सावधानः शृणुष्व तत् ॥ १९ ॥
श्रेयस्तद्धि विजानीयाद्यस्माद् भूयो न शोचति ।
शोकः सर्वत एव स्याद् दृश्यते सूक्ष्मया दृशा ॥ २० ॥
यच्छोकैरनुसंभिन्नं न तच्छ्रेयो हि सर्वथा ।
धनं पुत्रास्तथा दारा राज्यं कोशो बलं यशः ॥ २१ ॥
विद्या बुद्धिर्दर्शनञ्च देहः सौन्दर्यसम्पदः ।
सर्वमेतदस्थिरत्वात् कालसर्पमुखस्थितम् ॥ २२ ॥
शोकाङ्कुरमहाशक्तिबीजात्मकतया स्थितम् ।
कुत आत्यन्तिकश्रेयःसाधनत्वं समर्हति ॥ २३ ॥
अतः परमकं श्रेय एतद्धै मुख्यतो भवेत् ।

जो साधन देखनेमें आते हैं उनमें कई प्रकारकी विलक्षणता है। उनमेंसे जिसके द्वारा अपने लक्ष्यकी प्राप्ति सुलभ जान पड़े उसे ही अपना मुख्य साधन समझे ॥ १८ ॥

शास्त्रानुसारी तर्क और अनुभवके द्वारा उसका निश्चय करके तुरन्त आरम्भ कर दे। यह सब रहस्य मैं आपको बतलाती हूँ, आप सावधान होकर सुनें ॥ १९ ॥

श्रेय उसीको समझना चाहिये जिसकी प्राप्ति होनेपर फिर किसी प्रकारका शोक न रहे। यदि सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करें तो इस संसारमें सभी ओर शोक दिखायी देता है। और जो शोकसे मिला हुआ है वह किसी प्रकार भी श्रेय नहीं हो सकता ॥ २०–२१ पू० ॥

धन, पुत्र, स्त्री, राज्य, कोश, बल, कीर्ति, विद्या, बुद्धि, रूप, शरीर और सुन्दरता—ये सभी अस्थिर होनेके कारण कालरूपी सर्पके मुखमें स्थित हैं तथा शोकरूप अंकुरके अत्यन्त शक्तिशाली बीजरूपसे विद्यमान हैं। इनमें आत्यन्तिक श्रेयकी साधनता कैसे मानी जा सकती है ? ॥ २१ उ०–२३ ॥

अतः जो परम श्रेय है उसका मुख्य साधन तो यही है [जो

एवं धनादिविषये यदादेयत्वविभ्रमः ॥ २४ ॥
मोहादेव समुद्भूतो मोहको हि महेश्वरः ।
यो हि सर्वजगत्कर्त्ता तस्मात् सर्वे हि मोहिताः ॥ २५ ॥
मोहयत्यल्पकोऽपीह विद्याभागसमाश्रयात् ।
कांश्चिदेव न सर्वान् स यस्माद्विद्या हि सा मिता ॥ २६ ॥
अल्पविद्यं मायिनश्चाप्यनुत्क्रान्ता जना यतः ।
महादेवं महामायं कः समुत्क्रान्तुमर्हति ॥ २७ ॥
यो हि लोकेऽल्पमायाश्च जानाति प्रतिविद्यया ।
स मोहान्निर्गतः स्वस्थः सुखमाप्नोत्यनश्वरम् ॥ २८ ॥
एवंविधापि विद्या तमनाश्रित्य तु मायिनम् ।
न लभ्या सर्वथा यावदप्रसाद्य तु सर्वथा ॥ २९ ॥

आगे बताया जाता है]—लोकमें जो धनादि विषयमें उपादेयताका भ्रम है वह मोहसे ही हुआ है और मोहमें डालनेवाले हैं महेश्वर, जो सम्पूर्ण जगत्‌की रचना करनेवाले हैं। इसीसे सब लोग मोहमें पड़े हुए हैं ॥ २४–२५ ॥

एक तुच्छ ऐन्द्रजालिक भी अपनी आंशिक विद्याके बलसे किन्हीं-किन्हीं लोगोंको मोहमें डाल देता है, किन्तु सबको नहीं; क्योंकि उसकी विद्या सीमित है ॥ २६ ॥

तथापि जब साधारण लोग इस सीमित विद्यावाले मायावीकी मायाका भी पार नहीं पा सकते तो महामायावी महेश्वरका पार पानेमें कौन समर्थ हो सकता है ॥ २७ ॥

जो विरोधी विद्याके द्वारा इस लोकमें मायावीकी तुच्छ मायाको रोकनेकी युक्ति जान लेता है वह उसके जालसे निकलकर स्वस्थ (मायाजनित सर्पादिके भयसे रहित) रह सकता है और उसे अविनाशी (मायाजनित सर्पादिके भयसे नष्ट न होनेवाला) सुख प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

किन्तु ऐसी विद्या भी उस ऐन्द्रजालिकका आश्रय लिये बिना और [धनादि देकर] उसे किसी भी प्रकार प्रसन्न किये बिना प्राप्त नहीं हो सकती ॥ २९ ॥

तस्मान्महामायिनं तमप्रसाद्य कथं भवेत् ।
महामोहस्य तरणं तस्मात्तं सर्वथाश्रयेत् ॥ ३० ॥
यस्तं प्रसादयेत् सम्यक् प्राप्य तस्य प्रसादतः ।
महाविद्यां स तन्मोहाद् ध्रुवमुत्क्रान्तिमेष्यति ॥ ३१ ॥
अन्येऽपि योगाः कथिताः श्रेयःसाधनकर्मणि ।
महेश्वरप्रसादात्ते विना न स्युः फलाप्तये ॥ ३२ ॥
तस्मादाराधयेदादौ महेशं विश्वकारणम् ।
भक्त्या स साधयेदाशु योगान्मोहविनाशनान् ॥ ३३ ॥
एतज्जगत् कार्यभूतं प्रत्यक्षं परिदृश्यते ।
सांशमेतं पृथिव्याद्यमदृष्टारम्भमप्यलम् ॥ ३४ ॥
कार्यं स्यादिति तर्केण ब्रह्मागमदृढेन तु ।
व्यवस्येत्तत्र कर्त्तारं सर्वकर्त्तृविलक्षणम् ॥ ३५ ॥

अतः उन महामायी महेश्वरको बिना प्रसन्न किये इस महामोहसे कोई कैसे पार पा सकता है। इसलिये सब प्रकार उनका ही आश्रय लेना चाहिये ॥ ३० ॥

जो उन्हें अच्छी तरह प्रसन्न कर लेता है वह उनकी कृपासे महाविद्या (अद्वितीय शिवात्मज्ञान) को प्राप्त कर निश्चय ही उस मोहको पार कर लेता है ॥ ३१ ॥

श्रेयःसाधनके लिये प्राणायामादि और भी कई प्रकारके योग शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं, परन्तु श्रीमहेश्वरकी कृपाके बिना वे फलकी प्राप्ति करानेवाले नहीं होते ॥ ३२ ॥

इसलिये सबसे पहले विश्वके आदि कारण श्रीमहेश्वरकी भक्तिपूर्वक आराधना करनी चाहिये। वे शीघ्र ही मोहकी निवृत्ति करनेवाले योगोंको सफल कर देते हैं ॥ ३३ ॥

यह सारा जगत् प्रत्यक्ष ही किसीका कार्य जान पड़ता है। यद्यपि किसीने इसकी उत्पत्ति देखी नहीं है, तथापि सावयव होनेके कारण पृथ्वी आदि हैं ऐसे (उत्पन्न होनेवाले) ही ॥ ३४ ॥

इसप्रकार अनेकों शास्त्रवाक्योंसे परिपुष्ट तर्कके द्वारा ये कार्य ही हैं—ऐसा निश्चय करे। तथा इसका कर्ता अन्य सब कर्ताओंसे विलक्षण है ॥ ३५ ॥

यद्यप्यकर्तृकं लोकमाह कश्चिदिहागमः।
तदनेकैरागमैस्तु तर्करूढैः सुबाधितम् ॥ ३६ ॥
यत्रात्मनाश एवार्थः प्रत्यक्षैकसमाश्रयात्।
तदागमाभासमेव न तद्धि महदाश्रयम् ॥ ३७ ॥
शुष्कतर्कैकसंक्लृप्तं शास्त्रं तत्त्याज्यमेव हि।
अन्यैरप्युच्यते कैश्चिज्जगदेतत् सनातनम् ॥ ३८ ॥
अबुद्धिमत्कर्तृकं चेत्येतच्चाप्यसमञ्जसम्।
क्रियाया बुद्धिपूर्वत्वादबुद्धौ तददर्शनात् ॥ ३९ ॥
बह्वागमोपष्टम्भाच्च कर्तात्र स्याद्धि बुद्धिमान्।
बुद्धिमत्कर्तृकं कार्यं सर्वत्रैव हि दर्शनात् ॥ ४० ॥
एवं सत्तर्कागमाभ्यां जगदेतत् सकर्तृकम्।
स कर्ता लौकिकेभ्यस्तु कर्तृभ्यः स्याद्विलक्षणः ॥ ४१ ॥

यद्यपि कोई-कोई शास्त्र इसे बिना किसी कर्ताके स्वयं ही उत्पन्न हुआ बतलाते हैं, किन्तु यह बात अनेकों युक्तिप्रधान शास्त्रवाक्योंसे सर्वथा बाधित हो जाती है ॥ ३६ ॥

जो [चार्वाक आदि] दर्शन केवल प्रत्यक्ष प्रमाणके ही बलपर आत्मनाश (मृत्यु) को ही पुरुषार्थ (मोक्ष) मानते हैं वे तो वास्तवमें [दर्शन नहीं] दर्शनाभास ही हैं। महापुरुष उन्हें कभी आश्रय नहीं देते। ऐसे शुष्क तर्क द्वारा कल्पना किये हुए शास्त्र त्यागने योग्य ही हैं ॥ ३७-३८ पू० ॥

कोई दार्शनिक कहते हैं कि यह संसार सदासे ऐसा ही है। यह किसी बुद्धिमान् (ईश्वरादि चेतन) की रचना नहीं है। यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि क्रिया बुद्धिपूर्वक ही होती है, बुद्धिके विना कोई भी क्रिया नहीं देखी जाती ॥ ३८ उ०-३९ ॥

अनेकों शास्त्रोंके आधारसे भी इस लोकरचनामें बुद्धिमान् कर्ता ही सिद्ध होता है। तथा सभी जगह कोई भी कार्य बुद्धिमान् कर्ताके द्वारा ही होता देखा जाता है ॥ ४० ॥

इस प्रकार तर्क और शास्त्रके द्वारा यह जगत् किसी कर्ताका ही कार्य है। और वह कर्ता सारे लौकिक कर्ताओंसे विलक्षण हो है ॥ ४१ ॥

---

१. चार्वाक आदि नास्तिक दर्शन।

कार्यस्याचिन्त्यरूपत्वादचिन्त्यानन्तशक्तिकः ।
अपरिच्छिन्नसामर्थ्यः कार्यस्यानुगुणत्वतः ॥ ४२ ॥
स प्रपन्नान् समुद्धर्तुं प्रभवत्येव सर्वथा ।
अतस्तं सर्वभावेन शरणीकुरु सर्वदा ॥ ४३ ॥
निदर्शनं तेऽभिधास्ये शृणु प्रत्ययकारणम् ।
मितेश्वरोऽप्यत्र लोके चाकापटयात् प्रसादितः ॥ ४४ ॥
सर्वात्मना योजयति स्वेष्टार्थैः श्रेयसे नरम् ।
एष लोकेश्वरो देवः सम्यग् येन प्रसादितः ॥ ४५ ॥
तस्मै किं न दिशेद् ब्रूहि भक्तलोकैकवत्सलः ।
पुरुषा हीश्वरा लोके चानवस्था अवत्सलाः ॥ ४६ ॥
निर्दयाश्च कृतघ्नाश्च तस्मात् तत् फलमस्थिरम् ।
परमेशो दयासिन्धुः कृतिज्ञः सुव्यवस्थितः ॥ ४७ ॥

यह जगत्-रूप कार्य अचिन्त्य है [इसका वास्तविक स्वरूप किसीकी समझमें नहीं आता]। इसलिये इसका कर्ता भी अचिन्त्य और अनन्त शक्तिवाला होना चाहिये। तथा अपने इस कार्यके अनुसार उसका सामर्थ्य असीम होना चाहिये ॥ ४२ ॥

वह अपने शरणागतोंका उद्धार करनेमें सर्वथा समर्थ है ही। अतः आप सर्वदा सम्पूर्ण भावसे उनकी शरण लें ॥ ४३ ॥

आपके विश्वासके लिये मैं आपको एक दृष्टान्त देती हूँ। संसारमें जो सीमित ऐश्वर्यवाले स्वामी हैं वे भी अपने सेवकके निष्कपट-भावसे प्रसन्न होनेपर अपनी पूरी शक्तिसे उसे अभीष्ट पदार्थ प्राप्त करानेका प्रयत्न करते हैं ॥ ४४–४५ पू० ॥

ये भगवान् तो सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी हैं और अपने भक्तोंपर इनका पूर्ण वात्सल्य है। फिर जो इन्हें प्रसन्न करले, बताइये, उसे ये क्या नहीं दे सकते ? ॥ ४५ उ०-४६ पू० ॥

संसारमें जो ऐश्वर्यवान् पुरुष हैं वे तो अस्थिर, स्नेहशून्य, निर्दय और कृतघ्न हैं। इसलिये उनसे जो फल मिलता है वह ठहरनेवाला नहीं होता। किन्तु भगवान् तो दयाके समुद्र, किये हुएको बहुत माननेवाले और सुव्यवस्थित हैं। [अतः उनसे जो फल प्राप्त होता है उसका कभी नाश या क्षय नहीं होता] ॥ ४६ उ०–४७ ॥

अन्यथानादिसंसारे कुतोऽनिन्द्यत्वमाप्नुयात्।
व्यवस्थिता जगद्धात्रा चापि वा स्यात् कथं वद ॥ ४८ ॥
अनवस्थस्य राज्यन्तु नष्टमालोक्यते यतः।
तस्मादेव दयासिन्धुः सुव्यवस्थश्च कीर्त्तितः ॥ ४९ ॥
तमेव सर्वभावेन भक्त्याशु शरणीकुरु।
श्रेयसि त्वां योजयेत् स त्वं न तत्परतां व्रज ॥ ५० ॥
उपासने बहुविधमार्त्यार्थार्थित्वतोऽपि च।
निर्हेतुकन्तु काचित्कं तत् सत्योपासनं भवेत् ॥ ५१ ॥
दृष्टमेतत् सर्वतो वै चार्त्तेनोपासितः प्रभुः।
कदाचिद् दययाविष्ट आर्त्तिं तस्य विमोचयेत् ॥ ५२ ॥
उपेक्षेत कदाचिद्वोपास्तेर्वै तारतम्यतः।
एवमेवार्थार्थिनोऽपि मितश्चानियतं फलम् ॥ ५३ ॥

यदि ऐसा न होता तो बताइये इस अनादि संसार में वह कैसे अनिन्दित रहते, तथा उन जगत्कर्ताकी की हुई यह लोकव्यवस्था किस प्रकार नियमित रहती ॥ ४८ ॥

क्योंकि यह देखा जाता है कि जिसकी व्यवस्था ठीक नहीं होती उसका राज्य नष्ट हो जाता है। इसलिये भगवान् दयाके सागर और सुव्यवस्थित कहे जाते हैं ॥ ४९ ॥

अतः सम्पूर्ण भक्तिभावसे आप उनकी शरण ग्रहण करें। वे ही आपको श्रेयः-साधनमें लगा देंगे। आपको साधन ढूँढ़नेके पचड़ेमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ५० ॥

उपासनामें आर्त्ति और अर्थिताके निमित्तसे भी अनेकों भेद हैं। निष्काम उपासना तो विरलोंकी ही होती है। किन्तु है वही सच्ची उपासना ॥ ५१ ॥

सब ओर प्रायः यही देखा जाता है कि आर्त्त (संकटग्रस्त) पुरुष प्रभुकी उपासना करता है। अतः भगवान् कभी तो दयाके वशीभूत होकर उसका कष्ट दूर कर देते हैं ॥ ५२ ॥

और कभी उपासनामें त्रुटि रह जानेपर उपेक्षा भी कर देते हैं। इसी प्रकार अर्थार्थी उपासकोंको मिलनेवाला फल भी सीमित और अनिश्चित ही होता है ॥ ५३ ॥

निर्हेतुकोपासनस्य ज्ञात्वा निर्हेतुतां चिरात् ।
मितेश्वरोऽप्यव्यवस्थस्तदधीनो भवत्यलम् ॥ ५४ ॥
निर्हेतुकत्वज्ञानाय चिरं स्यादज्ञभावतः ।
एष सर्वेश्वरो देवो हृदयेशोऽखिलस्य तु ॥ ५५ ॥
सर्वं जानाति तत्काले फलं दद्याच्च सत्वरम् ।
आर्त्तमर्थार्थिनं देवस्तदर्थेनाभियोजितुम् ॥ ५६ ॥
स्वनियत्या कर्मपाकं प्रतीक्ष्य फलमादिशेत् ।
निर्हेतुकोपासकं स्वमनन्यशरणं विभुः ॥ ५७ ॥
ज्ञात्वा सर्वात्मना तस्य योगक्षेमवहो भवेत् ।
अप्रतीक्ष्यं कर्मपाकं नियतिं स्वां विधूय च ॥ ५८ ॥
तत्साधनं सम्प्रसाध्य द्रुतं संयोजयेत् फले ।
एतदेव महेशत्वं स्वातन्त्र्यमहतन्तु यत् ॥ ५९ ॥

किन्तु जिसकी उपासना निष्काम होती है, कुछ काल बीतनेपर जब उसकी निष्कामताका पता लगता है तो संसारका सीमित ऐश्वर्यवाला अव्यवस्थित-चित्त स्वामी भी सर्वथा उसके अधीन हो जाता है ॥ ५४ ॥

वह अज्ञानी होता है, इसलिये उपासककी निष्कामताको पहचाननेमें उसे तो बहुत समय लग जाता है। किन्तु भगवान् सर्वेश्वर तो सभीके हृदयोंके स्वामी हैं ॥ ५५ ॥

वे तो तत्काल सब कुछ जान जाते हैं और तुरन्त ही उसका फल भी दे डालते हैं। वे आर्त्त और अर्थार्थीको तो अपनी नियतिके अनुसार कर्मके परिपाककी प्रतीक्षा करके फल देते हैं ॥ ५६-५७ पू० ॥

किन्तु जिसे अपना अनन्य-शरण निष्काम उपासक देखते हैं उसके योग-क्षेम[1]का तो सभी प्रकार निर्वाह करते हैं ॥ ५७ उ०-५८ पू० ॥

वे कर्मविपाककी प्रतीक्षा न करके तथा अपनी नियतिकी उपेक्षा करके उसके साधनकी पूर्ति करके तुरन्त ही उसे फलकी प्राप्ति करा देते हैं। यही उनकी महेश्वरता और परम स्वतन्त्रता है ॥ ५८ उ०-५९ ॥

---

१. योग-क्षेमका अर्थ भक्तके निर्वाहका सुभीता नहीं समझना चाहिये, प्रत्युत 'योग' का अर्थ है साधनके अनुकूल परिस्थितिकी प्राप्ति और 'क्षेम' का अर्थ है साधनके विघ्नोंसे रक्षा।

प्रारब्धं नियतिर्वापि महेशविमुखं भवेत् ।
एतन्मृकण्डुतनयेऽत्यन्तमीश्वरतत्परे ॥ ६० ॥
सर्वैर्ज्ञातं महेशस्य नियत्यारब्धलङ्घनम् ।
अत्रोपपत्तिन्ते वक्ष्ये शृणु प्राणप्रियेरितम् ॥ ६१ ॥
यद्यप्यनुल्लङ्घनीये प्रारब्धनियती खलु ।
तथाप्यपौरुषाणां तत् प्रारब्धमनपोहनम् ॥ ६२ ॥
अतएव प्राणायामैः प्रारब्धं परिजीयते ।
न तान् दृष्टेषु दुःखेषु प्रारब्धं योजयत्यलम् ॥ ६३ ॥
प्रारब्धाहिनिगीर्णास्ते ये पौरुषपराङ्मुखाः ।
एतन्नियति-संक्लृप्तं तथैवानुभवान्ननु ॥ ६४ ॥
नियतिः स्यादीशशक्तिः सङ्कल्पैकस्वरूपिणी ।
सत्यसङ्कल्प एवेशोऽनुल्लङ्घ्या ह्यत एव सा ॥ ६५ ॥

प्रारब्ध या नियति तो महेश्वरसे विमुखोंके लिये ही है। अत्यन्त भगवत्परायण मार्कण्डेय जीके प्रसंगमें भगवान् महेश्वरने नियति और प्रारब्धका उल्लङ्घन किया—यह बात सभीको मालूम है। प्राणप्रिय! सुनिये, इस विषयमें मैं आपको उपपत्ति भी बतलाती हूँ ॥ ६०-६१ ॥

यद्यपि प्रारब्ध और नियतिका उल्लङ्घन होना निश्चय ही सम्भव नहीं है, तथापि यह प्रारब्धकी अतिवृत्ति पुरुषार्थहीनोंके लिये ही है ॥ ६२ ॥

इसीसे प्राणायामके द्वारा भी प्रारब्धपर विजय प्राप्त हो जाता है। प्राणायाम-परायण योगियोंको प्रारब्ध दृष्ट-दुःखोंमें बिलकुल नहीं फँसा सकता ॥ ६३ ॥

जो लोग पुरुषार्थसे विमुख हैं वे ही प्रारब्धरूप सर्पके मुँहमें पड़ते हैं। यह नियतिका ही संकल्प है और अनुभवसे भी ऐसा ही सिद्ध होता है ॥ ६४ ॥

नियति परमात्माकी शक्ति है और उसका स्वरूप केवल संकल्प है। भगवान् सत्यसंकल्प ही हैं, इसीसे नियतिका उल्लङ्घन नहीं हो सकता ॥ ६५ ॥

कुण्ठिता सापि भवति परमेशपरायणे ।
अकुण्ठितापि भवति यतः सा तादृशी भवेत् ॥ ६६ ॥

तस्मात् कुतर्कं सन्त्यज्य महेशं शरणीकुरु ।
अहेतुकतया स त्वां नियोजयति श्रेयसि ॥ ६७ ॥

एतावदेव सोपानं प्रथमं क्षेमसौधकम् ।
एतद्विहाय चान्यत्र नास्तीषत्फलसम्भवः ॥ ६८ ॥

श्रुत्वेत्थं वचनं राम हेमचूडः प्रियोदितम् ।
पप्रच्छ भूयस्तां कान्तामतिहृष्टमनास्तदा ॥ ६९ ॥

प्रिये महेश्वरं ब्रूहि यः शरण्यो भवेन्मम ।
सर्वकर्त्ता स्वतन्त्रात्मा यच्छक्त्या नियतं जगत् ॥ ७० ॥

तं विष्णुमाहुः केचिद्वै केचिच् शिवगणेश्वरम् ।
तथा सूर्यं नृसिंहादीन् बुद्धं सुगतमेव च ॥ ७१ ॥

किन्तु भगवत्परायण पुरुषोंके लिये वह कुण्ठित हो जाती है । तथापि वह है अकुण्ठिता ही, क्योंकि वह है ऐसी ही [अर्थात् भक्तोंके लिये कुण्ठित हो जाना उसका स्वभाव ही है, इसलिये इससे उसकी अकुण्ठिततामें कोई अन्तर नहीं आता] ॥ ६६ ॥

"इसलिये आप कुतर्क छोड़कर निष्काम भावसे भगवान् महेश्वरकी शरण लीजिये । वे आपको परम निःश्रेयसकी प्राप्ति करा देंगे" ॥६७॥

"निःश्रेयसकी अट्टालिका पर चढ़नेके लिये यही पहली सीढ़ी है । इसे छोड़कर किसी अन्य साधनसे थोड़ा-सा भी फल प्राप्त नहीं हो सकता" ॥ ६८ ॥

परशुराम ! अपनी प्रियाके कहे हुए ये वचन सुनकर हेमचूडने अत्यन्त प्रसन्नचित्त हो फिर उससे पूछा ॥ ६९ ॥

"प्रिये ! मेरे शरण्य जो महेश्वर हैं उनके स्वरूपका वर्णन करो; जो सब कुछ करनेवाले और परमस्वतन्त्र हैं तथा जिनकी शक्तिसे संसारका नियमन होता है ॥ ७० ॥

उन्हें कोई विष्णु कहते हैं, कोई शिव या गणपति बतलाते हैं

अर्हन्तं वासुदेवञ्च प्राणं सोमञ्च पावकम्।
कर्म प्रधानमणव इत्यादि बहुधा जगुः॥ ७२॥
जगत्कारणरूपं वै विचित्रमतभेदितम्।
तत्र क्वेश्वरबुद्धिस्तु कर्त्तव्या तत् समीरय॥ ७३॥
न ते ह्यविदितं किञ्चिद् भवेदिति हि निश्चयः।
यतः स भगवान् व्याघ्रपादो दृष्टपरावरः॥ ७४॥
अतस्ते योषितोऽप्येवं ज्ञानमेतद्विराजते।
ब्रूहि मे श्रद्दधानाय प्रियामृतप्रभाषिणी॥ ७५॥
पृष्टैवं सा हेमलेखा प्रियेण प्राह हर्षिता।
नाथ ते सम्प्रवक्ष्यामि शृण्वीश्वरविनिर्णयम्॥ ७६॥
ईश्वरो हि जगज्जालप्रलयोत्पादकृद् भवेत्।
स विष्णुः स शिवो धाता स सूर्यः सोम एव च॥ ७७॥

तथा कोई सूर्य, नृसिंह, बुद्ध, सुगत, अर्हत्, वासुदेव, प्राण, सोम, अग्नि, कर्म, प्रधान या अणु आदि अनेकों प्रकारोंसे उनका प्रतिपादन करते हैं॥ ७१-७२॥

इस प्रकार जगत्के कारणका स्वरूप तरह-तरहके मतभेदोंसे विभिन्न-सा हो गया है। ऐसी स्थितिमें कहाँ ईश्वरबुद्धि करनी चाहिये-यह बताओ॥ ७३॥

यह तो मुझे निश्चय है कि कोई बात नहीं हैं जो तुम्हें मालूम न हो, क्योंकि भगवान् व्याघ्रपाद परावरदर्शी थे [उन्हें लोक, परलोक और परमात्मा सभीका पूर्ण ज्ञान था]॥ ७४॥

इसीसे स्त्री होनेपर भी तुममें ऐसा ज्ञान है। प्रिये! तुम अमृतके समान मधुर और हितकर भाषण करनेवाली हो, मुझ श्रद्धालुसे यह रहस्य कहो"॥ ७५॥

प्रियतमके इस प्रकार पूछनेपर हेमलेखाने प्रसन्न होकर कहा, "नाथ! सुनिये मैं ईश्वरके विषयमें अपना निर्णय सुनाती हूँ॥ ७६॥

इस जगत्के ताने-वानेकी जो प्रलय और उत्पत्ति करनेवाला है, वह ईश्वर है। वही शिव, वही ब्रह्मा, सूर्य और चन्द्रमा भी है॥ ७७॥

स एव सर्वथा सर्वः सर्वैरपि निरूपितः ।
न शिवो नापि विष्णुर्वा न धाता नान्य एव च ॥ ७८ ॥

एतत्ते सम्प्रवक्ष्यामि शृण्वत्यन्तसमाहितः ।
कर्त्तारं शिवमाहुस्ते पञ्चवक्त्रं त्रिलोचनम् ॥ ७९ ॥

स कर्त्ता घटकर्त्तेव चेतनः सशरीरकः ।
लोकेऽपि चेतनः कर्त्ता सशरीरो हि दृश्यते ॥ ८० ॥

अशरीरोऽचेतनो वा न कर्त्ता क्वचिदीक्षितः ।
तत्र मुख्यं हि कर्त्तृत्वं चेतनस्यैव सम्भवेत् ॥ ८१ ॥

यतः स्वप्नेष्वयं जीवो हित्वा स्थूलं शरीरकम् ।
चैतन्यमयदेहेन सर्वानभिमतान् सृजेत् ॥ ८२ ॥

अतः शरीरं करणं कार्ये कर्त्तुश्चिदात्मनः ।
जीवानां करणापेक्षा यतोऽपूर्णा स्वतन्त्रता ॥ ८३ ॥

सबके द्वारा सब रूपोंमें सब प्रकार उसीका निरूपण किया गया है। परन्तु वास्तवमें वह न शिव है, न विष्णु है, न ब्रह्मा है और न कोई अन्य ही है ॥ ७८ ॥

इस रहस्यको मैं स्पष्ट करके समझाती हूँ, आप अत्यन्त सावधान होकर सुनिये। शैव लोग पञ्चमुखी त्रिनयन भगवान् शिवको ही जगत्की रचना करनेवाला मानते हैं ॥ ७९ ॥

घट बनानेवाले कुम्हारकी तरह वह जगत्कर्ता भी चेतन और शरीरधारी हैं। लोकमें भी कर्ता चेतन और सशरीर ही देखा जाता है ॥ ८० ॥

कहीं भी अशरीर और अचेतन कर्ता नहीं देखा गया। इनमें भी कर्त्तृत्व शक्तिका मुख्यतया चेतनमें ही रहना अधिक सम्भव है ॥ ८१ ॥

क्योंकि स्वप्नावस्थामें यह जीव स्थूल शरीरको छोड़कर अपने चैतन्यमय स्वरूपसे ही सारे अभीष्ट पदार्थोंकी रचना कर लेता है ॥ ८२ ॥

इसलिये किसी कार्यको करनेमें शरीर चेतन आत्माका केवल करण है। किन्तु करणकी आवश्यकता जीवोंको ही होती है, क्योंकि उनमें पूर्ण स्वातन्त्र्य नहीं है ॥ ८३ ॥

भगवांस्तु जगत्कर्त्ता पूर्णस्वातन्त्र्ययोगतः।
अनपेक्ष्यैव यत्किञ्चित् सृजत्यविकलं जगत् ॥ ८४ ॥
अतः शरीरं नास्त्येव ह्येष मुख्यविनिश्चयः।
अन्यथा लोकवत्कर्त्तुरुपादानाश्रयो भवेत् ॥ ८५ ॥
तथा च देशकालादिकारणप्रचयैर्युतः।
जगत् सृजन्महेशानो जीव एव भवेत्तथा ॥ ८६ ॥
पूर्णैश्वर्यं विहन्येत जगत्सृष्टेः पुरापि च।
सिद्ध्येत्तत्सर्वकर्तृत्वं विहतं स्यान्न संशयः ॥ ८७ ॥

भगवान् तो अपने पूर्ण स्वातन्त्र्यके कारण जगत्के कर्ता हैं। वे तो किसी अन्यकी अपेक्षा न रखकर यह जो कुछ जगत् है सबको रच डालते हैं ॥ ८४ ॥

अतः मुख्य निश्चय यह हुआ कि परमात्मा शरीर नहीं है। नहीं तो लौकिक कर्ताओंकी तरह उसे भी [लोकरचनाके लिये] सामग्रीका आश्रय लेना पड़ता ॥ ८५ ॥

और इस प्रकार देश-कालादि करणसमूहयुक्त होकर जगत्की रचना करनेपर तो वह महेश्वर भी एक जीव ही हो जाता ॥ ८६ ॥

यदि सृष्टिसे पहले किसी अन्य सामग्रीकी सत्ता स्वीकार की जाय तो भगवान्की पूर्ण ईश्वरता बाधित हो जायगी और इसमें सन्देह नहीं कि उनका सर्वकर्त्तृत्व भी सिद्ध नहीं हो सकेगा* ॥ ८७ ॥

---

* यदि सृष्टिसे पूर्व परमाणु या प्रकृति आदि किसी अन्य सामग्री की सत्ता स्वीकार करेंगे तो भगवान्का जगत्कर्त्तृत्व उसके अधीन होनेके कारण उनका पूर्ण ऐश्वर्य नहीं रहेगा और अन्य सामग्रीकी नित्य सत्ता सिद्ध होनेके कारण उनकी अद्वितीयता और विभुता भी बाधित हो जायगी। वैशेषिक मतावलम्बी परमाणुओंकी नित्य सत्ता स्वीकार करते हैं और ऐसा मानते हैं कि ईश्वरकी इच्छासे वे नित्य परमाणु ही मिलकर जगत्की रचना कर देते हैं। परन्तु किसीकी इच्छासे कार्य करनेके लिये प्रवृत्त होना जड परमाणुओंके लिये सम्भव नहीं है। यदि भगवान्के असीम सामर्थ्यका इसे प्रभाव मानें तो उनके अपने अलौकिक सामर्थ्यसे तो वे परमाणुओंके बिना भी जगतकी रचना कर ही सकते हैं, फिर परमाणुओंकी नित्य सत्ता मानकर उनकी अद्वितीयता और विभुताको बाधित क्यों किया जाय। इसी प्रकार सांख्योक्त प्रकृति और मीमांसासम्मत कर्म भी माननीय

अतो हि दृश्यदेहाद्यमनपेक्ष्य जगत् सृजेत् ।
नास्ति तस्मात् स्थूलदेहो वस्तुतः प्राणवल्लभ ॥ ८८ ॥
पररूपे ह्यदेहेऽस्मिन् मुह्यन्ति स्थूलबुद्धयः ।
भक्तियुक्ताश्च तैर्ध्यातो यत्र यत्र यथा यथा ॥ ८९ ॥
तथा धत्तेऽनेकरूपं भक्तचिन्तामणिः स्वयम् ।
अतश्चेतन एतेन तद्देहः स्याच्चितिः परा ॥ ९० ॥
चितिरेव महासत्ता सम्राज्ञी परमेश्वरी ।
त्रिपुरा भासते यस्यामविभिन्ना विभिन्नवत् ॥ ९१ ॥
आदर्शनगरप्रख्यं जगदेतच्चराचरम् ।
तद्रूपैकत्वतस्तत्र नोत्तमाधमभावना ॥ ९२ ॥

इसलिये प्राणप्रिय ! भगवान् दृश्यस्वरूप देहादिकी अपेक्षा न रखकर ही जगत्‌की रचना करते हैं। अतः वास्तवमें उनका कोई स्थल शरीर नहीं है ॥ ८८ ॥

किन्तु स्थूलबुद्धि पुरुषोंकी भगवान्‌के देहातीत परमस्वरूपमें गति नहीं होती। इसलिये भक्तियुक्त होकर उनमेंसे जिस-जिसके द्वारा उनका जैसे-जैसे ध्यान किया जाता है वैसे-वैसे ही वे अनेक प्रकारके रूप धारण कर लेते हैं, क्योंकि वे स्वयं भक्तोंके लिये चिन्तामणिके समान हैं और परम चैतन्य ही उनका शरीर है ॥ ८९–९० ॥

वह चितिरूपा महासत्ता ही सर्वेश्वरी भगवती त्रिपुरा हैं, जिसमें यह संसार उससे अभिन्न होकर भी विभिन्नकी तरह भासता है ॥ ९१ ॥

यह चराचर जगत् दर्पणमें भासनेवाले नगरके समान है। वह दर्पणस्थानीय चेतन एकरूप ही है। [और वही विष्णु-शिव आदि रूपोंमें उपलब्ध होता है] इसलिये उनमें उत्तम-अधम आदि भाव नहीं करना चाहिये ॥ ९२ ॥

नहीं हैं। यदि कहें कि सृष्टिको कर्म निरपेक्ष माननेपर तो जीवोंके विभिन्न भोगोंके कारण ईश्वरमें विषमता और निर्दयताका दोष आवेगा, तो इस विषयमें यह समझना चाहिये कि दर्पणमें प्रतीत होनेवाले प्रतिबिम्बके समान जिस प्रकार सारा जगत् आभासमात्र है उसी प्रकार ये कर्मादि भी केवल आभासमात्र हैं। इनकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। वस्तुतः तो ये भी चिदेकरसस्वरूप होनेके कारण भगवान्‌से अभिन्न ही हैं।

अपरे तु स्वरूपे हि कल्पितं मुख्यतादि हि ।
तस्मात् प्राज्ञ उपासीत परं रूपं हि निष्कलम् ॥ ९३ ॥
असमर्थः स्थूलरूपं यद् बुद्धौ सङ्गतं दृढम् ।
तदुपास्या हेतुतस्तु श्रेयः प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ९४ ॥
नान्यथास्य गतिः क्वापि भवेद्वै कोटिजन्मभिः ॥ ९५ ॥

इति श्रीमज्ज्ञानखण्डे हेमचूडोपाख्याने ईश्वरस्वरूप-
निरूपणं सप्तमोऽध्यायः ।



[यदि कहो कि शास्त्रोंमें इनकी मुख्यता-गौणता क्यों बतायी गयी है, तो उसका उत्तर यह है, कि] ये मुख्यता आदि [भक्तों की भावना-के अनुसार] भगवान्के इस अपररूपमें ही कल्पित हैं। इसलिये विवेकी पुरुषको तो उनके कलातीत परस्वरूप की ही उपासना करनी चाहिये ॥ ९३ ॥

जो इस प्रकार उपासना करनेमें समर्थ न हो वह उस स्थूल रूपकी निष्काम उपासना करे जो उसकी बुद्धिमें दृढ़तासे जमता हो। इससे भी वह परम निःश्रेयसको प्राप्त कर सकता है। इसके सिवा तो करोड़ों जन्मोंमें भी इसके लिये कोई अन्य मार्ग नहीं हो सकता ॥ ९४-९५ ॥

सप्तम अध्याय समाप्त ।



अष्टमोऽध्यायः

एवं प्रियावचः श्रुत्वा ज्ञात्वा तत्त्वं महेशितुः ।
त्रैपुरं चिन्मयं हेमलेखावाक्येन निश्चितम् ॥ १ ॥

आश्वस्तचित्तस्त्रिपुरां गुणरूपां महेश्वरीम् ।
ज्ञात्वा गुरुभ्यः परमां माहेश्वर्यविभावितः ॥ २ ॥

तामेकभावानुगतो हेमचूडोऽभवद् दृढम् ।
एवं परोपासनेन व्यतीयुः केऽपि मासकाः ॥ ३ ॥

त्रिपुरा परमेशानी प्रसादमकरोद्-धृदि ।
विषयाद्विमुखं चित्तं विचारपरमं बभौ ॥ ४ ॥

एतावद् दुर्लभं लोके परानुग्रहमन्तरा ।
विचारप्रवणं चित्तं यन्मुख्यं मोक्षकारणम् ॥ ५ ॥

अष्टम अध्याय ॥ ८ ॥

आख्यायिकाका स्पष्टीकरण

इस प्रकार अपनी पत्नीका भाषण सुनकर और हेमलेखाके वाक्यसे ही निश्चित किये हुए परमेश्वरके चिन्मय त्रिपुरारूपको जानकर हेमचूडका चित्त शान्त हो गया। फिर गुरुओंके द्वारा उसने परम महेश्वरी भगवती त्रिपुराके सगुणरूपको जाना और परमेश्वरकी अनुग्रह शक्तिसे सम्पन्न हो वह एकमात्र उसीके ध्यानमें दृढतासे तत्पर हो गया ॥ १–३ पू० ॥

इस तरह परमेश्वरीकी उपासनामें उसके कुछ महीने व्यतीत हो गये। तब भगवती त्रिपुराने उसके हृदयमें अपनी कृपा प्रकट की। इससे उसका विषयाभिमुख चित्त विचारपरायण हो गया ॥ ३ उ०–४ ॥

परमेश्वरकी कृपाके बिना संसारमें यह बात दुर्लभ ही है, क्योंकि विचारोन्मुख चित्त ही मुक्तिका मुख्य कारण है ॥ ५ ॥

राम यावन्न जायेत विचारपरमं मनः।
न तावच्छ्रेयसा योग उपायानां शतैः क्वचित् ॥ ६ ॥

अथ भूयः स कस्मिंश्चिद्दिने रहसि वै तया।
सङ्गतः प्रिययाऽत्यन्तविचारपरमानसः ॥ ७ ॥

आयान्तं स्वनिकेतं तं दूरात् कान्तं ददर्श सा।
उत्थाय तं समानीय स्वासने विनिवेश्य च ॥ ८ ॥

पादप्रक्षालनाद्यैस्तं पूजयित्वा यथाविधि।
प्रोवाचामृतनिष्यन्दसुन्दरं परमं वचः ॥ ९ ॥
प्रेष्ठ ! त्वामद्य पश्यामि चिराय ननु ते वपुः।
नीरुजं कच्चिदासीद्वै यतो रोगास्पदं वपुः ॥ १० ॥

तन्मामाचक्ष्व वृत्तान्तं यतो नाहं स्मृता त्वया।
ननु मामसमालोक्य चाप्रभाष्य कदापि ते ॥ ११ ॥
नात्यगाद्दिनभागोऽपि तदेवं कुत आस्थितम्।
मन्येऽहं मेऽनभिमते वर्त्तनं नहि वर्त्मनि ॥ १२ ॥

परशुराम ! जबतक मन विचारोन्मुख नहीं होता तबतक साधन होनेपर भी कभी निःश्रेयसकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ६ ॥

तदनन्तर किसी दिन एकान्तमें वह फिर अपनी उस प्रियासे मिला। उस समय उसका चित्त अत्यन्त विचारोन्मुख था ॥ ७ ॥

हेमलेखाने दूरसे ही अपने प्रियतमको अपने ही घरकी ओर आते देखा तो वह खड़ी हो गयी। फिर लेजाकर उसे सुन्दर आसनपर बिठाया और पाद-प्रक्षालनादिके द्वारा उसकी विधिवत् पूजाकर मानो अमृत-सा उडेलते हुए सुन्दर और तात्त्विक वचनोंमें कहा ॥ ८-९ ॥

"प्रियतम ! आज मैं बहुत काल पश्चात् आपको देख रही हूँ। आपका शरीर तो स्वस्थ रहा ? क्योंकि शरीर रोगोंका स्थान ही है ॥ १० ॥

आप मुझे अपना वृत्तान्त सुनाइये क्योंकि इतने दिनोंतक आपने मेरा स्मरण भी नहीं किया। मुझे बिना देखे और मुझसे बिना बोले तो कभी दिनके एक अंशमात्र भी आप नहीं रह सकते थे। तब इस प्रकार आप कैसे रह गये ॥ ११-१२ पू० ॥

स्वप्ने वापि कुतोऽन्यत्र कुत एवमभूद्वद ।
कथं रात्रिस्त्वया नीता चैकापि युगसम्मिता ॥ १३ ॥
विना मां च क्षणोऽप्येको युगकल्पः सुदुःसहः ।
इत्युक्त्वा सा समाश्लिष्य खिन्नेवाभूत् क्षणं ततः ॥ १४ ॥
सोऽपि प्रियासमाश्लिष्टो नेषद्विकृतिमाययौ ।
प्राह प्रिये न मामेवं विमोहयितुमर्हसि ॥ १५ ॥
ज्ञाता मयाऽसि सुदृढं नास्ति ते शोककारणम् ।
परावरज्ञा त्वं धीरा मोहस्त्वां वै कथं स्पृशेत् ॥ १६ ॥
तत्त्वां प्रष्टुं समायातो यत्तद्वक्ष्यामि संशृणु ।
यत् प्राक् स्ववृत्तं कथितं तत् स्फुटं मे समीरय ॥ १७ ॥
का सा ते जननी प्रोक्ता सखी वा तत्पतिश्च कः ।

मैं समझती हूँ जिसमें मेरी अनुमति न हो उस मार्गमें तो, जाग्रत्‌की तो बात ही क्या, आप स्वप्नमें भी नहीं जाते थे। मेरे बिना तो आपको एक क्षण भी युग और कल्पके समान अत्यन्त दुःसह हो जाता था। फिर बतलाइये ऐसा कैसे हुए ? आपने मेरे बिना युगके समान एक रात्रि भी कैसे बिता दी। "ऐसा कहकर वह हेमचूडसे लिपट गयी और फिर क्षणभरके लिये खिन्न-सी हो गयी ॥ १३-१४ ॥

किन्तु इसप्रकार अपनी प्रियासे आलिंगित होनेपर भी हेमचूडको कुछ भी विकार न हुआ। वह बोला, "प्रिये ! तुम्हें मुझे इस तरह मोहमें नहीं डालना चाहिये ॥ १५ ॥

मैंने तुम्हें अच्छी तरह पहचान लिया है। तुम्हारे लिये शोकका तो कोई भी कारण नहीं हैं, क्योंकि तुम कार्य-कारणस्वरूप पर ब्रह्मको जाननेवाली और धैर्यशालिनी हो; मोह किस प्रकार तुम्हें स्पर्श कर सकता है ॥ १६ ॥

इस समय मैं तुमसे जो पूछनेके लिये आया हूँ वह बताता हूँ, सुनो। तुमने पहले जो मुझे आत्म-कथा सुनायी थी उसे स्पष्ट करके मुझे समझाओ ॥ १७ ॥

तुमने अपनी वह माता कौन बतलायी थी ? तुम्हारी सखी और

तत् पुत्राद्या अपि च के मम वा ते क्व संवद ॥ १८ ॥
न तन्मया सुविदितं न तन्मन्ये मृषोदितम् ।
किन्तु त्वया निगदितं व्यपदेशेन सर्वथा ॥ १९ ॥
तद्विविच्य प्रकथय यथा ज्ञास्ये त्वहं स्फुटम् ।
अहं त्वां सुप्रसन्नोऽस्मि छिन्धि मे हृदि संशयम् ॥ २० ॥
एवमुक्ता हेमलेखा प्रसन्नवदनेक्षणा ।
मत्वा सुनिर्मलधियं परानुग्रहसंयुतम् ॥ २१ ॥
नूनमेषोऽतिविमुखो विषयेभ्योऽतिधैर्यतः ।
विष्णुशक्त्या महेशान्या फलितः पुण्यसञ्चयः ॥ २२ ॥
कालः प्रबोधने चायं बोधयामि ततस्त्विमम् ।
नाथ तेऽहो महाभाग्यं प्राप्तमीशकृपावशात् ॥ २३ ॥
अन्यथा नैव विषयवैरस्यं पश्यति क्वचित् ।

उसका पति कौन थे? उसके पुत्रादि कौन थे? और बताओ, मुझसे उनका कब सम्पर्क हुआ ॥ १८ ॥

मैं उस प्रसंगको ठीक-ठीक नहीं समझ सका। मैं ऐसा भी नहीं मानता कि तुमने झूठ कहा होगा। किन्तु तुमने वह बात सर्वथा सांकेतिक भाषामें कही है ॥ १९ ॥

तुम उसे स्पष्ट करके कहो, जिससे मैं साफ-साफ समझ जाऊँ। मैं तुमपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ, मेरे हृदयमें जो सन्देह है उसे दूर कर दो" ॥ २० ॥

हेमचूडके ऐसा कहनेपर हेमलेखाके मुख और नेत्र खिल गये। उसने समझ लिया कि परमात्मा की कृपासे सम्पन्न होकर इनकी बुद्धि अत्यन्त शुद्ध हो गयी है ॥ २१ ॥

निश्चय ही अत्यन्त धैर्यपूर्वक ये विषयोंसे सर्वथा विमुख हैं। भगवती विष्णुशक्ति की कृपासे इनके पुण्यपुञ्ज फलोन्मुख हो गये हैं ॥ २२ ॥

अब इनके तत्त्व-बोधका समय आ गया है, अतः मैं इन्हें ज्ञानोपदेश करूँगी। [फिर बोली—] "नाथ! भगवान्‌की कृपासे आपका परम सौभाग्य उदय हुआ है ॥ २३ ॥

नहीं तो कहीं कोई विषयोंमें नीरसताका अनुभव नहीं कर सकता।

एतल्लक्षणमीशस्यानुग्रहे ज्ञेयमादितः ॥ २४ ॥
भोगवैरस्यमपरं विचारप्रवणं मनः ।
हन्त ते सम्प्रवक्ष्यामि वृत्तिं प्रोक्तां सदात्मनः ॥ २५ ॥
परा चितिर्मे जननी सखी बुद्धिर्मता मम ।
अविद्या त्वसती सोक्ता यया बुद्धिः सुसङ्गता ॥ २६ ॥
अविद्यायास्तु सामर्थ्यं लोके स्पष्टं विचित्रितम् ।
यद्रज्जौ सर्पमाभास्य महाभीतिं प्रयच्छति ॥ २७ ॥
महामोहस्तु तत्पुत्रो मनस्तस्य सुतोऽभवत् ।
तस्य पत्नी कल्पना स्यात्तत्सुताः पञ्च येऽभवन् ॥ २८ ॥
ज्ञानेन्द्रियाणि ते पञ्च तत्स्थानं गोलकं भवेत् ।
विषयाणां प्रमोषस्तु संस्कारो मनसो भवेत् ॥ २९ ॥
तद्भोगः स्वप्नभोगः स्यात् कल्पनायाः स्वसा तु या ।
महाशना भवेदाशा तस्या यौ तनुजावुभौ ॥ ३० ॥

भगवान्‌की कृपा होनेमें यह सबसे पहला लक्षण समझना चाहिये ॥२४॥

दूसरा लक्षण है भोगोंमें विरसता भासना और मनका विचारोन्मुख हो जाना। अब मैंने आपसे जो सत्य आत्माकी स्थितिका वर्णन किया था उसका स्पष्टीकरण करती हूँ ॥ २५ ॥

परा चिति मेरी माता है; बुद्धि सखी मानी गयी है; अविद्या ही असली स्त्री है, जिसके साथ बुद्धिका मेल हो जाता है ॥ २६ ॥

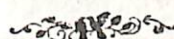
अविद्याका अद्‌भुत सामर्थ्य तो लोकमें स्पष्ट ही है कि वह रस्सीमें सर्पकी प्रतीति कराकर अत्यन्त भय उत्पन्न कर देती है ॥ २७ ॥

उसका पुत्र है महामोह और उसके मन नामका पुत्र हुआ। उसकी पत्नी है कल्पना और उससे जो पाँच पुत्र हुए वे हैं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। उनके स्थान हैं पाँच इन्द्रियगोलक। उन इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन ही मनका संस्कार बन जाता है ॥ २८-२९ ॥

उन संस्कारोंका भोग ही स्वप्नका भोग है। कल्पनाकी जो महाशना (बहुत खाने वाली) बहिन है वह आशा है, उसके जो

क्रोधो लोभश्च तावुक्तौ तत्पुरन्तु शरीरकम् ।
मम यस्तु महामन्त्रः स्वरूपस्फुरणं हि तत् ॥ ३१ ॥
प्राणप्रचारः सम्प्रोक्तो मनसस्तु प्रियः सखा ।
कान्ताराद्यास्तु नरका एवं सर्वं प्रकीर्त्तितम् ॥ ३२ ॥
मया बुद्धेः सङ्गमस्तु समाधिरभिधीयते ।
मन्मातृलोकसंप्राप्तिर्मोक्षः प्रिय उदाहृतः ॥ ३३ ॥
एवं प्रोक्तः स्ववृत्तान्तस्त्वमप्येवंविधौ ननु ।
तद्युक्त्यैतत् सुविज्ञाय परं श्रेयः समाप्नुहि ॥ ३४ ॥

इति श्रीमज्ज्ञानखण्डे हेमचूडोपाख्याने संसारा-
ख्यायिकाविवरणे अष्टमोऽध्यायः ।



दो पुत्र हैं वे क्रोध और लोभ कहे गये हैं। उनका नगर है शरीर। मेरा जो महामन्त्र है वह है स्वरूपका स्फुरण ॥ ३०-३१ ॥

प्राणको ही मनका प्रिय सखा प्रचार कहा गया है और वन आदि हैं नरक। इस प्रकार यह सारे प्रसंगका निरूपण हो गया ॥ ३२ ॥

बुद्धिका मेरे साथ समागम होना—यह समाधि कही गयी है और हे प्रिय! मेरी माता के लोककी प्राप्ति-यह मुक्ति है ॥ ३३ ॥

इस प्रकार मैंने अपना वृत्तान्त कहा। आप भी निश्चय इसी प्रकार हैं। अतः युक्तिपूर्वक इसका रहस्य समझकर परम श्रेयको प्राप्त कर लीजिये ॥ ३४ ॥

अष्टम अध्याय समाप्त ।



नवमोऽध्यायः

श्रुत्वेत्थं प्रियया प्रोक्तं हेमचूडोऽतिविस्मितः।
हर्षगद्गदया वाचा पुनर्वक्तुं प्रचक्रमे ॥ १ ॥
धन्या प्रियेऽसि निपुणा अहो ते ज्ञानवैभवम्।
किं वर्णयामि यत् प्रोक्तमाख्यारूपतयाऽखिलम् ॥ २ ॥
एवंविधं स्ववृत्तं मे नाभवद्विदितं क्वचित्।
त्वदुक्त्याऽहं सम्प्रति तत् करामलकवत् स्फुटम् ॥ ३ ॥
स्मराम्यनुभवाम्यन्तरहो लोकक्रियाऽद्भुता।
का सा परा चितिर्माता कथं तस्यास्तु नो जनिः ॥ ४ ॥

नवम अध्याय ॥ ९ ॥

हेमलताके उपदेशसे हेमचूडको आत्मतत्त्वकी उपलब्धि

अपनी प्रियाके द्वारा ऐसा तत्त्वविवेचन सुनकर हेमचूडको बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने हर्षगद्गद वाणीसे पुनः कहना आरम्भ किया ॥ १ ॥

"प्रिये! तुम धन्य हो, बड़ी ही चतुर हो तथा तुम्हारी ज्ञानसम्पत्ति भी धन्य है। तुमने आख्यायिकाके रूपमें जो कुछ कहा है उसका मैं क्या वर्णन करूँ? ॥ २ ॥

मुझे इस प्रकारका अपना ही वृत्तान्त पहले कभी विदित नहीं हुआ। अब तुम्हारे कथनसे यह स्थिति हथेलीपर रखे हुए आँवलेके समान स्पष्ट हो गयी है ॥ ३ ॥

अब तो मुझे अपने भीतर ही उस स्थितिका स्मरण और अनुभव हो रहा है। अहो! यह लोकव्यवहार बड़ा ही विचित्र है। [पर यह तो बताओ कि] वह हमारी माता पराचिति क्या है और उससे हमारा जन्म कैसे होता है? ॥ ४ ॥

के वा वयं स्वरूपं किमस्माकं तद् ब्रवीहि मे ।
इति पृष्टा हेमलेखा रामोवाच प्रियं प्रति ॥ ५ ॥
नाथ शृणु प्रवक्ष्यामि गूढार्थमिदमादरात् ।
विचारयात्मनो रूपं बुद्ध्याऽत्यन्तविशुद्धया ॥ ६ ॥
न दृश्यं नापि तद्वाच्यमतो वक्ष्यामि तत् कथम् ।
ज्ञातस्वात्मस्वरूपो वै ततो ज्ञास्यसि मातरम् ॥ ७ ॥
न ह्यादेशस्वरूपेऽस्ति तत आदेष्टृवर्जितम् ।
स्वं रूपं स्वात्मना पश्य शुद्धबुद्धिसमाश्रयम् ॥ ८ ॥
देवादितिर्यगन्तानां भान्तं भानैरभासितम् ।
भान्तं सर्वत्र सर्वस्य सर्वदा भानवर्जितम् ॥ ९ ॥

हम कौन हैं और हमारा स्वरूप क्या है—यह भी मुझसे कहो।" परशुराम! इस प्रकार पूछे जानेपर हेमलेखाने अपने प्रियतमसे कहा ॥ ५ ॥

"नाथ! सुनिये, मैं यह गूढ रहस्य सुनाती हूँ। आप आदरपूर्वक विशुद्ध बुद्धिसे अपने स्वरूपका विचार करें ॥ ६ ॥

वह आत्मतत्त्व न तो देखनेमें आता है और न कहा ही जा सकता है। अतः मैं किस प्रकार उसका वर्णन करूँ। आपको जब उस आत्माके स्वरूपका ज्ञान हो जायगा तभी आप अपनी माताको भी जान सकेंगे ॥ ७ ॥

आत्माके स्वरूपके विषयमें कोई उपदेश भी नहीं हो सकता, इसलिये उसका कोई उपदेश करनेवाला भी नहीं है। आप शुद्ध बुद्धिके आश्रयभूत उस आत्मस्वरूपको आत्मभावसे ही देख सकते हैं* ॥ ८ ॥

वह देवताओंसे लेकर कीट-पतंगादि पर्यन्त सभीके आत्मस्वरूपसे भासमान है, किन्तु किसी भी अन्य प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाला नहीं है। वही सबको सर्वत्र ज्ञानरूपसे भास रहा है, किन्तु किसी भी प्रमाण का विषय नहीं है ॥ ९ ॥

---

* 'शुद्धबुद्धि' अर्थात् विषयनिर्मुक्त बुद्धिके 'आश्रय'-अधिष्ठान भूत उस आत्मतत्त्वको निखिल दृश्यरूप अनात्माका निषेध कर देनेपर 'आत्मभाव'से अर्थात् दृश्य और दृश्याभावके साक्षीरूपसे ही अनुभव कर सकते हैं।

कथं कुत्र कदा केन निरूप्येतापि लेशतः ।
मन्नेत्रं दर्शयत्येवमुक्तमेतत् प्रियाधुना ॥ १० ॥
नात्राचार्यस्योपयोगो यथा नयनदर्शने ।
निपुणोऽपि महाचार्यः कथं नेत्रं प्रदर्शयेत् ॥ ११ ॥
अतो गुरुरुपायोऽत्र तदुपायप्रदर्शनात् ।
तत्ते वक्ष्याम्युपायन्तच्छृणु संयतमानसः ॥ १२ ॥
यावत्त्वमात्मनि ममेत्येवन्तु प्रतिपश्यसि ।
ततः परं निजं रूपं यन्ममेति न भाति ते ॥ १३ ॥
गत्वैकान्ते विविच्यैतद्यद्यद्भाति ममत्वतः ।
तत्तत् परित्यज्य परं स्वात्मानमभिलक्षय ॥ १४ ॥
यथाऽहं ते ममत्वेन भासनान्नात्मता मयि ।
सम्बन्धमात्रादात्मीया न स्वरूपगता ह्यहम् ॥ १५ ॥

उसका किसीके द्वारा किसी भी देश या कालमें किस प्रकार लेशमात्र भी निरूपण किया जा सकता है। प्रियतम! यह बात ऐसी ही है जैसे कोई कहे कि अब मुझे मेरे नेत्र दिखाओ ॥ १० ॥

जिस प्रकार नेत्रोंको दिखानेमें आचार्यका कोई उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि कोई अत्यन्त कुशल आचार्य भी भला नेत्रोंको कैसे दिखा सकता है ॥ ११ ॥

अतः गुरुदेव तो आत्मदर्शनका उपाय दिखानेके कारण ही इसमें उपयोगी हैं। इसलिये मैं उसका उपाय बताती हूँ, आप एकाग्रचित्त होकर सुनें ॥ १२ ॥

आप अपनेमें जहाँतक 'मेरा' ऐसा अनुभव करते हैं, आपका अपना स्वरूप उससे भिन्न ही है, जो आपको 'मेरा' इस रूपसे नहीं भासता ॥ १३ ॥

अब आप एकान्तमें जाकर इसका विवेचन करें और आपको जो कुछ 'मेरा' इस रूपमें प्रतीत हो उसे त्यागकर अपने आत्माको पहिचानें ॥ १४ ॥

जिस प्रकार मैं आपको अपनी रूपसे भासती हूँ, इसलिये मुझसे आपका आत्मभाव नहीं हो सकता। केवल सम्बन्ध होनेके कारण आत्मीय तो हूँ किन्तु आपके स्वरूपके अन्तर्गत नहीं हूँ ॥ १५ ॥

ममार्थमखिलं त्यक्त्वा यत्त्यक्तुं नैव शक्यते ।
तथाऽऽत्मानं समालक्ष्य परं श्रेयः समाप्नुहि ॥ १६ ॥
इत्युक्तः प्रियया हेमचूड उत्थाय वै द्रुतम् ।
ययावश्वं समारुह्य तत्क्षणे नगराद्बहिः ॥ १७ ॥
उद्यानं नन्दनसमं प्रविश्य क्षणमात्रतः ।
वनान्तसौधमुन्नम्रं स्फाटिकं प्रविवेश ह ॥ १८ ॥
विसृज्यानुचरान् सर्वान् द्वारपालानशासयत् ।
न कोऽप्यत्र प्रविशतु मय्येकान्तविचारणे ॥ १९ ॥
राजामात्याश्च गुरवो राजा वाऽप्यत्र सङ्गतः ।
अप्रवेश्या एव यावदहमाज्ञां दिशामि वः ॥ २० ॥
इत्युक्त्वाऽऽरुह्य सौधाग्र्यं नवमीं भूमिमाविशत् ।
तत्र वातायने चित्रे सर्वलोकावलोकने ॥ २१ ॥

इसी प्रकार 'अपने' कहे जानेवाले सभी पदार्थोंको त्यागने पर फिर जिसका त्याग न किया जा सके उसीको आत्मा जानकर आप परम कल्याणको प्राप्त करें" ॥ १६ ॥

प्रियाके इस प्रकार कहनेपर हेमचूड तत्काल उठा और घोड़ेपर चढ़कर उसी समय नगरसे बाहर चला गया ॥ १७ ॥

एक क्षणमें ही वह नन्दनवनके समान अपने उद्यानमें पहुँचा और उसके भीतर स्फटिकके बने हुए एक ऊँचे मन्दिरमें प्रविष्ट हो गया ॥ १८ ॥

अपने सभी सेवकोंको उसने बाहर छोड़ दिया और द्वारपालोंको आज्ञा दी की यहाँ एकान्त में विचार करते समय कोई भी भीतर न आये ॥ १९ ॥

चाहे राजमन्त्री, गुरुजन अथवा स्वयं महाराज भी यहाँ आवें तो भी जबतक मैं तुम्हें आज्ञा न दूँ तबतक उन्हें भी प्रवेश नहीं करना चाहिये ॥ २० ॥

ऐसा कह वह महलके ऊपर चढ़कर नवीं मंजिलपर पहुँच गया। वहाँके झरोखे में जहाँसे सब ओरका दृश्य दिखायी देता था,

आसने मृदुतूलाढ्ये विवेशान्यविवर्जितः ।
मनः समाधाय दृढं विचारमकरोत्तदा ॥ २२ ॥

नूनमेते जनाः सर्वे कथमेवं विमोहिताः ।
न कोऽप्यत्र विजानाति स्वात्मानं लेशतोऽपि च ॥ २३ ॥

सर्वोऽपि स्वात्मनो हेतोः करोति विविधाः क्रियाः ।
केचित् पठन्ति शास्त्राणि साम्नायानि च नित्यशः ॥ २४ ॥

केचिद्धनान्यर्जयन्ति केचिच्छासति चावनिम् ।
अन्ये युध्यन्ति रिपुभिरन्ये भोगैकलम्पटाः ॥ २५ ॥

कुर्वन्त्येतत् स्वार्थमेते स्वस्वात्मा कतमो भवेत् ।
नैनं जानाति कोऽप्यत्र कुत एवमयं भ्रमः ॥ २६ ॥

अहो यथावदात्मानमविदित्वैव वै कृतम् ।
व्यर्थं स्वप्ने कृतमिव तदद्य विमृशामि तम् ॥ २७ ॥

कोमल रुईसे भरे गद्दे पर बैठ गया और मनको अच्छी तरह एकाग्रकर विचार करने लगा। उस समय वहाँ और कोई नहीं था ॥ २१–२२ ॥

'सचमुच ये सब लोग ऐसा क्यों मोहमें पड़े हैं ? यहाँ कोई अपने आत्मस्वरूपको लेशमात्र भी तो नहीं जानता ! ॥ २३ ॥

सब लोग अपने सुखके लिये ही तरह-तरहके कर्म कर रहे हैं। कोई नित्यप्रति शास्त्राध्ययन करते हैं और कोई वेदपाठमें लगे हुए हैं ॥ २४ ॥

कोई धनोपार्जन करते हैं, कोई पृथ्वीका शासन कर रहे हैं, कोई शत्रुओंके साथ युद्ध करनेमें संलग्न हैं और कोई भोग भोगनेमें मस्त हैं ॥ २५ ॥

ये सब कार्य अपने ही लिये समझकर किये जाते हैं, किन्तु यह कोई नहीं जानता कि अपना आत्मा कौन है। ऐसा भ्रम कैसे हो गया ॥ २६ ॥

अहो ! इस आत्मतत्त्वको यथावत् बिना जाने तो ये सभी कर्म स्वप्नमें किये कर्मोंके समान व्यर्थ ही हैं। इसलिये अब मैं उस आत्माका ही विचार करता हूँ ॥ २७ ॥

गृहधान्यराज्यधनयोषित्पश्वादिकश्च न ।
न मे स्वरूपं भवति त्वनहन्ताश्रयत्वतः ॥ २८ ॥
मदर्थभूतताहेतोर्देहोऽहं स्यां हि सर्वथा ।
नूनं क्षत्रियदायादो गौराङ्गोऽहं न संशयः ॥ २९ ॥
अहन्तया समाक्रान्तास्तथैतेऽपि जनाः परे ।
इति निश्चित्य दध्यौ तं देहं राजकुमारकः ॥ ३० ॥
अथ देहस्य चात्मत्वं प्रतिषेद्धुं प्रचक्रमे ।
अहो कथं देह एष ममतायाः समाश्रयः ॥ ३१ ॥
रुधिरास्थ्यादिसंघातः प्रतिक्षणविकारवान् ।
मम रूपं भवेन्नूनं छिन्नमेतत्तु लक्ष्यते ॥ ३२ ॥
काष्ठलोष्ठसमत्वेन स्वप्नादौ चान्यथा स्थितः ।
नाहं देहोऽन्य एव स्यां प्राणोऽप्येष तथाविधः ॥ ३३ ॥

गृह, अन्न, राज्य, धन, स्त्री और पशु आदि तो मेरे स्वरूप हो नहीं सकते, क्योंकि ये अहन्ता (मैंपन) के आश्रय नहीं हैं। [अर्थात् इन्हें 'मैं' नहीं कह सकते, ये 'मेरे' हैं]॥ २८ ॥

'मैं' शब्दका अर्थ होनेके कारण मैं सर्वथा देह ही हो सकता हूँ। इसमें सन्देह नहीं मैं क्षत्रिय कुलमें जन्म लेनेवाला गौरवर्ण देह-ही हूँ ॥ २९ ॥

इसी प्रकार ये और सब लोग भी देहमें अहंबुद्धिसे सम्पन्न हैं। ऐसा निश्चय कर वह राजकुमार देहका ही आत्मबुद्धिसे चिन्तन करने लगा ॥ ३० ॥

अब तो उसने देहकी आत्मताका निषेध करना आरम्भ कर दिया। [वह सोचने लगा-] अहो ! यह देह मेरा वास्तविक स्वरूप कैसे हो सकता है ? यह तो ममताका आश्रय है, रक्त और अस्थि आदिका संघात है, प्रतिक्षण परिवर्तित होनेवाला है तथा काष्ठ और पाषाणके समान छिन्न-भिन्न होता भी देखा जाता है। इसके सिवा स्वप्न आदि अन्य अवस्थाओंमें इसकी स्थिति अन्य प्रकारकी ही रहती है। इसलिये मैं देह नहीं हो सकता। साथ ही यह प्राण भी ऐसा ही है ॥ ३१-३३ ॥

मनो बुद्धिश्च नाहं स्यां यत एतन्ममेरितम् ।
अतो देहादिबुद्ध्यन्तस्तदन्य एव न संशयः ॥ ३४ ॥
अहं कदाचिन्नास्मीति भासनाभावहेतुतः ।
सर्वदाऽहं भासमानः स्थित एव न संशयः ॥ ३५ ॥
भासमानस्य तु मम केन भानमिति स्फुटम् ।
न हि जानामि तत् कस्मादेतन्न विदितं मया ॥ ३६ ॥
घटादिकं चक्षुराद्यैर्भासते भुवि नान्यतः ।
प्राणस्त्वचा विभात्येव मनो ज्ञानेन चेहितम् ॥ ३७ ॥
एवं बुद्धिः केन च मे भासनं नाविदं त्विदम् ।
अथैषां भासनादेव नात्मा भासेत मे यदि ॥ ३८ ॥
तर्हिं नो विमृशाम्येतांस्ततो मे भासनं भवेत् ।
इति निश्चित्य मनसा जहौ मानसगोचरम् ॥ ३९ ॥

इसी प्रकार मन और बुद्धि भी 'मैं' नहीं हो सकते, क्योंकि ये 'मेरे' कहे जाते हैं। इसलिये निःसन्देह देहसे लेकर बुद्धिपर्यन्त जो कुछ है 'मैं' उससे भिन्न ही है ॥ ३४ ॥

'मैं नहीं हूँ' ऐसा कभी नहीं भासता। इसलिये मैं सर्वदा भासमान रूपसे ही स्थित हूँ—इसमें सन्देह नहीं ॥ ३५ ॥

किन्तु मैं जो भासमान हूँ उसका भान किससे होता है—यह मैं स्पष्ट नहीं जानता। तो यह बात मुझे क्यों विदित नहीं होती? ॥ ३६ ॥

संसारमें घट आदि पदार्थ नेत्रादि इन्द्रियोंसे भासते हैं, किसी अन्य से नहीं। प्राण त्वचाके द्वारा स्पर्श होनेसे जाना जाता है तथा मन अपने ज्ञानात्मक कर्मसे अनुमित होता है ॥ ३७ ॥

इसी प्रकार बुद्धिकी भी पहचान [अपने निश्चयात्मक कर्म से] होती है। किन्तु मेरा भान कैसे होता है—यह मैं क्यों नहीं जानता? यदि इन सबके भानके कारण ही मुझे आत्माका भान न होता हो, तो मैं इन सबका संकल्प ही छोड़ देता हूँ। तब सम्भव है, मुझे आत्माका भान हो जाय।' ऐसा निश्चय कर उसने मनसे होनेवाले सभी संकल्पोंको त्याग दिया ॥ ३८–३९ ॥

अथाऽपश्यदन्धकारं गाढं तत्क्षणमात्रतः।
इदं ममाऽऽत्मनो रूपमिति निश्चितमानसः॥ ४०॥
प्रहर्षमतुलं लेभे चाऽथ भूयो व्यचिन्तयत्।
नूनं पुनः प्रपश्यामीत्येवं चित्तं रुरोध वै॥ ४१॥
चञ्चलं हठयोगेन निरुद्धं समवैक्षत।
तेजःपुञ्जमनाद्यन्तं भास्वरं क्षणमात्रतः॥ ४२॥
प्रबुद्धश्चिन्तयामास किमेतदिति विस्मितः।
अहो पश्यामि विविधं किमात्मानं कथन्त्विदम्॥ ४३॥
भूयः पश्यामि चेत्येवं रुरोध स्वमनस्तदा।
विलीनं निद्रया चित्तं बभौ चिरतरं दृढम्॥ ४४॥
तत्राऽपश्यत् स्वप्नजालं विचित्रानेकदर्शनम्।
अथ प्रबुद्धोऽत्यन्तं वै चिन्तां प्राप महत्तराम्॥ ४५॥
किमहं निद्रयाऽऽच्छन्नः स्वप्नान् समवलोकयम्।
तमस्तेजश्चापि दृष्टमहो स्वप्नात्मको भवेत्॥ ४६॥

तब एक क्षणमें ही उसने गाढ़ अन्धकार देखा। और यह समझकर कि यही आत्माका स्वरूप है उसे अपार आनन्द हुआ। फिर यह सोचकर कि अभी और कुछ देखना चाहिये उसने अपने चञ्चल चित्तका हठयोगके द्वारा निरोध किया। चित्त निरुद्ध होनेपर उसने एक क्षणमें ही बड़ा प्रकाशपूर्ण अनादि-अनन्त तेजःपुञ्ज देखा॥ ४०-४२॥

उससे उत्थान होनेपर वह आश्चर्यचकित होकर सोचने लगा—यह क्या था? अहो! मैं अपने आत्माको इस प्रकार अनेक रूपमें क्यों देख रहा हूँ॥ ४३॥

अच्छा, मैं फिर देखूँ—यह सोचकर उसने फिर मनका निरोध किया। इस समय उसका चित्त बहुत देरतक गहरी निद्रामें लीन हो गया॥ ४४॥

उस अवस्थामें उसने स्वप्नजालमें पड़कर अनेकों विचित्र दृश्य देखे। उससे जगनेपर वह पुनः बड़ी भारी गम्भीर चिन्तामें पड़ गया॥ ४५॥

'क्या मैंने निद्रामें पड़कर ये स्वप्न ही देखे थे? तब तो मैंने जो अन्धकार और प्रकाश देखे थे वे भी स्वप्न ही होने चाहिये॥ ४६॥

स्वप्नस्तु मानसोल्लासस्तदेतं वर्जये कथम् ।
भूयो निगृह्य पश्यामीत्येवं निश्चित्य वै दृढम् ॥ ४७ ॥
रुरोध चित्तं तु हठात्तदेतदभवत् स्थिरम् ।
तदानन्दसमुद्रान्तर्निमग्न इव सोऽभवत् ॥ ४८ ॥
पुनश्चित्तप्रचलनात् प्रबुद्धोऽभवदञ्जसा ।
किमेष मेऽभवत् स्वप्नश्चाऽथ वा चित्तविभ्रमः ॥ ४९ ॥
आहोस्वित् सत्य एष स्यादविचिन्त्यं विभाति मे ।
नाऽन्वभूवं किञ्चिदपि सुखमाप्तं कथं मया ॥ ५० ॥
अहोऽस्य सुखलेशस्य तुल्यं नास्त्यत्र किञ्चन ।
अहं सुषुप्तवन्मूढः कथमेतत् सुखं स्थितम् ॥ ५१ ॥
नात्र हेतुं कञ्चिदपि लक्षये तत् कथं भवेत् ।
आत्मावगमनायाऽहं प्रवृत्तोऽप्यद्य नाऽविदम् ॥ ५२ ॥

स्वप्न तो मनका ही पसारा होता है। तो फिर मैं इसे कैसे निवृत्त करूँ। अच्छा, एक बार फिर मनका निरोध करके देखूँ।' ऐसा दृढ़ निश्चय कर उसने हठपूर्वक चित्तका निरोध किया। इस बार वह स्थिर हो गया। और वह मानो आनन्दके समुद्रमें डूब गया ॥४७–४८॥

फिर चित्तमें गति होनेसे वह स्वभावसे ही जाग्रत् हो गया [और सोचने लगा]—इस बार भी मुझे स्वप्न ही हुआ था या यह मेरे चित्तका भ्रम था। अथवा सत्य ही था। मुझे तो यह बड़ा विचित्र-सा जान पड़ता है। मैंने किसी वस्तुका तो अनुभव किया नहीं, फिर मुझे सुख कैसे मालूम हुआ ॥ ४९–५० ॥

अहो ! इस सुखके तो लेशमात्रके समान कोई वस्तु नहीं है। मैं तो गहरी नींदमें पड़े हुएके समान अचेत था। फिर यह सुख कैसे हुआ ? ॥ ५१ ॥

इसका मुझे कोई हेतु तो दिखायी नहीं देता। फिर यह हुआ कैसे ? मैं तो आत्माका स्वरूप जाननेके लिये प्रवृत्त हुआ था, सो अभी तक उसे तो जान नहीं सका ॥ ५२ ॥

आत्मानमन्यच्चान्यच्च पश्यामि किमिदं भवेत्।
प्रकाशो वाऽन्धकारो वा सुखं वाऽन्यदथापि वा ॥ ५३ ॥
आत्मा भवेन्मम तथा क्रमिकैतत्स्वरूपकः।
नाऽन्तमेम्यत्र भूयस्तां पृच्छामि विदुषीं प्रियाम् ॥ ५४ ॥
इति निश्चित्य द्वारेशमाहूयाज्ञां समाविशत्।
स्वसन्निधानमानेतुं हेमलेखां नृपात्मजः ॥ ५५ ॥
अथ प्राप्ता मुहूर्त्तेन द्वारिकस्य निदेशतः।
आरुरोह महासौधं मेरुमिन्दुप्रभेव सा ॥ ५६ ॥
अथाऽपश्यद्राजसुतं प्रियं शान्तात्ममानसम्।
निश्चलं निर्विकारश्च संहृतेन्द्रियमण्डलम् ॥ ५७ ॥
समीपमुपसृत्याशु तद्विष्टरमुपारुहत्।
एकासनोपविष्टायां तस्यां स निमिषार्द्धतः ॥ ५८ ॥

उस आत्माको मैं अन्य-अन्य रूपसे ही देख रहा हूँ। वह वास्तवमें है क्या! वह प्रकाश है, अन्धकार है, सुख है, अथवा कुछ और ही है? ॥ ५३ ॥

अथवा मेरा आत्मा क्रमशः इन सभी स्वरूपोंवाला है? इस विषयमें मैं तो कोई निर्णय कर नहीं पाता। अतः अपनी उस विदुषी प्रियासे ही पूछूँ ॥ ५४ ॥

ऐसा विचारकर उस राजकुमारने द्वारपालको बुलाया और हेमलेखाको अपने पास लानेके लिये उसे आज्ञा दी ॥ ५५ ॥

द्वारपालके प्रार्थना करने पर एक मुहूर्त्तमें ही हेमलेखा आ गयी और चन्द्रमाकी ज्योत्स्ना जैसे सुमेरुपर्वतपर चढ़े वैसे ही उस विशाल मन्दिर पर चढ़ गयी ॥ ५६ ॥

वहाँ उसने अपने प्रियतम राजकुमारको देखा कि उसके शरीर और मन शान्त हैं, प्राण निश्चल हैं, कामादि विकार निवृत्त हो गये हैं तथा इन्द्रियवर्ग संयत हैं ॥ ५७ ॥

हेमचूडके समीप पहुँचकर वह उसीके विस्तरपर बैठ गयी।

उन्मील्य नयने पार्श्वे समालोकयदास्थिताम् ।
आलोकिता प्रियं शीघ्रं प्रणयात् परिषस्वजे ॥ ५९ ॥
ततः प्राहाऽमृतस्यन्दि सुन्दरं वचनं प्रिया ।
नाथ किं भवताऽऽहूता कच्चित्ते नीरुजं तनौ ॥ ६० ॥
वदाऽऽहूतौ कारणं मे यदर्थमहमागता ।
एवं प्रियानुयुक्तः स बभाषे स्वात्मनः प्रियाम् ॥ ६१ ॥
प्रिये त्वयाऽनुशिष्टोऽहं विविक्तेऽत्र समास्थितः ।
विचारपरमः स्वात्मरूपलक्षणहेतवे ॥ ६२ ॥
तत्परेणापि चित्तन्तु लक्षितं तत् पृथक् किमु ।
आत्मनः सर्वदा प्राप्तेर्भासमानत्वतोऽपि च ॥ ६३ ॥
असम्यग् भासनश्चान्यभासनस्य निमित्ततः ।
इति मत्वा निरुध्यान्यभासनं सुव्यवस्थितः ॥ ६४ ॥

उसके एक ही आसनपर बैठ जानेपर राजकुमारने आधे निमेषमें ही नेत्र खोल दिये और उसे अपने बगलमें बैठे देखा ॥ ५८-५९ पू० ॥

हेमचूडकी दृष्टि पड़ते ही उसने तुरन्त बड़े प्रेमसे उसका आलिंगन किया और फिर अमृतकी वर्षा-सी करनेवाले सुन्दर वचन बोली ॥ ५९ उ०—६० पू० ॥

"नाथ ! आपने मुझे कैसे बुलाया ! आपका शरीर तो स्वस्थ है न ? मुझे बुलानेका कारण बताइये, जिस निमित्तसे कि मैं यहाँ आयी हूँ" ॥ ६० उ० ६१ पू० ॥

अपनी प्रियाके द्वारा इस प्रकार पूछे जानेपर वह उससे बोला, "प्रिये ! तुम्हारा उपदेश सुनकर मैं यहाँ एकान्तमें अपने स्वरूपका साक्षात्कार करनेके लिये विचारमें तन्मय होकर बैठा था ॥ ६१ उ०-६२ ॥

यद्यपि मेरा चित्त केवल आत्मचिन्तनमें ही निरत था और आत्मा नित्य प्राप्त एवं प्रकाशस्वरूप भी है, फिर भी मुझे पृथक्-पृथक् दृश्य क्यों दिखायी दिये ॥ ६३ ॥

फिर यह सोचकर कि यह असम्यक् प्रतीति अन्य पदार्थोंकी प्रतीतिके कारण हुई है, मैं अन्य सभी प्रतीतियोंका निरोध करके स्थित हो गया ॥ ६४ ॥

अपश्यमन्धकारश्च प्रकाशमन्यदेव च।
क्वचित् सुखं महत् प्राप्तं किमेतद्वद मे प्रिये ॥ ६५ ॥
इदमेवात्मनो रूपमथवाऽन्यद्भवेत् क्वचित्।
सम्यग् विविच्य कथय यथा तमभिलक्षये ॥ ६६ ॥
इत्युक्ता साऽब्रवीद्धेमलेखा ज्ञातपरावरा।
शृणु प्रिय प्रवक्ष्यामि समाहितधियाऽखिलम् ॥ ६७ ॥
यस्त्वया बाह्यसंरोधे व्यवसायः समेधितः।
स शुभः सम्मतः सर्वैः सुमुख्यश्चात्मवेदिभिः ॥ ६८ ॥
विना तेन न तत् प्राप्तं केनापि कुत्रचित् क्वचित्।
न तत् कारणतामेति तत्प्राप्तौ प्राप्तभावतः ॥ ६९ ॥

तब मैंने अन्धकार, प्रकाश और अन्य दृश्य देखे तथा कभी मुझे बड़ा भारी सुख भी प्राप्त हुआ। प्रिये! बताओ, यह सब क्या था? ॥ ६५ ॥

आत्माका स्वरूप क्या यही है, अथवा कुछ और है? इसका अच्छी तरह विवेचन करके निरूपण करो, जिससे मैं उसे अनुभव कर सकूँ" ॥ ६६ ॥

इस प्रकार कहे जानेपर परमात्मतत्त्वको जाननेवाली हेमलेखाने कहा। "प्रियतम! मैं सब रहस्य बतलाती हूँ, आप एकाग्रचित्त होकर सुनें ॥ ६७ ॥

आपने जो बाह्य वृत्तियोंको निरोधका प्रयत्न किया यह तो बहुत अच्छा है और सभी आत्मज्ञानी इसे मुख्य साधन मानते हैं ॥ ६८ ॥

उसके बिना तो किसीको कहीं भी कभी उस आत्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई। परन्तु यह [आत्मज्ञानकी ही प्राप्तिका कारण है] आत्माकी प्राप्तिका कारण नहीं, क्योंकि वह तो प्राप्त ही है" ॥ ६९ ॥

---

१. जीवको अज्ञानवश आत्माकी अप्राप्तिका भ्रम हो रहा है। अतः किसी भी साधनसे केवल अज्ञानकी ही निवृत्ति होती है। स्वयं आत्मा तो प्राप्त ही है। यदि साधनके द्वारा आत्माकी प्राप्ति मानी जायगी तो वह घटादिके समान जड, परिच्छिन्न और अनात्मा सिद्ध होगा। अतः साधनका उपयोग अज्ञान की निवृत्तिमें ही है, आत्माकी प्राप्तिमें नहीं।

अप्राप्तावात्मता न स्यादात्मत्वेनाप्तता कुतः ।
अप्राप्यः सर्वथैवात्मा प्राप्तिस्तस्य न विद्यते ॥ ७० ॥
अप्राप्तस्य भवेत् प्राप्तिरात्मत्वान्नाप्तिरस्त्यतः ।
तन्निरोधोऽपि नाप्त्यर्थस्त्वत्र पश्य निदर्शनम् ॥ ७१ ॥
अन्धकारसमाच्छन्नं किञ्चित्तस्य निरोधतः ।
दीपाद्यैराप्यते प्राप्तमिव लोके यथा तथा ॥ ७२ ॥
यथा कश्चिद् भ्रान्तचित्तः कश्चिद्विस्मृतनिष्ककः ।
अन्यचिन्तानिरोधेन समाहिततया पुनः ॥ ७३ ॥
आसादयति तन्निष्कं नष्टं प्राप्तं यथा तथा ।
न निरोधोऽत्र हेतुः स्यान्निष्काप्तौ तु यथा तथा ॥ ७४ ॥
आत्मलाभेन हेतुः स्यान्निरोधो बाह्यवस्तुनः ।
त्वया न लक्षितः स्वात्मा तत्र व्युत्पत्तिवर्जनात् ॥ ७५ ॥

यदि वह अप्राप्त हो तो आत्मा नहीं हो सकता और आत्मा है तो उसकी प्राप्ति कहाँसे होगी ? इसलिये आत्मा सर्वथा प्राप्त न होने वाला ही है, उसकी प्राप्ति नहीं हुआ करती ॥ ७० ॥

प्राप्ति सर्वदा अप्राप्तकी ही होती है, अतः आत्मा होनेके कारण इसकी प्राप्ति नहीं होती । मनका निरोध भी आत्माकी प्राप्तिका कारण नहीं है ; इसके लिये इस दृष्टान्त पर दृष्टि दो ॥ ७१ ॥

जिस प्रकार लोकमें अन्धकारसे आच्छादित कोई वस्तु दीपकादिके द्वारा अन्धकारका निरोध होनेपर प्राप्त-सी कही जाती है उसी प्रकार यहां समझना चाहिये ॥ ७२ ॥

जिस प्रकार कोई भ्रान्तचित्त पुरुष कहीं सोना रखकर भूल जाय और फिर अन्य सब चिन्तनोंको छोड़कर चित्तको समाहित करनेपर उसे वह मिल जाय तो वह खोकर पाया हुआ माना जाता है उसी प्रकार यहाँ समझो । जिस तरह अन्य चिन्तनोंका त्याग सुवर्णकी प्राप्तिमें हेतु नहीं है उसी तरह आत्मप्राप्तिमें भी मनका निरोध कारण नहीं है । आपको आत्माके स्वरूपका परिचय नहीं है इसीसे आप उसका अनुभव नहीं कर सके ॥ ७३–७५ ॥

यथा प्रकाशे व्युत्पन्नो रात्रौ राजसभां गतः।
पश्यन् सभ्यांश्च दीपांश्च न जानाति प्रकाशकम् ॥ ७६ ॥
शृणु प्रिय निरोधान्ते ह्यन्धकारो विलोकितः।
अन्धकारावलोकादौ शेषभावस्तव स्थितः ॥ ७७ ॥
तं भावं भावय सदा परमानन्ददायकम्।
अत्र सर्वे महामोहग्रहग्रस्ताः पराग्दृशः ॥ ७८ ॥
अन्विष्यान्विष्य विहता न तां प्रापुश्च भावनाम्।
सन्ति लोके शास्त्रविदः कुशलाश्च सुतार्किकाः ॥ ७९ ॥
अविदित्वा भावममुं शोचन्त्येव दिवानिशम्।
शब्दार्थशिल्पमात्रेण न हि तत् पदमाप्यते ॥ ८० ॥

जिस प्रकार पुरुष रात्रिके समय राजसभामें जाय और प्रकाशसे उसका परिचय न हो, तो वह वहाँ सभासद और दीपकोंको देखते हुए भी प्रकाश करनेवालेको नहीं जान पाता ॥ ७६ ॥

प्रिय ! सुनो आपने चित्तनिरोधके पश्चात् अन्धकार देखा; किन्तु उस अन्धकारावलोकनसे पूर्व [निर्विकल्प अवस्थामें सम्पूर्ण विषयोंका अभाव हो जानेपर] तो शेषरूपसे आप ही रह गये थे[1] ॥ ७७ ॥

उस परमानन्ददायक शेषभावका ही आप सर्वदा चिन्तन कीजिये। सब बहिर्मुख लोग इसी स्थानमें महामोहसे ग्रस्त हो जाते हैं। वे खोज-खोजकर थक जाते हैं, तो भी इस भावको प्राप्त नहीं कर पाते ॥ ७८-७९ पू० ॥

लोकमें ऐसे अनेकों शास्त्रज्ञ और कुशल तार्किक हैं जो इस भावको न जाननेके कारण रात-दिन शोक ही करते रहते हैं। शब्दोंका अर्थ कर लेनेकी कलासे ही उस पदकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ७९ उ०-८० ॥

---

१. निरोधकालमें दृश्यका सर्वथा अभाव हो जानेपर जो ज्ञानमात्र शेष रहता है वही आत्माका शेषभाव है। उसका किसी प्रकार निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयंप्रकाश होनेसे सर्वदा प्रकाशमान है। सभी सन्धियोंमें उसका स्वयं ही अनुभव होता रहता है।

यावदन्वेषणं कुर्याद्विचारं वाऽपि पण्डितः ।
तावन्न प्राप्यते तद्वै यतो न ग्राह्यमेव तत् ॥ ८१ ॥
गत्वा दूरं न तत् प्राप्यं स्थित्वा प्राप्तं हि सर्वदा ।
न तद्विचार्य विज्ञेयमविचाराद्विभासते ॥ ८२ ॥
धावन् स्वमूर्द्धच्छायेव न प्राप्यं क्रियया क्वचित् ।
यथा हि निर्मलादर्शे प्रतिबिम्बसहस्रकम् ॥ ८३ ॥
पश्यन् बालोऽपि नाऽऽदर्शं पश्यत्येवं जनः खलु ।
पश्यन् स्वात्ममहादर्शे प्रतिबिम्बं हि जागतम् ॥ ८४ ॥
स्वात्मानं न विजानाति तद्व्युत्पत्तिविवर्जनात् ।
यथाऽपरिचिताकाशः पश्यन्नाकाशसंश्रितम् ॥ ८५ ॥
जगन्नावैति चाकाशं तथा स्वात्मस्वरूपकम् ।

जबतक कोई पण्डित आत्माकी खोज अथवा उसके विचारमें लगा रहता है तबतक वह मिल नहीं सकता, क्योंकि वह ग्राह्य तो है ही नहीं ॥ ८१ ॥

वह दूर चलकर जानेसे नहीं मिलता, वह तो सर्वदा स्थिर रहनेसे ही मिलता है। विचार करनेसे उसका ज्ञान नहीं होता, उसकी अनुभूति तो विचारकी निवृत्ति होनेसे ही होती है[1]। जिस प्रकार अपने मस्तककी छाया दौड़कर नहीं पकड़ी जा सकती उसी प्रकार किसी क्रियाके द्वारा वह कभी प्राप्त नहीं होता ॥ ८२-८३ पू० ॥

जैसे एक बच्चा भी निर्मल दर्पणमें हजारों प्रतिबिम्ब देख लेता है किन्तु दर्पणको नहीं देख पाता, उसी प्रकार लोग इस आत्मारूप महान् दर्पणमें जगत्‌रूप प्रतिबिम्बको देखते हुए भी परिचय न होनेके कारण अपने आत्माको नहीं देख पाते ॥ ८३ उ०–८५ पू० ॥

जैसे आकाशसे अपरिचित पुरुष आकाशमें स्थित सम्पूर्ण जगत्‌को देखते हुए भी आकाशको नहीं जान पाता उसी प्रकार जीव अपने स्वरूपको नहीं जान पाता ॥ ८५ उ०–८६ पू० ॥

१. क्योंकि चलनेसे इन्द्रियोंका प्रसार होता है और उसकी प्राप्ति होती है इन्द्रियोंके संकोचसे। इसी प्रकार विचार करनेसे अन्तःकरण की वृत्तियाँ फैलती हैं और उसकी उपलब्धि होती है वृत्तियोंका निरोध होने पर।

नाथ सूक्ष्मदृशा पश्य ज्ञानज्ञेयात्मकं जगत् ॥ ८६ ॥
तत्र ज्ञानं स्वतःसिद्धं तदभावे न किञ्चन ।
प्रमाणानां प्रमाणं तदप्रमाणं स्वतो भवेत् ॥ ८७ ॥
यतः प्रमाणानपेक्षमादिसिद्धमतस्तु तत् ।
सिद्धसाधकभावेन न तत्सिद्धिः कदाचन ॥ ८८ ॥
तत्र विप्रतिपन्नस्य न प्रश्नो नापि चोत्तरम् ।
अनपह्नवनीयं तन्महादर्शतलं भवेत् ॥ ८९ ॥
तत्र सर्वं भासते वै दर्पणप्रतिबिम्बवत् ।
देशेन वापि कालेन परिच्छित्तिर्न विद्यते ॥ ९० ॥
तदन्तर्भासमानत्वात् कथं ताभ्यां परिच्छिदिः ।
परिच्छेदस्य भानन्तु गगने वस्तुभिर्यथा ॥ ९१ ॥

नाथ ! इस ज्ञान और ज्ञेयस्वरूप जगत्को आप सूक्ष्मदृष्टिसे देखिये । इसमें जो ज्ञान (अनुभव) है वह स्वतः सिद्ध है; वह न हो तो कुछ भी नहीं रह सकता ॥ ८६ उ०–८७ पू० ॥

वह सम्पूर्ण प्रमाणोंका प्रमाण है, किन्तु स्वयं किसी प्रमाणका विषय नहीं है । क्योंकि अपनी सिद्धिके लिये उसे प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है, इसलिये वह सबसे पहले सिद्ध (विद्यमान) है । वह किसी सिद्धिका साधक है—इस रूपसे भी उसकी कभी सिद्धि नहीं हो सकती[1] ॥ ८७ उ०–८८ ॥

जिसे उस ज्ञानकी सत्तामें सन्देह है उसका तो कोई प्रश्न भी नहीं हो सकता और न उसे उत्तर ही दिया जा सकता है । एक महान् दर्पणके समान उसका किसी भी प्रकार निषेध नहीं किया जा सकता ॥ ८९ ॥

दर्पणमें प्रतिबिम्बकी तरह उसीमें सब कुछ भास रहा है । किसी भी देश या कालसे उसका परिच्छेद नहीं हो सकता ॥ ९० ॥

क्योंकि ये (देश और काल) भी तो उसीमें भास रहे हैं, फिर इनसे उसका परिच्छेद कैसे हो सकता है । इनके द्वारा उसके

---

१. क्योंकि न तो उससे भिन्न किसीकी सत्ता है, जिसकी वह सिद्धि करे । और न वह किसीका कर्ता या करण ही है, जो किसीकी सिद्धिका साधक या साधन बने ।

राजपुत्र सूक्ष्मदृशा तल्लक्षय निजं वपुः।
यत्र सामान्यचैतन्ये जगदेतद्विराजते ॥ ९२ ॥

तत्समावेशसंसिद्ध्या सर्वकर्तृत्वमाप्नुयात्।
तस्योपलब्धिं वक्ष्यामि यतः प्राप्नोति तत् पदम् ॥ ९३ ॥

निद्राजाग्रन्मध्यभागे संविच्छेदान्तरे तथा।
मध्ये संविच्छेदयोश्च सूक्ष्मबुद्ध्याऽभिलक्षय ॥ ९४ ॥

एतत् पदं निजं रूपं यत् प्राप्य न विमुह्यसि।
एतदज्ञानमात्रेण प्रवृत्तं जगदीदृशम् ॥ ९५ ॥

नात्र रूपं रसो वापि न गन्धस्पर्शशब्दकम्।
न दुःखं न सुखं वा तु न ग्राह्यं ग्राहकश्च न ॥ ९६ ॥

परिच्छेदका भान तो ऐसा ही है जैसे [घटादि] वस्तुओंके द्वारा आकाशमें परिच्छेदकी प्रतीति होना ॥ ९१ ॥

राजकुमार! आप सूक्ष्म दृष्टिसे उस अपने स्वरूपका विचार कीजिये। उस सर्वसामान्य चैतन्य (ज्ञान) पर ही यह सारा जगत् खड़ा हुआ है ॥ ९२ ॥

उसके साथ अपने अभेदकी अनुभूति दृढ हो जानेपर जीव सर्वकर्तृत्व (परमेश्वरके साथ तन्मयत्व) प्राप्त कर लेता है। मैं आपको उसकी उपलब्धिके स्थान बतलाती हूँ, जिनसे कि उस पदकी प्राप्ति हो सकती है ॥ ९३ ॥

निद्रा और जाग्रत् अवस्थाओंके मध्यमें, चित्तके एक विषयको छोड़कर दूसरे विषयपर जानेके बीचकी स्थितिमें और दो प्रकारकी बुद्धिवृत्तियोंके बीचमें आप सूक्ष्म बुद्धिसे उसका अनुभव कीजिये ॥९४॥

यह पद ही अपना वास्तविक स्वरूप है, जिसे पा लेनेपर जीव मोहमें नहीं पड़ता। इसके अज्ञान-मात्रसे ही यह सारा जगत्का पसारा फैला हुआ है ॥ ९५ ॥

इस आत्मस्वरूपमें न रूप है, न रस है और न गंध, स्पर्श या शब्द हैं। इसमें दुःख-सुख तथा ग्राह्य (विषय) और ग्राहक (इन्द्रियाँ) भी नहीं हैं ॥ ९६ ॥

सर्वाश्रयं सर्वरूपमपि सर्वविवर्जितम्।
एष सर्वेश्वरो धाता विष्णुरीशः सदाशिवः॥ ९७॥
पश्येयदन्तः संरुध्य स्वात्मानं स्वात्मना सता।
त्यक्त्वा बहिः प्रसरतामन्तः प्रसरणोद्यतः॥ ९८॥
त्यक्त्वा पश्यामीति भावमन्धवन्निश्चलात्मना।
दर्शनादर्शने त्यक्त्वा योऽसि सोऽसि द्रुतं भज॥ ९९॥
इत्युक्तः प्रियया हेमचूड आलक्ष्य तत् पदम्।
चिरं विश्रान्तिमालभ्य बहिर्विस्मरणं ययौ॥ १००॥

इति श्रीज्ञानखण्डे हेमचूडविश्रान्तिर्नवमोऽध्यायः।



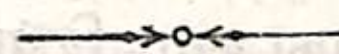
यह सबका आश्रय और सर्वरूप होनेपर भी सबसे रहित है। यही सबका स्वामी तथा ब्रह्मा, विष्णु और महादेव भी है॥ ९७॥

अपने अन्तःकरणको थोड़ा रोककर सत्स्वरूप आत्माके द्वारा ही अपने आत्माका साक्षात्कार कीजिये। चित्तके बाह्य प्रसारको त्यागकर उसे भीतरकी ओर ले जानेका उद्योग कीजिये॥ ९८॥

'मैं देखता हूँ' इस भावको भी त्यागकर बिलकुल अन्धेके समान निश्चलचित्त होकर देखने और न देखनेके संकल्पको भी छोड़कर आप जो कुछ हैं तुरन्त उसी रूपसे स्थित हो जाइये[1]॥ ९९॥

प्रियतमा हेमलताके इस प्रकार कहनेपर हेमचूडने उस आत्मपदका अनुभव किया और चिरकालतक (निर्विकल्प समाधिमें) विश्रान्तिकी उपलब्धि करते हुए उसे बाह्य विषयोंका विस्मरण हो गया॥ १००॥

नवम अध्याय समाप्त।



१. 'देखने' अर्थात् जाग्रत् और स्वप्नावस्थाओंके तथा 'न देखने'—सुषुप्तावस्थाके विकल्पोंको छोड़कर इन तीनोंका साक्षी, तीनोंसे विलक्षण और तीनोंमें अनुगत जो सामान्य चैतन्य रूप तुरीय है वही आप हैं, अतः उस आत्मस्वरूपसे ही स्थित हो जाइये।

दशमोऽध्यायः

अथाऽपश्यद्धेमलेखा प्रियं प्राप्तपरस्थितिम् ।
न चालयत्परपदात्ततः सोपि मुहूर्ततः ॥ १ ॥
प्रबुद्ध उन्मील्य नेत्रे सोऽपश्यत्सप्रियं जगत् ।
भूयस्तत्पदविश्रान्तिमीहमानोऽतिवेगतः ॥ २ ॥
नेत्रे निमीलयद्यावदब्रवीत्तावदेव सा ।
प्रियं हस्ते समादाय सुधासुन्दरभाषिणी ॥ ३ ॥
नाथ किं ते व्यवसितं ब्रूहि नेत्रनिमीलनात् ।
उन्मीलनाद्वा किं स्यात्ते लाभालाभौ समीरय ॥ ४ ॥
उन्मील्य न प्राप्यते किं निमील्य प्राप्यते च किम् ।
तन्मे ब्रूहि प्रियतम श्रोतुमिच्छामि ते स्थितिम् ॥ ५ ॥

दशम अध्याय ॥ १० ॥

सभी तत्त्वज्ञ हो गये

अब हेमलेखाने देखा कि उसके पतिको परमात्मामें स्थिति प्राप्त हो गयी है। तब उसने भी कुछ देर उसे उस परमपदसे विचलित नहीं किया ॥ १ ॥

फिर उसने सावधान होकर नेत्र खोले और अपनी प्रियाके सहित इस संसारको देखा। किन्तु ज्योंही वह पुनः नेत्र मूँदकर बड़ी तेजीसे उसी पदमें विश्रान्त होनेकी चेष्टा करने लगा, हेमलेखाने उसका हाथ पकड़कर अमृतके समान मधुर भाषण करते हुए उससे कहा ॥ २-३ ॥

"नाथ! बतलाइये, आपका क्या विचार है? कहिये न, इस प्रकार नेत्र मूँदने या खोलनेसे आपको क्या लाभ या हानि होती है ॥ ४ ॥

प्रियतम! मैं आपकी स्थितिके विषयमें सुनना चाहती हूँ। नेत्र खोलनेसे आपको क्या नहीं मिलता और मूँद लेनेसे क्या मिल जाता है—यह मुझे बतलाइये" ॥ ५ ॥

एवं पृष्टस्तया प्राह मदमत्त इवालसः ।
अनिच्छन्नपि वक्तुं तामालस्यभरमन्थरः ॥ ६ ॥
प्रिये विश्रान्तिमत्यन्तं प्राप्तवानस्मि वै चिरात् ।
न बाह्ये दुःखभूयिष्ठे विश्रमोस्ति क्वचिन्मम ॥ ७ ॥
अलं ऋजीषरोमन्थप्रायव्यवहृतैर्बहिः ।
दौर्भाग्यान्धो नाद्य यावदविदं स्वात्मसत्सुखम् ॥ ८ ॥
यथा कश्चिदटन्भिक्षां निधानं स्वं न वेद वै ।
तथाहं स्वसुखाम्भोधिमविदित्वा पुनः पुनः ॥ ९ ॥
सुखं वैषयिकं श्रेष्ठं दुःखसंघाभिसंप्लुतम् ।
विद्युद्विलयनं मत्वा स्थिरं तत्परतावशात् ॥ १० ॥
दुःखैरभिहतो नूनं विश्रान्तिं न तु लब्धवान् ।
अहो जना दुःखसुखविवेकज्ञानवर्जिताः ॥ ११ ॥

हेमचूडका चित्त इस समय आलस्यके भारसे कुछ मन्दगति हो रहा था । अतः हेमलताके इस प्रकार प्रश्न करनेपर उसने बोलनेकी इच्छा न होने पर भी मदमत्तके समान आलस्यपूर्वक उससे कहा—॥६॥

"प्रिये ! मुझे आज बहुत काल पश्चात् बड़ी शान्ति प्राप्त हुई है । अब इस दुःखबहुल बाह्य प्रपञ्चमें मुझे कहीं विश्राम नहीं मिल सकता ॥ ७ ॥

ये बाह्य व्यवहार तो गन्नेकी छूँछ चूसनेके समान नीरस हैं, इनकी मुझे आवश्यकता नहीं है । मैं तो दुर्भाग्यवश अन्धा हो रहा था, इसीसे अबतक आत्मस्थितिके इस सच्चे सुखकी अनुभूति नहीं कर सका ॥ ८ ॥

जिस प्रकार कोई पुरुष अपने घरके खजानेको न जाने और भिक्षा माँगता फिरे, उसी प्रकार मैं इस आत्मानन्दरूप समुद्रको न जानकर बार-बार दुःखसमूहसे भरे वैषयिक सुखको ही, जो बिजलीके समान लीन हो जानेवाला है, श्रेष्ठ और स्थिर समझता रहा । और उसीके पीछे लगे रहनेके कारण दुःखोंसे दबा रहकर आजतक विश्राम नहीं पा सका ॥ ९–११ पू० ॥

अहो ! सबलोग दुःख-सुखके विवेकज्ञानसे रहित होनेके कारण,

सुखार्थिनो दुःखसंघं सञ्चिन्वन्ति मुधा सदा ।
तदलं दुःखभोगेन स्वयत्नासादितेन वै ॥ १२ ॥
प्रिये कृपां मयि कुरु प्रार्थयामि कृताञ्जलिः ।
विश्रान्तिमभिवाञ्छामि चिरं स्वस्मिन्सुखात्मनि ॥ १३ ॥
अहो दैवहता भासि ज्ञात्वापि त्वमिदं पदम् ।
तद्विश्रान्तिं परित्यज्य मुधा दुःखाय चेष्टसे ॥ १४ ॥
इत्युक्ता सा प्रियं प्राह स्मयित्वेषन्मनीषिणी ।
नाथ ते तन्न विदितं पदं परमपावनम् ॥ १५ ॥
यत्र स्थिता न मुह्यन्ति पण्डिताः पावनाशयाः ।
तत्पदं दूरतस्तेऽस्ति भूस्थस्येव नभस्तलम् ॥ १६ ॥
त्वया किञ्चित्सुविदितं भवेदविदितोपमम् ।
निमील्योन्मील्य वा नेत्रे तत्पदं न समीक्ष्यते ॥ १७ ॥

सुखकी लालसा रहनेपर भी, व्यर्थ ही सर्वदा दुःखराशिका ही संग्रह करते रहते हैं। अतः अपने ही प्रयत्नसे प्राप्त किये हुए दुःखभोगकी अब मुझे आवश्यकता नहीं है ॥ ११ उ०-१२ ॥

प्रिये ! मैं हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ, तुम मुझपर कृपा करो। अब तो मैं अपने इस आनन्दस्वरूप आत्मामें ही चिरकालतक विश्रान्त रहना चाहता हूँ ॥ १३ ॥

अहो ! मुझे तुम बड़ी अभागिनी जान पड़ती हो, जो इस पदको जानकर भी तुम इसकी विश्रान्तिको छोड़कर व्यर्थ ही दुःख भोगनेके लिये व्यवहारमें लगी रहती हो" ॥ १४ ॥

इस प्रकार कहे जानेपर वह विवेकवती बाला कुछ मुसकराकर अपने प्रियतमसे बोली, "नाथ ! अभी आपको उस परम पवित्र पदका पता नहीं लगा है ॥ १५ ॥

पवित्र हृदय पण्डितजन जिसमें स्थित होकर कभी मोहग्रस्त नहीं होते वह पद तो अभी आपके लिये वैसे ही दूर है जैसे पृथ्वीपरके मनुष्यके लिये आकाश ॥ १६ ॥

आपने जो कुछ ठीक-ठीक समझा है वह तो न समझनेके समान ही है। वह पद आँखोंको मूँदने या खोलनेसे नहीं देखा जाता ॥ १७ ॥

अकृत्वा वापि कृत्वा वा न तल्लभ्येत कर्हिचित् ।
अगत्वा चापि वा गत्वा न तदासादयेत्पदम् ॥ १८ ॥
निमील्य कृत्वा गत्वा वा प्राप्तं पूर्णं कथं भवेत् ।
यवाष्टकमितेनैव पक्ष्मणोन्मीलितेन तु ॥ १९ ॥
अन्तर्हितं यदि तदा ननु पूर्णं भवेत्पदम् ।
अहो ते मोहमाहात्म्यमाश्चर्यं किमहं ब्रुवे ॥ २० ॥
यस्मिन्ब्रह्माण्डकोटीनां कोटयः कोणसंस्थिताः ।
पक्ष्मणोङ्गुलिमानस्योन्मीलनात्तत्तिरोहितम् ॥ २१ ॥
शृणु राजकुमारैतत्तत्त्वसारं वदामि यत् ।
यावद् ग्रन्थिविभेदो न न तावत्सुखमृच्छति ॥ २२ ॥
ग्रन्थयः कोटिशः सन्ति मोहरज्जुविवर्त्तिताः ।
तत्र स्वरूपासंवित्तिर्मोहरज्जुरुदीरिता ॥ २३ ॥
यत्र ता ग्रन्थयः सन्ति विपरीतग्रहात्मकाः ।
तत्राद्या देहमुख्येषु भवेदात्मत्वनिश्चयः ॥ २४ ॥

इसी प्रकार कुछ करने या न करनेसे भी वह कभी नहीं मिलता तथा कहीं जाने या न जानेसे भी उस पदकी प्राप्ति नहीं होती ॥ १८ ॥

जो वस्तु आँख मूँदने, करने या जानेसे मिलती है वह भला, पूर्ण कैसे हो सकती है ? यदि आठ जौके बराबर आकारवाले पलकोंके खोलनेसे ही वह पद लुप्त हो जाता है तो वह अच्छा पूर्ण पद हुआ ? अहो ! आपके मोहकी बड़ी विलक्षण महिमा है । इस आश्चर्यके विषयमें मैं क्या कहूँ ॥ १९–२० ॥

जिसके एक कोनेमें करोड़ों ब्रह्माण्ड पड़े हुए हैं वह परमपद एक अंगुलि बराबर पलकके खोलनेसे ही लुप्त हो जाता है ! ॥ २१ ॥

राजकुमार ! सुनिये, मैं जो तत्त्वका सार है वह आपको बताती हूँ, क्योंकि जबतक ग्रन्थि (गाँठ) नहीं खुलती तबतक आनन्द प्राप्त नहीं होता ॥ २२ ॥

इस अज्ञानरूप रज्जुमें करोड़ों ग्रन्थियाँ भासित हो रही हैं, और आत्मस्वरूपको न पहचानना यही अज्ञान-रज्जु कही गयी है ॥ २३ ॥

उसमें जो विपरीतग्रहणरूप ग्रन्थियाँ हैं उनमें सबसे पहली है देहादिमें आत्मबुद्धि करना ॥ २४ ॥

यद्वशादेष संसार आततो दुष्प्रतिक्रियः ।
तथा जगत्यनात्मत्वबुद्धिर्भानसमाश्रये ॥ २५ ॥
एवं जीवेशभेदादिनिश्चया ग्रन्थयो मताः ।
एतच्चिरात्समुद्भूतं भूयः संवर्त्तितं च वै ॥ २६ ॥
ग्रन्थिरूपसमापन्नं पुरुषः पाशितस्ततः ।
तद्ग्रन्थिविस्रंसनतो बन्धान्मुक्तिः समीरिता ॥ २७ ॥
यत्त्वं निमील्य नेत्रे स्वे पदमासादयस्यलम् ।
तत्पदं निजरूपं ते शुद्धसंविदनुत्तरम् ॥ २८ ॥
तदेवाखिलसंसारचित्रादर्शतलं महत् ।
कदा क केन रूपेण नास्ति तन्मे निरूपय ॥ २९ ॥
यदा यद्रूपतो यस्मिन्नेति ब्रूयाः स्वसंविदम् ।
तर्हि तत्कालदेशादेर्वन्ध्यापुत्रत्वमेव हि ॥ ३० ॥

जिसके कारण इस संसारका विस्तार हुआ है, जिससे छुटकारा पाना बड़ा ही कठिन है । तथा [दर्पणमें प्रतिविम्बके समान] केवल भानके आश्रय खड़े हुए इस संसारमें अनात्मबुद्धि होना [दूसरी ग्रन्थि है] ॥ २५ ॥

इसी प्रकार जीव और ईश्वरमें भेद-निश्चय करना आदि अन्य ग्रन्थियाँ मानी गयी हैं । यह स्वरूपका अज्ञान अनादिकालसे उत्पन्न और बार-बार उलझकर ग्रन्थिरूप हो गया है । उसीसे यह पुरुष बँधा हुआ है । उस ग्रन्थिके कट जानेसे हीं जीवकी बन्धनसे मुक्ति कही जाती है ॥ २६–२७ ॥

अपने नेत्रोंको मूँदकर आपने जो पूर्णपद प्राप्त किया है वह तो आपका अपना ही स्वरूप है और वह सम्पूर्ण अनात्मवर्गका निषेध करनेपर बचनेवाली शुद्ध संवित् ही है ॥ २८ ॥

वही इस सम्पूर्ण संसार-चित्रको प्रतिविम्बित करनेवाला महान् दर्पण है । मुझे बताइये तो, वह कब, कहाँ और किस रूपमें नहीं है ? ॥ २९ ॥

आप जिस काल, जिस रूप और जिस देशमें उस आत्मसंवित्का अभाव बतलायेंगे तब वे देश और कालादि तो वन्ध्यापुत्रके समान अलीक सिद्ध होंगे ॥ ३० ॥

प्रतिबिम्बो निरादर्शो यथा नाथ तथैव तत्।
तस्मात्तत्पदसंत्यागान्नास्ति कुत्रापि किंचन ॥ ३१ ॥
तत्ते नेत्रोन्मीलनेन किमन्तरिततामियात्।
यावदेवं विजानामीत्येवं ग्रन्थिर्दृढा भवेत् ॥ ३२ ॥
तावन्न तत्पदं प्राप्तं यत्प्राप्तं स्यान्न तद्भवेत्।
निमील्योन्मील्य वा नेत्रे यत्प्राप्तं मन्यसे पदम् ॥ ३३ ॥
तन्न पूर्णपदं यस्मात्परिच्छेदात्क्रियादितः।
कुत्र नाथ महासंविन्नास्ति कालानलप्रभा ॥ ३४ ॥
स्वात्मीकरोति यानल्पकल्पनेन्धनसंचयम्।
न ते कर्त्तव्यसंशेषो विज्ञाय परमं पदम् ॥ ३५ ॥

हे नाथ! जिस प्रकार दर्पणके बिना प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता उसी प्रकार [आत्म-संवित्‌के बिना] वे भी अलीक हैं। अतः उस पदके न रहनेपर तो कहीं कुछ भी नहीं रहता। ऐसी अवस्थामें आपके नेत्र खोलनेसे उसमें क्या अन्तर आ सकता है ॥ ३१-३२ पू० ॥

जबतक यह ग्रन्थि दृढ़ बनी हुई है कि मैं इसप्रकार (साधन-विशेषके द्वारा) उसे जानता हूं, तब तक उस पदकी प्राप्ति नहीं हुई; क्योंकि जो [किसी प्रयत्नके द्वारा] प्राप्त होता है वह वह पद नहीं होता ॥ ३२ उ०-३३ पू० ॥

जिस पदको आप नेत्रोंके मूँदने या खोलनेसे प्राप्त हुआ समझते हैं वह पूर्णपद नहीं हो सकता, क्योंकि उसका तो क्रियाविशेषसे परिच्छेद हो जाता है ॥ ३३ उ०-३४ पू० ॥

नाथ! वह कालाग्निके समान सर्वग्रासिनी महासंवित् भला, कहाँ नहीं है[1] जो इस तुच्छ कल्पनारूप ईंधनकी ढेरीको अपनेमें लीन कर लेती है ॥ ३४ उ०-३५ पू० ॥

उस परम पदको जान लेनेपर अब आपको कुछ भी करना शेष नहीं है। 'मैं चित्तका निरोध करके उस हृदयस्थित आत्मतत्त्वका साक्षा-

---

१. अर्थात् जब वह उदित होती है तो सब तद्रूप ही भासता है। उससे भिन्न किसी भी देश, काल या वस्तुकी सत्ता नहीं रहती।

त्यज ग्रन्थिं सन्निरुध्य पश्यामीति हृदि स्थिताम् ।
इदं नाहमिति ग्रन्थिमुन्मूलय परां दृढाम् ॥ ३६ ॥
पश्य सर्वत्र चात्मानमखण्डानन्दबृंहितम् ।
पश्यात्मन्यखिलं लोकं दर्पणप्रतिबिम्बवत् ॥ ३७ ॥
सर्वत्राखिलमात्मानमिति भूयो न भावयन् ।
शेषमभ्युपगम्यान्तःस्वस्थो भव निजात्मना ॥ ३८ ॥
इति प्रियोदितं श्रुत्वा हेमचूडः सिताशयः ।
विदित्वा पूर्णमात्मानं सर्वत्र भ्रान्तिवर्जितः ॥ ३९ ॥
क्रमात्पूर्णसमावेशासादनात्स्थिरभावनः ।
विहरन्सर्वदा हेमलेखादियुवतीगणैः ॥ ४० ॥
शासन् राज्यं समृद्धं स्वं जित्वा शत्रुगणं रणे ।
शास्त्राणि श्रावयन् शृण्वन्नर्जयन्धनसंचयम् ॥ ४१ ॥

त्कार करूँ' इस ग्रन्थिको आप त्याग दीजिये। 'मैं यह नहीं हूँ' इस अत्यन्त दृढ ग्रन्थिको भी काट डालिये ॥ ३५ उ०-३६ ॥

सर्वत्र अखण्डानन्दपूर्ण आत्मतत्त्वका दर्शन कीजिये। सम्पूर्ण प्रपञ्चको दर्पणमें प्रतीत होनेवाले प्रतिबिम्बके समान अपने आत्मामें ही भासमान देखिये ॥ ३७ ॥

और फिर यह भावना भी मत कीजिये कि सर्वत्र केवल आत्मा ही है। इस प्रकार सम्पूर्ण भावनाओंके त्यागनेपर जो शेष रहे उसीको अपना स्वरूप जानकर अपने अकृत्रिम स्वरूपसे अभिन्न होकर स्थित रहिये" ॥ ३८ ॥

अपनी प्रियाका यह भाषण सुनकर हेमचूडका चित्त सर्वथा शुद्ध हो गया। आत्माको सर्वत्र पूर्ण जानकर उसकी सम्पूर्ण भ्रान्ति निवृत्त हो गयी [अब उसे निरोध आदि किसी अवस्था विशेषका आग्रह नहीं रहा] ॥ ३९ ॥

क्रमशः परमात्माके परिपूर्ण स्वरूपमें दृढ भावना होनेसे उसकी स्थिर स्थिति हो गयी। अब वह सर्वदा हेमलेखा आदि युवतियोंके साथ विहार करते हुए, शत्रुसमूहको युद्धमें जीतकर ऐश्वर्यसम्पन्न राज्यका शासन करते हुए, शास्त्र श्रवण करते और कराते हुए तथा धनसंचय करके

अश्वमेधराजसूयाद्यैर्यजन्क्रतुमुख्यकैः ।
वर्षाणामयुते द्वे वै जीवन्मुक्तो भुवि स्थितः ॥ ४२ ॥
जीवन्मुक्तदशासंस्थं निशाम्य तनयं नृपः ।
मुक्ताचूडश्च तद्भ्राता मणिचूडोऽप्यचिन्तयत् ॥ ४३ ॥
किमयं पूर्ववन्नेह लक्ष्यते सर्वथा किल ।
सुखे न हृष्यत्यत्यन्तं दुःखे नोद्विजते तथा ॥ ४४ ॥
लाभालाभौ शत्रुमित्रे साम्यात्पश्यति वै कुतः ।
करोति राजकार्याणि नटवद्रङ्गमण्डले ॥ ४५ ॥
कापिशायनपायीव सदा मत्तोऽभिलक्ष्यते ।
सदान्यत्र गतस्वान्त इव कृत्यङ्करोत्यलम् ॥ ४६ ॥
तत्केन हेतुना चेति तमासाद्य रहः क्वचित् ।
अपृच्छतां हेमचूडं कुत एवं भवानिति ॥ ४७ ॥

अश्वमेध और राजसूय आदि बड़े-बड़े यज्ञ करते हुए बीस हजार वर्षतक जीवन्मुक्त अवस्थामें इस पृथ्वीतलपर रहा ॥ ४०-४२ ॥

अपने पुत्रको जीवन्मुक्त अवस्थामें स्थित देखकर राजा मुक्ताचूडने और उसके भाई मणिचूडने भी विचार किया— ॥ ४३ ॥

'क्या कारण है अब यह हेमचूड पहलेकी तरह बिलकुल दिखायी नहीं देता। यह न तो सुखमें विशेष प्रसन्न होता है और न दुःखमें उदास होता है ॥ ४४ ॥

यह लाभ-हानि और शत्रु-मित्रोंको समान दृष्टिसे क्यों देखने लगा है। आजकल यह राज्यके सब कार्य रंगभूमिमें नाटकके पात्रके समान कर रहा है ॥ ४५ ॥

यह मद्यपायीके समान सर्वदा अपनेमें मस्त दिखायी देता है और सारे कार्य सदा इस प्रकार करता है मानो इसका चित्त कहीं अन्यत्र ही लगा हो ॥ ४६ ॥

यह सब किस कारणसे हुआ ?' ऐसा सोचकर किसी दिन उन्होंने एकान्तमें हेमचूडके पास जाकर पूछा, "तुम्हारी यह दशा कैसे हो गयी" ॥ ४७ ॥

ततः स्वस्थितिमाचख्यौ हेमचूडस्तयोः क्रमात् ।
तावुभौ भ्रातृपितरौ हेमचूडेन बोधितौ ॥ ४८ ॥
आसादितपरतत्त्वौ जीवन्मुक्तौ बभूवतुः ।
अथ मन्त्रिगणोऽप्येवं राज्ञः श्रुत्वा जगद्गतिम् ॥ ४९ ॥
विचार्य स्वात्मनो भावं ज्ञातज्ञेयोऽभवत्तदा ।
एवं विशालनगरे क्रमेणैव परस्परम् ॥ ५० ॥
उपदेशाद्विदुः सर्वे तत्त्वमाबालगोपकाः ।
नरा नार्यो बालवृद्धा दासा दासीगणा अपि ॥ ५१ ॥
ज्ञातज्ञेयास्त्यक्तदेहाहम्भावा अभवन्खलु ।
न तत्र कस्यचित्कामः क्रोधो वा लोभ एव वा ॥ ५२ ॥
अनाहतोऽस्ति बालस्य स्थविरस्यापि वा क्वचित् ।
आहृतक्रोधकामाद्यैर्व्यवहारपरायणाः ॥ ५३ ॥
बालं माता खेलयति परतत्त्वस्य वार्तया ।
दासा दास्यः स्वामिनं स्वं सदा परिचरन्ति वै ॥ ५४ ॥

तब हेमचूडने क्रमशः उन्हें अपनी सब स्थिति सुनायी और उसके बोध करानेसे वे पिता और चाचा दोनों ही परमतत्त्वकी उपलब्धि कर जीवन्मुक्त हो गये ॥ ४८-४९ पू० ॥

इसी प्रकार फिर मन्त्रियोंने भी राजासे जगत्का रहस्य सुनकर आत्माके स्वरूपका विचार किया और उन्होंने भी जो जानने योग्य था उसे जान लिया ॥ ४९ उ०-५० पू० ॥

इस प्रकार उस विशाल नगरमें बालक और ग्वाले तक सभी क्रमशः एक-दूसरेसे उपदेश लेकर परमतत्त्वको जान गये ॥५० उ०-५१ पू० ॥

नर-नारी, बालक-वृद्ध और दास-दासी भी ज्ञात-ज्ञेय होकर देहमें अहंबुद्धिसे रहित हो गये। वहाँ बालक या वृद्ध किसीके भी काम, क्रोध या लोभ निवृत्त हुए बिना नहीं रहे। सब लोग काम-क्रोधादिको संयत रखकर ही व्यवहारमें तत्पर रहते थे ॥ ५१ उ०-५३ ॥

माताएँ परमतत्त्वकी चर्चा करके ही बच्चोंको खिलाती थीं। दास और दासियाँ सर्वदा आपसमें परमतत्त्व-विषयक वाक्योंका व्यवहार

परतत्त्वपरैर्वाक्यैर्व्याहरन्तः परस्परम् ।
नटा नाट्यं वितन्वन्ति पात्रैस्तत्त्वप्रसङ्गजैः ॥ ५५ ॥
विवेकवार्तापरमं वचो गायन्ति गायकाः ।
विदूषका दूषयन्ति लोकव्यवहृतिं सदा ॥ ५६ ॥
शास्त्राणि पाठयन्ति स्म विद्वांसः पाठकान् जनान् ।
परतत्त्वविचारार्हैरुदाहरणमण्डलैः ॥ ५७ ॥
एवं तत्र नरा नार्यो दासा दास्यो नटा विटाः ।
भृत्या भटा मन्त्रिणश्च शिल्पिनो वारयोषितः ॥ ५८ ॥
सर्वे वेदितवेद्यास्ते विशालनगरेऽभवन् ।
प्राक्संस्कारबलेनैव व्यवहारपरायणताः ॥ ५९ ॥
न संस्मरति संवृत्तं शुभं वाप्यशुभं तथा ।
भविष्यं नानुसन्धत्ते हर्षशोकादिसाधनम् ॥ ६० ॥
वर्तमाने स्मयन्हृष्यन्खिद्यन् क्रुध्यन्निवान्वहम् ।

करते हुए ही अपने स्वामीकी सेवा करते थे। तथा नट लोग तत्त्व-प्रसंगसम्बन्धी [विवेक-मोह आदि] पात्रोंके द्वारा ही नाटक खेलते थे ॥ ५४–५५ ॥

गानेवाले विवेककी चर्चासे भरी वाणियोंका ही गान करते थे तथा विदूषक लोग सर्वदा लौकिक व्यवहारका उपहास करते थे ॥ ५६ ॥

विद्वान् लोग विद्यार्थियोंको परमतत्त्वके विचारका पोषण करनेवाले उदाहरणोंसे पूर्ण शास्त्रोंका अध्ययन कराते थे ॥ ५७ ॥

इस प्रकार उस विशाल नगरमें नर, नारी, दास, दासी, नट, विदूषक, सेवक, सिपाही, मन्त्री, कारीगर, और वेश्याएँ सभी जानने योग्य परमतत्त्वको जान गये ॥ ५८-५९ पू० ॥

अपने पूर्वसंस्कारोंके अनुसार व्यवहार करते हुए भी उन्हें अपनी क्रियाओंमें शुभ या अशुभ का अनुसन्धान नहीं होता था। [उनकी सब चेष्टाएँ बच्चोंके समान स्वभावसे ही होती थीं] ॥ ५९ उ०-६० पू० ॥

जिसके कारण हर्ष या शोकादिकी कल्पनाएँ होती हैं उस भविष्यका वे कभी चिन्तन नहीं करते थे। वर्तमानमें प्रसंगवश मुसकराते,

मधुक्षीब इवात्यन्तं व्यवहारपरो जनः ॥ ६१ ॥
एवंविधं तन्नगरं ऋषयः सनकादयः।
प्रसिद्धविद्यानगरमित्याख्यमूचुरागताः ॥ ६२ ॥
यत्र कीराः पञ्जरस्था अपि वाचो वदन्ति वै।
चितिरूपं स्वमात्मानं भजध्वं चेत्यवर्जितम् ॥ ६३ ॥
नास्ति चेत्यं चितेरन्यद्दर्पणप्रतिबिम्बवत्।
चितिश्चेत्यं चितिरहं चितिः सर्वं चराचरम् ॥ ६४ ॥
यतः सर्वं चितिमनु भाति सा तु स्वतन्त्रतः।
अतश्चितिं जनाः सर्वभासिनीं सर्वसंश्रयाम् ॥ ६५ ॥
भजध्वं भ्रान्तिमुत्सृज्य चितिमात्रं सुदृष्टयः।
तिर्यञ्चोऽप्येवमत्यन्तं यत्र वाचो वदन्ति वै ॥ ६६ ॥
प्रसिद्धविद्यानगरं तदद्यापि प्रचक्षते।

हर्षित होते, खिन्न होते और क्रोध-सा करते हुए भी वे मदोन्मत्तके समान निरन्तर अत्यन्त व्यवहारपरायण रहते थे ॥ ६० उ०–६१ ॥

इस प्रकारके उस नगरमें एकबार सनकादि ऋषि आये। उन्होंने उसका 'विद्यानगर' नाम रख दिया[1] ॥ ६२ ॥

वहाँ पिंजड़ोंमें बन्द तोते भी इन वाणियोंका पाठ करते थे—"चेत्य पदार्थोंसे रहित जो चिन्मात्र अपना आत्मा है उसका भजन करो ॥ ६३ ॥

दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान चेत्य पदार्थ चिन्मात्रसे भिन्न नहीं है। चिति (चिन्मात्र) ही चेत्य है, चिति ही 'मैं' हूँ और चिति ही सारा चराचर, क्यों इन सबका भान चितिसे ही होता है और चिति स्वयंप्रकाश है ॥ ६४–६५ पू० ॥

इसलिये हे लोगो! भ्रान्तिको त्यागकर केवल चितिपर ही दृष्टि रखते हुए सबको प्रकाशित करनेवाली और सभीकी आश्रयभूता चितिका ही भजन करो" ॥ ६५ उ०–६६ पू० ॥

जहाँ पक्षी भी सर्वथा ऐसी वाणी बोलते हैं वह सुप्रसिद्ध विद्यानगर आज भी देखा जाता है ॥ ६६ उ०–६७ पू० ॥

---

१. आगेके चार श्लोक चतुर्थ अध्यायके अन्तमें भी आ चुके हैं।

एवं तत्र पुरा हेमलेखया खलु बोधितः ॥ ६७ ॥
हेमचूडोऽभवद्विद्वान्जीवन्मुक्तस्तथेतरे ।
स्त्रीबालप्रमुखाः सर्वे जाता ज्ञातपरावराः ॥ ६८ ॥
तस्माच्छ्रेयोनिदानं तु सत्सङ्गः प्रथमं भवेत् ।
तस्माच्छ्रेयोवाञ्छने तु सत्संश्रयपरो भवेत् ॥ ६९ ॥

इति श्रीमज्ज्ञानखण्डे हेमचूडोपाख्याने दशमोऽध्यायः ।

इस प्रकार पूर्वकालमें वहाँ हेमलेखाके द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेवाला हेमचूड नामका तत्त्ववेत्ता और जीवन्मुक्त राजा हुआ । उसके पश्चात् स्त्री और बालक पर्यन्त अन्य सब लोग भी परमतत्त्वको जान गये ॥ ६७ उ०–६८ ॥

इसलिये कल्याणका सबसे पहला साधन सत्संग है । इसलिये जिसे निःश्रेयसकी इच्छा हो उसे सन्तोंके सहवासमें रहना चाहिये ॥ ६९ ॥

दशम अध्याय समाप्त ।

एकादशोऽध्यायः

श्रुत्वैवं हेमचूडस्य कथामत्यद्भुतां तदा ।
भार्गवः सन्दिग्धमनाः प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ १ ॥
भगवन् श्रीगुरो यत्ते प्रोक्तं ज्ञानं महाद्भुतम् ।
भाति मे विषमं ह्येतदसाध्यं चापि सर्वतः ॥ २ ॥
कथमेतज्जगद् दृश्यं चितिमात्रस्वरूपकम् ।
अदृष्टं केवलं ह्येतच्छ्रद्धोपेयं न चान्यथा ॥ ३ ॥
चितिश्चेत्यविनिर्मुक्ता नानुभाव्या कथंचन ।
नोपपन्नं सर्वथैतत्कथं चित्तं समारुहेत् ॥ ४ ॥
कृपया बोधनीयोऽहमत्र सर्वात्मना खलु ।
इत्यापृष्टो दत्तगुरुरवदद्भार्गवं प्रति ॥ ५ ॥

एकादश अध्याय ॥ ११ ॥

जगत्के स्वरूपका विवेचन

इसप्रकार हेमचूडकी यह अद्भुत कथा सुनकर परशुरामजीके मनमें कुछ सन्देह हुआ और वे पूछने लगे— ॥ १ ॥

"भगवन् ! गुरुदेव ! आपने जो बड़ा ही विचित्र तत्त्वज्ञान कहा है, वह मुझे तो सब प्रकार बड़ा कठिन और असाध्य जान पड़ता है ॥ २ ॥

यह दृश्य जगत् केवल चिन्मात्रस्वरूप कैसे हो सकता है ? यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें तो नहीं आती; हाँ, श्रद्धासे मानी जा सकती है, और किसी प्रकार नहीं ॥ ३ ॥

चेत्यसे भिन्न चिति तो किसी प्रकार अनुभवमें भी नहीं आ सकती । यह बात किसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं है, फिर यह चित्तमें कैसे बैठे ? ॥ ४ ॥

यह विषय कृपा करके मुझे सब प्रकार समझा दीजिये ।" इस प्रकार पूछे जानेपर गुरु दत्तात्रेयजी परशुरामसे बोले— ॥ ५ ॥

शृणु राम प्रवक्ष्यामि दृश्यतत्त्वं यथास्थितम् ।
एतद् दृश्यमशेषं तु दृशिमात्रं न चेतरत् ॥ ६ ॥
अत्रोपपत्तिं वक्ष्यामि शृणु सम्यक्समाहितः ।
एतद् दृश्यं कार्यभूतमुत्पत्तेरुपलम्भतः ॥ ७ ॥
उत्पत्तिर्नूतनाभासः प्रतिक्षणमिदं जगत् ।
नूतनत्वेनैव भाति तत्क्षणोत्पत्तिमज्जगत् ॥ ८ ॥
केचित्प्राहुर्जगदिदमखण्डैकक्षणोद्भवम् ।
अन्ये पदार्थसंघातमयं स्थिरचरात्मकम् ॥ ९ ॥
सर्वथा तु समुत्पत्तिमदित्येव विनिश्चितम् ।
तत्र स्वभाववादस्तु नोचितोऽतिप्रसङ्गतः ॥ १० ॥

परशुराम! सुन, मैं तुम्हें यथार्थ रीतिसे इस दृश्यका रहस्य बतलाता हूँ। यह सारा दृश्य दृङ्मात्र है, और कुछ नहीं ॥ ६ ॥

इसमें मैं तुम्हें युक्ति भी बताता हूँ, खूब सावधान होकर सुनो। यह दृश्य किसीका कार्य है, क्योंकि इसकी उत्पत्ति देखी जाती है ॥ ७ ॥

उत्पत्ति कहते हैं नवीनरूपसे प्रतीत होने को। यह जगत् प्रत्येक क्षणमें नवीन रूपसे ही भासता है; इसलिये यह क्षण-क्षणमें उत्पन्न होनेवाला हुआ ॥ ८ ॥

कोई (विज्ञानवादी) तो इस जगत्को क्षण-क्षणमें उत्पन्न होने वाला किन्तु अखण्डपरम्परा-युक्त मानते हैं। और कोई (न्याय-वैशेषिक मतावलम्बी) इसे आकाशादि स्थिर (नित्य) और घटादि चर (अनित्य) पदार्थोंका समूह बतलाते हैं ॥ ९ ॥

किन्तु सभी दृष्टियोंसे यह तो निश्चित है कि यह उत्पन्न होनेवाला ही है। उत्पत्तिमें स्वभाववाद[1] माना नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसी स्थितिमें उत्पत्तिका कोई नियम नहीं रह सकेगा[2] ॥ १० ॥

---

१. बिना उपादान कारणके स्वतः उत्पन्न हो जाना।

२. उत्पत्तिका यह नियम देखा जाता है कि एक विशेष उपादानसे किसी विशेष कार्यकी ही उत्पत्ति होती है। यदि ऐसा न हो तो मिट्टीसे घड़ा और तन्तुओंसे वस्त्र ही क्यों उत्पन्न होता है।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यकारणनिश्चयात् ।
संवादतः प्रवृत्तीनां कथमाकस्मिकं भवेत् ॥ ११ ॥
क्वचित्तु कारणेऽदृष्टेप्यदृष्टं कल्प्यमेव तत् ।
बहूनामनुरोधो हि न्याय्यः सर्वैरुदाहृतः ॥ १२ ॥
भूयो दृष्टं सपूर्वं हि कार्यं क्वचिददर्शने ।
दृष्टवत्परिकल्प्यं स्यादन्यथा सार्वलौकिकी ॥ १३ ॥
सम्प्रवृत्तिर्विरुध्येत तस्मात्सर्वं सकारणम् ।
अत एव कार्यहेतोः किंचित्कारणतत्परः ॥ १४ ॥
सर्वत्र दृश्यते लोकस्तस्मादेतन्न किंचन ।
केचिदाहुरसत्कल्पैरणुभिः कार्यमुद्यतम् ॥ १५ ॥
तेभ्योत्यन्तं विभिन्नं चाप्यसदत्यन्ततो भवेत् ।

[कार्यमें कारणकी सत्ता रहती है, कारणके बिना कार्य होता ही नहीं] इस अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा भी कार्य-कारण भावका निश्चय होता ही है। इस नियममें कभी कोई अन्तर भी नहीं पड़ता। ऐसी स्थितिमें यह आकस्मिक (अनियत) कैसे हो सकता है ॥ ११ ॥

कहीं-कहीं कारण देखनेमें नहीं आता, वहाँ अदृष्ट कारणका अनुमान कर लेना चाहिये, क्योंकि जो बहुमत होता है उसे स्वीकार करना सभीने न्यायानुकूल माना है ॥ १२ ॥

अधिकांश वस्तुएँ तो कारणपूर्वक ही देखी जाती हैं। इसलिये यदि कहीं कारण दिखायी न दे तो अन्यत्र देखे हुए कारणोंकी तरह वहाँ भी कारणकी कल्पना कर लेनी चाहिये। नहीं तो जो प्रवृत्ति सर्वत्र देखी जाती है उससे विरोध होगा। इसलिये सब पदार्थ कारणपूर्वक ही हैं ॥ १३-१४ पू० ॥

इसीलिये जब कोई कार्य करना होता है तो सभी जगह लोग उसकी साधनसामग्री जुटानेमें तत्पर देखे जाते हैं। अतः यह स्वभाववाद [कि संसार बिना कारणके स्वयं उत्पन्न हो गया] कुछ भी नहीं है ॥ १४ उ०-१५ पू० ॥

कोई (परमाणुवादी नैयायिक) कहते हैं कि यह कार्यरूप जगत् असत्तुल्य (अव्यक्त एवं जड) परमाणुओंसे बना है। किन्तु यह [व्यक्त और सद्रूप होनेके कारण] उनसे अत्यन्त भिन्न है। तथापि

असत्सतोरेकता हि विरुद्धा न कुतो भवेत् ॥ १६ ॥
न हिपीतमपीतं च प्रकाशं चाप्रकाशकम् ।
एकं भवेद्विरुद्धत्वात्साङ्कर्यादिप्रसक्तितः ॥ १७ ॥
ईश्वरेच्छादितो वापि कथमादिक्रियोद्भवः ।
गुणसाम्यप्रकृतिकं जगदित्यप्यसंभवि ॥ १८ ॥
वैषम्यहेतोर्मृग्यत्वात्साम्यहेतोश्च हानतः ।
चेतनेनानधिष्ठानाद् दृष्टान्तानुपलम्भतः ॥ १९ ॥

अन्तमें यह भी असत् हो जाता है। परन्तु इस सिद्धान्तमें जो असत् और सत् की अभिन्नता बतायी गयी है वह विरुद्ध क्यों नहीं है ? ॥ १५ उ० १६ ॥

पीत और अपीत या प्रकाश और अप्रकाश एक कभी नहीं हो सकते, क्योंकि इनका परस्पर विरोध है और ऐसा माननेसे संकरादि[1] दोषोंका भी प्रसंग होगा ॥ १७ ॥

[यदि कहें कि ईश्वरकी इच्छासे परमाणुओं में गति उत्पन्न हो जाती है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि] ईश्वरकी इच्छासे भी आरम्भमें जड परमाणुओंमें क्रिया की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? [इस प्रकार परमाणुवादका निराकरण कर अब साङ्ख्योक्त प्रकृतिकारण-वादका खण्डन करते हैं—] गुणोंकी साम्यावस्थारूप प्रकृति जगत्‌का भाव है—यह बात भी सम्भव नहीं है ॥ १८ ॥

इसके लिये सृष्टिके आरम्भमें जोप्रकृतिके गुणोंमें विषमता होती है उसका कारण ढूँढ़ना होगा और प्रलयमें जो उनकी पुनः समता होती है उसका भी कोई हेतु नहीं जान पड़ता। [यदि कहो कि ईश्वरकी इच्छासे ऐसा होता है तो] सांख्यवादी प्रकृतिको किसी चेतनसे अधिष्ठित मानते नहीं हैं। और ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिलता कि चेतनाके बिना ही किसी जडमें क्रिया उत्पन्न हो जाय ॥ १९ ॥

---

१. एक ही वस्तुमें दो विरुद्ध धर्मोंका आरोप करना 'संकर' दोष है। इसके सिवा नैयायिक परमाणुओंको निरवयव मानते हैं और निरवयव वस्तुओंका संयोग होना सम्भव नहीं है। यह 'अव्याप्यवृत्तित्वभंग' रूप दोष 'आदि' पदसे ग्रहण करना चाहिये।

तस्माज्जागतकार्यस्य कारणं नोपलभ्यते ।
अदृष्टे तु श्रुतिर्मूलं नान्यमानसुसङ्गमः ॥ २० ॥
प्रमातॄणामपूर्णत्वात्प्रमाणस्यानवस्थितेः ।
कार्यकर्तृवियोगस्य भूयोऽदर्शनहेतुतः ॥ २१ ॥
सकर्तृकं जगदिदं सम्भवाच्चेतनो हि सः ।
कार्यस्याचिंत्यरूपस्य कर्त्ता साधारणः कथम् ॥ २२ ॥
तस्मादचिंत्यशक्तिः स आगमस्तद्विमर्शनम् ।
पूर्णस्य त्वप्रतिहतं प्रमाणं सर्वतोधिकम् ॥ २३ ॥
तत्रैकस्तु महेशानः पुरा सृष्टेरुदाहृतः ।
स्वतन्त्रो ह्यनुपादानः स्वातन्त्र्यभरवैभवात् ॥ २४ ॥

इस प्रकार जगत् रूप कार्यका कोई भी दृष्ट कारण तो मिलता नहीं है। और अदृष्ट कारणका निर्णय करनेमें श्रुति ही मूल प्रमाण है, उससे भिन्न कोई और प्रमाण माननीय नहीं हो सकता ॥ २० ॥

क्योंकि प्रमाता जीव तो अपूर्ण हैं तथा किसी प्रमाण[1]की उस (परोक्ष कारण) में गति नहीं है। और ऐसा कभी देखा नहीं जाता कि कर्ताके बिना ही कार्य हो गया हो। इसलिये यह जगत् किसी कर्ताकी ही रचना है। और सम्भव होनेके कारण वह कर्ता चेतन ही होना चाहिये। तथा यह जगत्-रूप कार्य बड़ा विलक्षण है, इसलिये इसका कर्ता भी साधारण कैसे हो सकता है? ॥ २१-२२ ॥

अतएव वह अचिन्त्यशक्ति-सम्पन्न है और उसके तत्त्वको बतलानेवाला उसीका व्यापार है आगम (वेद)। अतः वही उस पूर्ण-तत्त्वको प्रकाशित करनेवाला सर्वथा अबाधित सबसे बड़ा प्रमाण है ॥ २३ ॥

उस आगममें कहा है कि सृष्टिसे पूर्व एकमात्र महेश्वर ही थे। उन परम स्वतन्त्र परमेश्वरमें विना किसी अन्य सामग्रीके अपनी

---

१. सृष्टिका कारण परोक्ष है, इसलिये उसमें किसी इन्द्रियकी गति न हो सकनेके कारण वह प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नहीं हो सकता। और अनुमान प्रत्यक्ष-मूलक होता है, अतः प्रत्यक्षकी गति न होनेके कारण उसमें अनुमानकी भी गति नहीं है। इसी प्रकार किसी अन्य प्रमाण का भी वह विषय नहीं है।

स्वात्मभित्तौ जगच्चित्रं विलासायावभासयत्।
तथा स्वप्नमनोराज्ये कल्पितं स्वेन केवलम्॥ २५॥
अहंत्वेनैव गृह्णाति देहं तद्वदयं जगत्।
न ते रूपं यथा देहः स्वप्नव्यावृत्तिहेतुतः॥ २६॥
तथास्य न जगद्देहो व्यावृत्तेः प्रलये ननु।
देहादिव्यतिरिक्तस्त्वं यथा केवलचिन्मयः॥ २७॥
एवं देवो जगच्छून्यचिदेकवपुरव्ययः।
तेनेदं स्वात्मनि जगच्चित्रमुन्मीलितं ननु॥ २८॥
क्वोन्मीलयेज्जगच्चित्रं स्वान्यस्य क्वाप्यसम्भवात्।
ऋते चितिं कदाचिद्वा क्व किं भवितुमर्हति॥ २९॥
यत्राभावश्चितेर्ब्रूयात्स देशो नैव सिध्यति।
अभावश्च चितेः केन सिध्येदस्माच्चितिः परा॥ ३०॥

स्वतन्त्रताके उत्कर्ष की महिमासे ही केवल क्रीडाकौतुकके लिये अपने ही स्वरूपभूत पटपर इस जगत्-चित्रको भासित कर दिया॥ २४-२५ पू०॥

जिस प्रकार स्वप्नके मनोराज्यमें अपने ही द्वारा कल्पित देहको 'मैं' रूपसे ग्रहण कर लिया जाता है उसी प्रकार का यह जगत् है॥ २५ उ०-२६ पू०॥

किन्तु स्वप्नकी निवृत्ति होनेपर न रहनेके कारण जैसे यह देह वास्तवमें तुम्हारा स्वरूप नहीं है, उसी तरह प्रलयमें न रहनेके कारण यह जगत् भी परमेश्वरका शरीर नहीं है॥ २६ उ०-२७ पू०॥

जैसे तुम देहादिसे अतिरिक्त शुद्ध चिन्मात्र हो उसी प्रकार भगवान् भी जगत्से सर्वथा शून्य एकमात्र अविनाशी चित्स्वरूप ही हैं। उन्होंने अपने ही पर यह जगच्चित्र प्रकट कर लिया है॥२७ उ०-२८॥

उनसे भिन्न और कोई कहीं है ही नहीं; अतः इस जगच्चित्रको और कहाँ प्रकट किया जाता? उस चिन्मात्रके सिवा क्या कभी कोई कहीं हो सकता है?॥ २९॥

जहाँ चितिका अभाव बताया जायगा वह देश तो सिद्ध ही नहीं हो सकता, क्योंकि बिना चेतनके उस अभावकी सिद्धि किससे होगी। इसलिये चिति ही परमतत्त्व है [उसका निषेध नहीं हो सकता]॥३०॥

महासत्ता जगद्ग्रासशीला पूर्णावभासते ।
समुद्रमन्तरा तोयं दिवानाथं विना प्रभाः ॥ ३१ ॥
यथा न सन्ति तद्वद् वै संविद्रूपं विना जगत् ।
तस्मादेष महादेवः शुद्धचैतन्यविग्रहः ॥ ३२ ॥
आसीत्सृष्टेः पुरा तस्मादुत्पन्नं तत्र संस्थितम् ।
तस्मिन्विलीयते चान्ते जगदेतच्चराचरम् ॥ ३३ ॥
इत्यागमप्रसिद्धोऽर्थस्तन्न विप्रतिपद्यते ।
अदृष्टार्थेषु संवादात्प्रमाणं ह्यागमो भवेत् ॥ ३४ ॥
दृश्यन्ते मणिमन्त्रादिसिद्धयः सर्वतो यतः ।
नाल्पप्रज्ञो विजानीयान्मणिमन्त्रमहाफलम् ॥ ३५ ॥
तस्मात्सर्वज्ञगदितो ह्यागमः सर्वदर्शनः ।
तत्रोक्तो देव एवादौ सृष्टेर्जगत आस्थितः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण जगत्को अपनेमें लीन कर लेनेवाली वह महासत्ता ही पूर्णरूपसे प्रकाशमान है। जिस प्रकार समुद्रके बिना तरंग और सूर्यके बिना प्रभाकी सत्ता नहीं है उसी प्रकार उस चिन्मात्र के बिना संसार नहीं है ॥ ३१-३२ पू० ॥

अतः सृष्टिसे पहले यह शुद्धचैतन्यस्वरूप महेश्वर ही थे। यह चराचर जगत् उन्हींसे उत्पन्न हुआ है, उन्हींमें स्थित है और अन्तमें उन्हींमें लीन होता है ॥ ३२ उ०-३३ ॥

यही श्रुतिसम्मत सिद्धान्त है, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं हो सकता, क्योंकि जहाँ अदृष्ट पदार्थके विषयमें शंका होती है वहाँ श्रुति ही प्रमाण मानी जाती है ॥ ३४ ॥

[देखो, शास्त्रद्वारा प्रतिपादित होनेके कारण ही] सर्वत्र मणि और मन्त्रादिसे प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ देखी जाती हैं। इन मणि-मन्त्रादिके महान् प्रभावको कोई अल्पबुद्धि जीव नहीं जान सकता ॥ ३५ ॥

इसलिये सर्वज्ञ परमेश्वरके द्वारा कहा हुआ वेद ही सबसे बड़ा प्रमाण है। उसमें कहा है कि जगत्की रचनासे पूर्व एक परमात्मा ही था ॥ ३६ ॥

निरुपादान एवादौ सृष्टवानखिलं जगत्।
यस्मान्महेश्वरः पूर्णस्वच्छस्वातन्त्र्यसंयुतः ॥ ३७ ॥
चिदात्मभित्तावखिलं चित्रमुन्मीलयज्जगत्।
न तज्जगत्सम्भवति बहिः क्वचिदवस्थितम् ॥ ३८ ॥
पूर्णत्वादीश्वरस्येह स्थानमन्यन्न विद्यते।
अन्यस्थानस्थितं तच्च कथञ्चिन्नैव सिध्यति ॥ ३९ ॥
तथा च दर्पणाभोगे प्रतिबिम्बवदेव हि।
जगदुन्मीलितं देवे चैवं सर्वं समञ्जसम् ॥ ४० ॥
जगदादेर्हि देवस्य योगीव जगतः क्रिया।
सङ्कल्पनगरप्रख्या सृष्टिर्देवस्य सम्मता ॥ ४१ ॥
राम ते मानसी सृष्टिर्मनोमय्येव केवला।
अनेकमातृमेयादिप्रचुरा ह्यत्रभासते ॥ ४२ ॥

उसने विना किसी अन्य सामग्रीके आरम्भमें जगत्की रचना की, क्योंकि वह महेश्वर पूर्ण, शुद्ध और स्वातन्त्र्यशक्तिसे सम्पन्न है ॥३७॥

उसने अपने ही चैतन्यस्वरूप भीतपर यह जगत्-रूप चित्र प्रकट किया। वह जगत् उससे बाहर कहीं अन्यत्र नहीं हो सकता ॥ ३८ ॥

क्योंकि परमात्मा पूर्ण है, उससे भिन्न और कोई स्थान ही नहीं है। [यदि उसे अपूर्ण मानें तब भी चेतनसे भिन्न होनेके कारण अन्य स्थान अचेतन अर्थात् अप्रकाश रूप होगा, अतः] उससे भिन्न स्थानमें स्थित होनेपर तो उस जगत्की किसी प्रकार सिद्धि ही नहीं हो सकती ॥ ३९ ॥

अतः जिस प्रकार दर्पणमें प्रतिबिम्बकी प्रतीति होती है उसी प्रकार भगवान्में जगत्का भास हुआ—इस प्रकार माननेसे सब संगति लग जाती है ॥ ४० ॥

जगत्के आदिकारण भी भगवान्की यह जगत्सम्बन्धिनी क्रिया योगीके समान है। उन परमात्मदेवकी यह जगद्रचना सङ्कल्पद्वारा रचे हुए नगरके समान है ॥ ४१ ॥

परशुराम! तुम्हारी जो मनःकल्पित सृष्टि होती है वह केवल मनोमात्र ही तो होती है, किन्तु उसमें अनेकों प्रमाता (जीव) और उनके प्रमेय (विषय) आदि भी भासते ही हैं ॥ ४२ ॥

अनेकभेदभिन्नापि मनसोऽन्या न हि क्वचित् ।
उत्पन्ना मनसस्तत्र स्थिता तत्रैव लीयते ॥ ४३ ॥
सा केवलमनोरूपा यथा तद्वज्जगच्छिवात् ।
स शिवश्चितिमात्रैकरूपश्चितिरविग्रहा ॥ ४४ ॥
त्रिपुरानन्तशक्त्यैक्यरूपिणी सर्वसाक्षिणी ।
सा चितिः सर्वतः पूर्णा परिच्छेदविवर्जनात् ॥ ४५ ॥
कालो देशश्च लोकेऽस्मिन्परिच्छेदकरः स्मृतः ।
तत्राकारमयो देशः कालस्तु स्यात्क्रियामयः ॥ ४६ ॥
यां चितिं समुपाश्रित्य स्यादाकारः क्रियापि वा ।
तस्याः परिच्छेदकत्वमनयोः स्यात्कथं वद ॥ ४७ ॥
कस्मिन्देशे च काले च चितिर्नास्तीह तद् वद ।
यत्र न स्याच्चितिः सोऽपि कथं स्यादिति वै भवेत् ॥ ४८ ॥

इस प्रकार अनेको भेदोंसे विभिन्न-सी भासती हुई भी वह मनके सिवा और कुछ नहीं होती। वह मनसे उत्पन्न होती है, उसीमें स्थित रहती है और उसीमें लीन भी हो जाती है ॥ ४३ ॥

जैसे वह केवल मनःस्वरूपा ही होती है, उसी प्रकार शिवसे उत्पन्न हुआ यह जगत् चेतनमात्र है; क्योंकि शिव एकमात्र चिति-स्वरूप ही है और उस चितिका कोई शरीर नहीं है ॥ ४४ ॥

एकमात्र अनन्तशक्ति ही जिसका स्वरूप है वह सर्वसाक्षिणी त्रिपुरा ही चिति है और वह परिच्छेदसे शून्य तथा सब ओर परिपूर्ण है ॥ ४५ ॥

इस लोकमें काल और देश ही परिच्छेद करनेवाले माने गये हैं। इनमें देश आकारमय है और काल क्रियामय। फिर ये आकार और क्रिया जिस शुद्ध चितिके आश्रित हैं, बताओ, उसीका ये परिच्छेद करनेवाले कैसे हो सकते हैं ? ॥ ४६-४७ ॥

बताओ, यहाँ ऐसा कौन देश या काल है जिसमें चिति नहीं है। जहाँ चिति नहीं होगी वहाँ देश या काल भी कैसे रहेगा।[1] अतः सत्तारूपसे चिति ही सब कुछ है ॥ ४८ ॥

---

१. 'चिति' ज्ञानमात्र है। ज्ञान ही में सम्पूर्ण दृश्य का भाव होता है। अतः जैसे दर्पणके बिना प्रतिबिम्ब और मृत्तिकाके बिना घट-शरावादि नहीं हो सकते उसी प्रकार चितिके बिना देश-कालादि कोई दृश्य पदार्थ भी नहीं हो सकता।

अस्तिता हि पदार्थानां प्रकाशो नापरः खलु ।
प्रकाशस्तु चितिः प्रोक्ता नाऽचितः स्यात्प्रकाशता ॥ ४९ ॥
प्रकाशस्तु सुमुख्यः स्याद्यः स्वतन्त्रः प्रकाशते ।
जडा न स्वप्रकाशा हि चितियोगप्रकाशनात् ॥ ५० ॥
अन्यानपेक्षणेनैव चितिः स्वस्मिन्प्रकाशते ।
जडाश्चितिं समाश्रित्य प्रकाशन्ते न चान्यथा ॥ ५१ ॥
अप्रकाशेऽपि वस्तूनामस्तिता चेत्तदा शृणु ।
अस्ति नास्तीति लोकेऽस्मिन् व्यवस्था न हि सेत्स्यति ॥५२॥
तस्माद्वस्त्वस्तिता लोके चित्प्रकाशो न चापरः ।
यथा हि प्रतिबिम्बानां सत्त्वं दर्पण एव हि ॥ ५३ ॥
तथा चितिर्जगत्सत्ता ततः सर्वं चितिर्भवेत् ।
अधिकं भासते यत्तु तन्नैर्मल्यमहत्त्वतः ॥ ५४ ॥

पदार्थोंकी सत्ता तो उनका प्रकाशित होना ही है, और कुछ नहीं। और 'प्रकाश' चिति को ही कहा जाता है, क्योंकि अचित् (जडवर्ग) प्रकाशरूप नहीं हो सकता ४९ ॥

प्रकाश भी वही मुख्य है जो [किसी अन्यकी सहायताके विना] स्वयं ही प्रकाशित हो । [अग्नि-सूर्य आदि] जडपदार्थ स्वयं प्रकाशित होनेवाले नहीं हैं, क्योंकि वे चेतनके द्वारा ही प्रकाशित होते हैं ॥ ५० ॥

केवल चिति ही किसी अन्यकी अपेक्षाके बिना स्वयं प्रकाशित होती है। जड पदार्थ तो चितिके अधीन ही प्रकाशित होते हैं, अन्य किसी प्रकार नहीं ॥ ५१ ॥

यदि कहो कि प्रकाशित न होनेपर भी जड वस्तुओंकी सत्ता तो रह ही सकती है, तो सुनो—ऐसी अवस्थायें लोकमें 'है' और 'नहीं है' इसकी कोई व्यवस्था नहीं हो सकेगी ॥ ५२ ॥

अतः लोकमें 'वस्तु की सत्ता' का अर्थ है चैतन्यका उस रूपमें प्रकाश, और कुछ नहीं। जिस प्रकार प्रतिविम्बोंकी सत्ता दर्पण ही है उसी प्रकार चिति ही जगत् की सत्ता है। अतः सब कुछ चिति ही है। वह जो घट-पटादि विशिष्टरूपोंमें भासती है यह उसकी निर्मलताकी महिमा है ॥ ५३-५४ ॥

काठिन्यनिर्मलत्वाभ्यां प्रतिबिम्बावभासनम् ।
तयोस्तु तारतम्येन प्रतिबिम्बः स्फुटोऽस्फुटः ॥ ५५ ॥
दर्पणे च जले चापि स्पष्टमेतद्धि लक्ष्यते ।
जडत्वाद्दर्पणादेस्तु स्वातन्त्र्यपरिवर्जनात् ॥ ५६ ॥
बिम्बापेक्षा चितेः स्वच्छस्वातन्त्र्यादनपेक्षता ।
निर्मलत्वं स्वतःसिद्धं चितेर्मालिन्यवर्जनात् ॥ ५७ ॥
अनेकरसतैव स्यान्मालिन्यं तच्चितेर्न हि ।
ऐकात्म्यरूप्याच्चिच्छक्तेरखण्डत्वाच्च सर्वथा ॥ ५८ ॥
अरिक्तात्मभावहेतोर्नैर्मल्यं सर्वतोऽधिकम् ।
अस्वतो भासमानस्य भानमन्यानुषङ्गतः ॥ ५९ ॥

प्रतिबिम्बकी प्रतीति [दर्पणादि आधारकी] सघनता और निर्मलताके कारण हुआ करती है। इनकी न्यूनाधिकताके अनुसार प्रतिबिम्ब भी अस्पष्ट या स्पष्ट होता है। यह अन्तर दर्पण और जलमें साफ-साफ देखा जा सकता है। [दर्पण की अपेक्षा जलमें सघनता और निर्मलता कम होती है, इसलिये उसमें जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह दर्पणमें पड़नेवाले प्रतिबिम्बकी अपेक्षा अस्पष्ट होता है] ॥ ५५–५६ पू० ॥

[यदि कहो कि दर्पणादिमें तो बिम्बके अनुसार प्रतिबिम्ब पड़ता है, चितिमें बिना बिम्बके ही जगत्-रूप प्रतिबिम्ब कैसे प्रतीत होने लगता है, तो उसका उत्तर देते हैं—] दर्पणादि तो जड हैं और उनमें स्वतन्त्रता भी नहीं है, इसलिये उन्हें बिम्ब की अपेक्षा होती है। किन्तु चिति स्वच्छ है और स्वतन्त्र है, इसलिये उसे उसकी अपेक्षा नहीं हैं। चितिमें मलिनता है ही नहीं, इसलिये उसकी स्वच्छता [किसीकी की हुई नहीं] स्वतः सिद्ध है ॥ ५६ उ०–५७ ॥

अनेकरसता अर्थात् अनेक पदार्थोंका मेल ही मलिनता है। चिति एकरूप और सर्वथा अखण्ड है, इसलिये उसके साथ किसीका मेल नहीं है। उसमें किसी अन्यके लिये स्थान ही नहीं है, अतः उसकी निर्मलता सबसे अधिक है ॥ ५८–५९ पू० ॥

जिसका स्वयं मान न हो, किसी अन्यके सम्पर्कसे ही जिसकी

प्रतिबिम्बस्वरूपज्ञाः प्रतिबिम्बं प्रचक्षते ।
जगदेतादृशं सर्वं सर्वैः समभिलक्षितम् ॥ ६० ॥
स्वतो न भासते क्वापि भासते च चिदाश्रयात् ।
अतो जगत्स्यादादर्शप्रतिबिम्बसुसंमितम् ॥ ६१ ॥
चितिर्विचित्राऽन्यभावैरुपरक्तापि भासिनी ।
स्वरूपादप्रच्युतैवाऽऽदर्शवल्लेशतोऽपि हि ॥ ६२ ॥
दर्पणप्रतिबिम्बानां दर्पणानन्यता यथा ।
चिदात्मप्रतिबिम्बानां चिदात्मानन्यता तथा ॥ ६३ ॥
दर्पणे प्रतिबिम्बो हि बिम्बहेतुर्निरूपितः ।
चितेः स्वातन्त्र्यहेतुः स्यात्प्रतिबिम्बो हि जागतः ॥ ६४ ॥
स्वसङ्कल्पाद्राम पश्य स्वात्मनि प्रतिबिम्बितान् ।
भावान् बिम्बविनाभूतान्निर्निमित्तावभासनान् ॥ ६५ ॥

प्रतीति हो, उसीको प्रतिविम्बका स्वरूप जाननेवाले 'प्रतिविम्ब' कहते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् सबको ऐसा ही जान पड़ा है ॥ ५६ उ०-६० ॥

यह स्वयं कभी नहीं भासता, चेतनके आश्रयसे ही भासता है। इसलिये यह जगत् दर्पणमें प्रतीत होनेवाले प्रतिविम्बके समान है ॥ ६१ ॥

इसे प्रकाशित करनेवाली चिति बड़ी विचित्र है। वह अन्य भावोंसे उपरञ्जित (रँगी हुई) रहनेपर भी दर्पणके समान अपने स्वरूपसे लेशमात्र भी च्युत नहीं होती ॥ ६२ ॥

दर्पणके प्रतिविम्बोंका जिस प्रकार दर्पणसे अभेद रहता है उसी प्रकार चिदात्मा में प्रतिविम्बित पदार्थोंका भी चिदात्मासे अभेद है ॥ ६३ ॥

दर्पणमें जो प्रतिविम्ब पड़ता है उसका हेतु बिम्ब कहा जाता है, किन्तु यह जगत्-रूप प्रतिविम्ब चितिकी स्वन्त्रताके कारण पड़ता है ॥ ६४ ॥

परशुराम ! तुम स्वयं अनुभव करके देखो; तुम्हारे संकलपसे बिम्बके विना ही तुम्हारे अन्तःकरणमें विना निमित्तके ही अनेकों भाव प्रतिविम्बित होते हैं ॥ ६५ ॥

सङ्कल्प एव स्वातन्त्र्यं चितेरुच्छूनमीर्यते ।
असङ्कल्पदशायां सा चितिः स्वच्छैकरूपिणी ॥ ६६ ॥
एवं चितेर्विशुद्धैकरूपायाः सृष्टितः पुरा ।
बृहत्स्वातन्त्र्यमभवत्सङ्कल्पात्मकमेव तत् ॥ ६७ ॥
तत एतत्समाभातं प्रतिबिम्बात्मकं जगत् ।
बृहत्सङ्कल्पसुस्थैर्याच्चिरमेतद्विभासते ॥ ६८ ॥
साधारणं जगद्भाति पूर्णस्वातन्त्र्यहेतुतः ।
अन्येषां तदपूर्णत्वाद्भात्यसाधारणात्मना ॥ ६९ ॥
अभ्यासान्मणिमन्त्राद्यैः स्वातन्त्र्यं तु यथा यथा ।
त्यजेत्सङ्कोचमात्मस्थं तथा तत्र हि भासनम् ॥ ७० ॥
पश्यैन्द्रजालिकं राम निरुपादानयोगतः ।
भासयन्तं जगच्चित्रं सङ्कल्पादेव सर्वतः ॥ ७१ ॥

संकल्परूप स्वातन्त्र्य ही उस चितिका स्थूल रूप कहा जाता है। जब संकल्प नहीं होता उस अवस्थामें तो वह शुद्ध चिन्मात्ररूपिणी ही है ॥ ६६ ॥

इस प्रकार सृष्टिसे पूर्व एकमात्र शुद्धस्वरूपिणी चितिमें जो परम स्वातन्त्र्य था वही सृष्टिके आरम्भमें संकलपरूप हो गया ॥ ६७ ॥

उसीसे यह प्रतिबिम्बरूप जगत् भासने लगा। वह महान् संकल्प बहुत स्थिर है, इसीसे यह चिरकालतक भासता रहता है ॥ ६८ ॥

चितिके पूर्ण स्वातन्त्र्यके कारण यह जगत् सबको समानरूपसे प्रतीत होता है। अन्य जीवोंका स्वातन्त्र्य तो पूर्ण नहीं है, इसलिये उनके संकल्पसे भासनेवाली वस्तुएँ असाधारणरूपसे केवल उन्हें ही प्रतीत होती हैं ॥ ६९ ॥

अभ्यास, मणि अथवा मन्त्र आदिके प्रभावसे जैसे-जैसे उनकी-स्वतन्त्रता बढती जाती है वैसे-वैसे ही उनके अन्तःकरणमें भासनेवाले पदार्थोंकी प्रतीतिमें भी संकोचकी कमी होने लगती है ॥ ७० ॥

परशुराम ! देखो, एक ऐन्द्रजालिक (मायावी) कोई सामग्री न रखते हुए भी केवल अपने संकल्पसे नया संसारचित्र दिखा देता है ॥ ७१ ॥

साधारणं स्थिरं स्वार्थक्रियार्हं भूय एव तु ।
स्वात्मन्युपसंहरेच्च जगदेवं विभासते ॥ ७२ ॥
योगिनः पश्य सृष्टिं तां पूर्णस्थैर्यसमावृताम् ।
योगिनस्तु मितत्वेन सृष्टिर्बाह्या विभाविता ॥ ७३ ॥
अमितत्वात्सृष्टिरियं चिन्नाथस्यान्तरेव हि ।
अत एव चिदात्मत्वव्यतिरेकादसत्यता ॥ ७४ ॥
जगतः प्रतिबिम्बस्यादर्शात्मत्वं विना यथा ।
अत एव विचारेणासत्यतां याति नान्यथा ॥ ७५ ॥
सत्यं स्वभावं नो मुञ्चेदसत्यं तं परित्यजेत् ।
जगत्पश्य भार्गवैतत् स्वभावादतिचञ्चलम् ॥ ७६ ॥
सत्यासत्ये विभागेन भासेते सर्वतोऽखिलम् ।
प्रतिबिम्बादर्शभानमिव तत्प्रविचारय ॥ ७७ ॥

वह सबको दिखायी देता है, स्थिर जान पड़ता है, तथा सच्ची वस्तुओंके समान उससे व्यवहार भी हो सकता है। फिर अपने में ही उसे लीन भी कर लेता है। इसी प्रकार यह संसार भी भास रहा है ॥ ७२ ॥

योगियोंकी मनःकल्पित सृष्टिको देखो। वह तो पूर्ण स्थिरतासे युक्त होती है। किन्तु योगियोंका स्वरूप सीमित होता है, इसलिये उनकी सृष्टि उनसे बाहर भासती है ॥ ७३ ॥

परन्तु चिन्मात्र परमेश्वरका स्वरूप तो असीम है, इसलिये उनकी यह सृष्टि उनके भीतर ही है। अतः प्रतिबिम्ब जैसे दर्पणस्वरूप ही होता है वैसे ही चिदात्मासे भिन्न इस जगत्की कोई सत्ता नहीं है। इस प्रकार केवल विचारसे ही इसकी असत्यता सिद्ध होती है, और किसी प्रकार नहीं ॥ ७४--७५ ॥

परशुरामजी! सत्य कभी अपने स्वभावको नहीं छोड़ता और असत्य उसे त्याग देता है। देखो, यह जगत् तो स्वभावसे बहुत ही चंचल है ॥ ७६ ॥

सब प्रकारके सत्य और असत्य दर्पण और प्रतिबिम्बके [स्थिर और चंचल] भानोंकी तरह अलग-अलग प्रतीत होते हैं। तुम उनका विचार करो ॥ ७७ ॥

आदर्शो ह्यचलस्तत्र चलं हि प्रतिविम्बकम् ।
तथा जगच्चलं संविदचलं सर्वभावितम् ॥ ७८ ॥
अत एव हि भावानां विचारासहरूपता ।
तथा हि सूर्यालोको हि वस्तूनामवभासकः ॥ ७९ ॥
उलूकादिदिवान्धानां विपरीतोऽन्धकारवत् ।
प्रकाशत्वान्धकारत्वे न विविक्तेऽनयोः स्फुटे ॥ ८० ॥
एवं विषं कस्यचित्स्यादविषं कस्यचिद्भवेत् ।
मनुष्यादेः प्रतीघातकरी भित्तिर्हि लक्ष्यते ॥ ८१ ॥
योगिनां गुह्यकादीनामप्रतीघातलक्षणा ।
कालो देशश्च दीर्घो यो मनुष्यादिप्रभावितः ॥ ८२ ॥
स एव विपरीतो वै देवानां योगिनामपि ।
दर्पणे भासमानस्य दूरादेर्दूरता यथा ॥ ८३ ॥

इनमें दर्पण स्थिर होता है और प्रतिविम्ब चंचल। इसी प्रकार जगत् चलायमान है और चेतन अचल है—यह बात सभी जानते हैं ॥ ७८ ॥

इसीसे संसारके पदाथ विचारके आगे ठहरनेवाले नहीं हैं। जैसे सूर्य सभी पदार्थोंको प्रकाशित करने वाला है, किन्तु जो दिनमें अन्धे रहते हैं उन उल्लू आदिके लिये वह अन्धकारके समान विपरीत स्वभाववाला जान पड़ता है। इससे प्रकाशत्व और अन्धकारत्वका स्पष्ट निर्णय नहीं हो सकता ॥ ७९-८० ॥

इसी प्रकार जो एकके लिये विष होता है वही दूसरेके लिये विष नहीं रहता। भीत मनुष्यादिके लिये तो रुकावट करनेवाली होती है, किन्तु योगी और गुह्यकादिके लिये रुकावट करनेवाली नहीं रहती ॥ ८१-८२ पू० ॥

जो देश और काल मनुष्यादिको बहुत लंबा जान पड़ता है, वही देवता और योगियोंको वैसा प्रतीत नहीं होता ॥ ८२ उ०-८३ पू० ॥

जैसे दर्पणमें भासनेवाली दूरी आदि में दूरता नहीं होती, उसी

तथैवास्य स्वभावोऽपि विचारे न स्थिरीभवेत् ।
अत आश्रयरूपेण विना नास्ति हि किञ्चन ॥ ८४ ॥
यदस्तीति भाति तत्तु चितिरेव महेश्वरी ।
एवं जगच्चिदेकात्मरूपं ते सम्यगीरितम् ॥ ८५ ॥

इति श्री० ज्ञानखण्डे जगत्तत्त्वनिरूपणे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥



प्रकार विचार करने पर इस संसारका स्वभाव भी स्थिर नहीं जान पड़ता । अतः अपने आश्रय चेतनके सिवा यह और कुछ नहीं है ॥ ८३ उ०–८४ ॥

जो 'है' इस रूपसे भास रहा है वह तो केवल महेश्वरी चिति ही है। इस प्रकार जगत् और चेतनकी एकरूपताका यथावत् विवेचन हुआ ॥ ८५ ॥

एकादश अध्याय समाप्त ।



द्वादशोऽध्यायः

एवं दत्तात्रेयमुखाज्जगत्तत्त्वं निशम्य तु।
पप्रच्छ भार्गवो भूयः सन्देहकलिलान्तरः ॥ १ ॥

भगवन् संश्रुतं प्रोक्तं भवता जागतं ननु।
यथा ब्रवीषि भगवंस्तत्तथैव न चाऽन्यथा ॥ २ ॥

तथापि कुत एतद्धि भाति सत्यात्मकं सदा।
कुतो वाऽन्यैर्बुद्धिमद्भिः सत्यत्वेन विनिश्चितम् ॥ ३ ॥

त्वत्तः श्रुतं चापि भूयो भाति मे सत्यवत् कुतः।
ब्रूह्येतत् कृपया नाथ यथा नश्येदयं भ्रमः ॥ ४ ॥

इत्यापृष्टो भार्गवेण दत्तात्रेयो महाशयः।
जगत्सत्यभ्रान्तिमूलं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ ५ ॥

द्वादश अध्याय ॥ १२ ॥

शिलालोकका दर्शन

इस प्रकार श्रीदत्तात्रेयजीके मुखसे जगत्‌का तत्त्व श्रवण कर परशुरामजीका चित्त सन्देहसे भर गया और उन्होंने पूछा ॥ १ ॥

भगवन्! मैंने आपका कहा जगत्सम्बन्धी विचार सुना। आप जैसा कहते हैं वह बात निश्चय वैसी ही है, अन्य प्रकारसे नहीं ॥ २ ॥

तो भी यह संसार सर्वदा सत्यरूप क्यों भासता है तथा अन्य कई बुद्धिमानों ने इसे सत्य ही क्यों निश्चय किया है? ॥ ३ ॥

आप गुरुदेवके मुखसे मैंने असत्य सुना, फिर भी मुझे यह सत्य-सा क्यों प्रतीत हो रहा है? नाथ! कृपा करके इसका कारण बताइये, जिससे मेरा यह भ्रम नष्ट हो जाय ॥ ४ ॥

परशुरामके इस प्रकार प्रश्न करनेपर महामना दत्तात्रेयजीने जगत्‌में सत्यता की भ्रान्तिके मूलका वर्णन करना आरम्भ किया ॥ ५ ॥

शृणु राम जगद्-भ्रान्तेर्मूलमेतत् सनातनम् ।
वस्त्वविद्यापूर्वकं यद्धृदा भावनमेव तत् ॥ ६ ॥
पश्यात्मानमविज्ञाय स्वात्मबुद्धिं शरीरके ।
क्व मांसरुधिरास्थीनि क्व चिदात्माऽतिनिर्मलः ॥ ७ ॥
केवलं भावनादार्ढ्याच्चिदात्मा देहकोऽभवत् ।
ज्ञातेऽप्यात्मनि चिद्रूपे भूयो भ्रान्तिः शरीरके ॥ ८ ॥
एवमेव भावनया सत्यं भाति जगत् खलु ।
विपरीतं भावयन् वै दृढं भ्रान्तिं निवर्त्तयेत् ॥ ९ ॥
यो यथा भावयेदेतज्जगत्तस्य तथा भवेत् ।
योगिनां धारणाध्यानैः पश्य तद्रूपसङ्गतिम् ॥ १० ॥
अत्र ते वर्त्तयिष्यामि पुनरावृत्तमद्भुतम् ।
अस्ति वङ्गे सुन्दराख्यं पुरं परमपावनम् ॥ ११ ॥

परशुराम ! सुनो, इस जगत्-भ्रान्तिका अनादि मूल कारण यह है कि जो वस्तु अज्ञानसे भास रही है उसे हृदयसे दृढतापूर्वक पकड़ रखा है ॥ ६ ॥

देखो, आत्माको न जाननेके कारण ही तो शरीरमें आत्मबुद्धि हुइ है। अन्यथा कहाँ ये मांस, रक्त और हड्डियाँ तथा कहाँ अत्यन्त निर्मल चेतन आत्मा ! ॥ ७ ॥

केवल भावनाको दृढताके कारण ही यह शरीर चिदात्मा बन बैठा है। यहाँतक कि चिद्रूप आत्माको जान लेनेपर भी पुनः शरीरमें ही आत्मत्वकी भ्रान्ति हो जाती है ॥ ८ ॥

ठीक इसी प्रकार भावनाकी दृढताके कारण ही संसार सत्य जान पड़ता है। अतः इसके विपरीत भावना करके इस दृढ भ्रान्तिको निवृत्त करना चाहिये ॥ ९ ॥

जो जैसी भावना करता है उसके लिये यह जगत् वैसा ही हो जाता है। देखो, योगियोंको धारणा-ध्यानादिके द्वारा तद्वत् अनुभव होने लगता है ॥ १० ॥

इस विषयमें मैं एक अद्भुत प्राचीन प्रसंगकी तुमसे चर्चा करता हूँ। वंगदेशमें सुन्दरपुर नामक एक बड़ा ही पवित्र नगर है ॥ ११ ॥

तत्राऽऽसीन्नृपतिर्धीमान् सुषेण इति विश्रुतः ।
तस्य भ्राता महासेनो यवीयान् प्रियकृत् सदा ॥ १२ ॥
शशास राज्यं नृपतिर्धर्मतः सर्वसम्मतः ।
कदाचिदश्वमेधैः सोऽयजद्देवं महेश्वरम् ॥ १३ ॥
तत्र राजकुमारास्तु महाबलपराक्रमाः ।
महत्या सेनया यज्ञाश्वं सर्वेऽप्यनुसंययुः ॥ १४ ॥
अश्वस्य रोधकान् सर्वान् विजित्य बलिनो बलात् ।
ययुरैरावतीतीरमन्वश्वं नृपतेः सुताः ॥ १५ ॥
ददृशुस्तत्र राजर्षिं तङ्गणाख्यं तपोनिधिम् ।
बलोद्धता अवज्ञाय तमसङ्गम्य ते ययुः ॥ १६ ॥
तद्वीक्ष्य तङ्गणसुतः पित्रवज्ञां रुषान्वितः ।
जग्राहाश्वं यज्ञीयं तं राजपुत्रान् हि भर्त्सयन् ॥ १७ ॥

वहाँ सुषेण नामसे विख्यात एक बुद्धिमान् राजा था । उसका छोटा भाई महासेन था । वह सर्वदा उसका प्रिय करनेवाला था ॥१२॥

राजा धर्मपूर्वक राज्यका शासन करता था और सभीके द्वारा सम्मानित था । एक बार अश्वमेध यज्ञके द्वारा उसने भगवान् महेश्वरकी आराधना की ॥ १३ ॥

उस समय उसके सभी महान् बलवान् और पराक्रमी राजकुमार बड़ी भारी सेना लेकर यज्ञके लिये छोड़े हुए अश्वके साथ गये ॥१४॥

उन बलवान् राजकुमारोंने घोड़ेको रोकनेवाले सभी वीरोंको अपने पराक्रमसे परास्त कर दिया । इस प्रकार वे घोड़ेके पीछे इरावती नदीके तटपर पहुँचे ॥ १५ ॥

वहाँ उन्हें तंगण नामक तपोनिष्ठ राजर्षिके दर्शन हुए । किन्तु बलोन्मत्त होनेके कारण उन्होंने उनकी उपेक्षा कर दी और उनसे भेट किये बिना ही वे आगे चले गये ॥ १६ ॥

इस प्रकार पिताजीकी अवज्ञा होती देख तंगणके पुत्रको बड़ा क्रोध हुआ । उसने उस यज्ञीय अश्वको पकड़ लिया और उन राजकुमारोंको ललकारा ॥ १७ ॥

अथ राजकुमारास्ते रुरुधुः सर्वतो हि तम् ।
तावत्तङ्गणपुत्रोऽपि गण्डशैलं पुरःस्थितम् ॥ १८ ॥
विवेशाश्वं समादाय पश्यत्सु राजसूनुषु ।
साश्वं शिलाविलीनं तं दृष्ट्वा राजकुमारकाः ॥ १९ ॥
विभिदुर्गण्डशैलं तं शस्त्रैरुच्चावचैः पृथक् ।
चूर्णिताद् गण्डशैलात् स महत्या सेनया वृतः ॥ २० ॥
निर्गत्य तङ्गणसुतो जिगाय युधि तान् क्षणात् ।
निहत्य सेनां सौषेणीं बध्वा राजकुमारकान् ॥ २१ ॥
प्रविवेश गण्डशैलं भूयस्तङ्गणसम्भवः ।
अथ सेनाभटाः शिष्टा गत्वा राज्ञे न्यवेदयन् ॥ २२ ॥
साश्वराजकुमाराणां हरणं गण्डशैलके ।
सुषेणो विस्मितोऽत्यन्तमुवाचाऽवरजं स्वकम् ॥ २३ ॥
वत्साऽऽशु गच्छ तं देशं यत्राऽऽस्ते तङ्गणो मुनिः ।
तपस्विनोऽचिन्त्यवीर्या अजेया देवमानुषैः ॥ २४ ॥

तब तो उन राजकुमारोंने उसे सब औरसे घेर लिया। बस, तंगणपुत्र उस घोड़ेको ले उन राजकुमारोंके देखते-देखते उनके सामनेवाली शिलामें घुस गया ॥ १८–१९ पू० ॥

राजकुमारोंने उसे घोड़ेके सहित शिलामें जाते देख छोटे-मोटे हथियारोंसे उस शिलाको फोड़ डाला ॥ १९ उ०–२० पू० ॥

उस फूटी हुई शिलासे तङ्गणपुत्र बड़ी भारी सेना लेकर निकला और क्षणभरमें ही उन्हें युद्धमें जीत लिया ॥ २० उ०–२१ पू० ॥

उसने सुषेणकी सेनाका संहार कर दिया और राजकुमारोंको बाँधकर फिर उसी शिलामें घुस गया ॥ २१ उ०–२२ पू० ॥

तब बचे-खुचे सैनिकोंने जाकर राजाको घोड़ेके सहित राजकुमारों के शिलामें हर ले जानेका समाचार सुनाया। इससे सुषेणको बड़ा विस्मय हुआ और उसने अपने छोटे भाईसे कहा ॥ २२ उ०–२३ ॥

"भाई ! तुम उस देशमें जाओ जहाँ तंगण मुनि विराजमान हैं। तपस्वियोंमें बड़ा अद्भुत सामर्थ्य होता है। वे देवता और मनुष्य सभीके लिये अजेय होते हैं ॥ २४ ॥

तं प्रसाद्य सुतानश्वं चाऽऽसाद्याऽऽयाहि सत्वरम् ।
न कालोऽतिव्रजेदेष वसन्तो यज्ञसम्मतः ॥ २५ ॥
अभिमानो न कर्त्तव्यस्तपस्विषु कदाचन ।
क्रुद्धास्तपस्विनो लोकान् भस्मीकुर्युः क्षणेन वै ॥ २६ ॥
अतः प्रसादनपरो भूत्वा स्वार्थं प्रसाधय ।
इत्यादिष्टो महासेनस्तं देशं शीघ्रमाययौ ॥ २७ ॥
अपश्यत्तत्क्षणं तत्र समाहितमतिं दृढम् ।
काष्ठकुड्यात्मतां प्राप्तं शान्तेन्द्रियमनोधियम् ॥ २८ ॥
निर्विकल्पदशाम्भोधिनिलीनस्वात्मभावनम् ।
प्रणम्य दण्डवद् भूयः कृताञ्जलिपुटस्तदा ॥
तुष्टाव विविधैः स्तोत्रैर्महासेनो मुनीश्वरम् ।
तथा तस्य संस्तुवतो ह्यत्यगाद्वै दिनत्रयम् ॥ ३० ॥
अथाऽऽजगाम तत्पुत्रः सन्तुष्टः पितृसंस्तवात् ।
प्रोवाच तं महासेनं राजंस्तुष्टोऽस्मि संस्तवात् ॥ ३१ ॥

तुम उन्हें प्रसन्न करना और घोड़े तथा राजकुमारोंको कर शीघ्र ही लौट आना। देखो, यज्ञके लिये अनुकूल यह वसन्त का समय व्यतीत न हो जाय ॥ २५ ॥

तपस्वियोंके आगे कभी अभिमान नहीं करना चाहिये। तपस्वियोंको क्रोध हो जाय तो वे एक क्षणमें सम्पूर्ण लोकोंमें भस्म कर सकते हैं ॥२६॥

इसलिये तुम उन्हें प्रसन्न करनेका प्रयत्न करके अपना काम बना लेना।" राजाकी ऐसी आज्ञा पाकर महासेन तुरंत उस देशमें पहुँचा ॥२७॥

वहाँ उसने तत्क्षण मुनिको दृढ समाधिमें स्थित देखा। उनका शरीर काष्ठ और भीतके समान स्थिर था तथा इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि सर्वथा शान्त ॥ २८ ॥

उनका अहंकार निर्विकल्प दशारूप समुद्रमें डूबा हुआ था। तब महासेनने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया और फिर हाथ जोड़कर अनेकों स्तोत्रोंसे उन मुनीश्वरकी स्तुति की। इस प्रकार स्तुति करते हुए उसे तीन दिन बीत गये ॥ २९-३० ॥

तब पिताकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर पुत्र आया और महासेनसे बोला, "राजन् ! मैं तुम्हारी प्रार्थनासे प्रसन्न हूँ ॥ ३१ ॥

ब्रूहि किं तेऽभिलषितं साधयाम्यविलम्बितम्।
अहं पुत्रोऽस्म्यस्य विभोस्तङ्गणस्य महामुनेः॥ ३२॥
नैतस्य मे पितुः कालो भाषणे शृणु भूमिप!।
समाहितस्वान्त एष द्वादशाब्दादनन्तरम्॥ ३३॥
समाधितः समुत्तिष्ठेत्तत्र पञ्चाब्दका गताः।
सप्ताऽवशेषा एवं हि समयोऽस्य पुरातनः॥ ३४॥
तत्तेऽभिवाञ्छितं ब्रूहि यत्तस्मात्तत् करोम्यहम्।
न मां बालं विजानीहि पितृतुल्यं तपस्विनम्॥ ३५॥
नाऽसाध्यं विद्यते लोके योगिनां हि तपस्विनाम्।
श्रुत्वा मुनिकुमारोक्तं महासेनोऽतिबुद्धिमान्॥ ३६॥
प्राह तं तङ्गणसुतं प्रणम्य च कृताञ्जलिः।
मुनिपुत्र! प्रियं मेऽद्य करोषि यदि सत्यतः॥ ३७॥
तत् पितुस्तेऽद्य वाञ्छामि समाधेर्व्युत्थितस्य वै।
सह सम्भाषणं किञ्चिदेतदत्यन्तवाञ्छितम्॥ ३८॥

बताओ, तुम्हारी क्या इच्छा है, मैं तुरंत उसे पूर्ण करूँगा। मैं इन परम समर्थ तंगण मुनिका पुत्र हूँ॥ ३२॥

राजन्! सुनो, अभी मेरे पिताजीके बोलनेका समय नहीं है। इनका अन्तःकरण समाधिमें लीन है। इस समाधिसे ये बारह वर्षोंमें उठेंगे अभी पाँच वर्ष बीते हैं, सात बाकी हैं। इस प्रकार पहलेसे ही इनका संकेत है॥ ३३–३४॥

अतः इनसे तुम जो चाहते हो मुझे बताओ, मैं पूरा करूँगा। मुझे बच्चा मत समझो, मैं भी पिताके समान तपस्वी हूँ। तपस्वी योगियोंके लिये संसारमें कोई बात असाध्य नहीं होती"॥३५–३६ पू०॥

मुनिकुमार की बातें सुनकर परम बुद्धिमान् महासेनने उसे प्रणाम किया और हाथ जोड़कर बोला-॥ ३६ उ०-३७ पू०॥

"मुनिकुमार यदि आप इस समय सचमुच मेरा कोई प्रिय करना चाहते हैं तो मैं समाधिसे उठे हुए आपके पिताजीसे कुछ बात करना चाहता हूँ—यही मेरी बड़ी अभिलाषा है॥ ३७ उ०-३८॥

अनुकम्प्यो यद्यहं ते द्रुतमेतत् प्रसाधय ।
श्रुत्वैतद्वचनं राज्ञः प्राऽऽह तापसजः पुनः ॥ ३९ ॥
राजन् न साध्यं ह्येतत्ते वाञ्छितं सर्वथा भवेत् ।
तथाऽपि ते करोमीति प्रतिश्रुत्याऽन्यथा कथम् ॥ ४० ॥
ब्रवीमि भूयस्तत् किञ्चित् प्रतीक्षस्वाऽभियाचितः ।
मुहूर्त्तमात्रं मे पश्य सामर्थ्यं योगसम्भवम् ॥ ४१ ॥
एष मेऽद्य गुरुः शान्तपदे परमपावने ।
संस्थितस्तं बाह्ययत्नैरपि को वै प्रबोधयेत् ॥ ४२ ॥
पश्याऽहं बोधयाम्येनं योगयुक्त्यैव सूक्ष्मया ।
इत्युक्त्वाऽथ समाविश्य समाहृत्येन्द्रियाण्यलम् ॥ ४३ ॥
प्राणेऽपानं सुसंयोज्य मुख्यप्राणेन निर्गतः ।
देहं पितुः प्रविश्याऽऽशु प्रलीनं तस्य मानसम् ॥ ४४ ॥
बोधयामास चाऽऽकृष्य प्रबोध्याऽऽशु विनिर्गतः ।
देहं स्वमाविशद् यावत्तावत् स बुबुधे मुनिः ॥ ४५ ॥

यदि आप मुझे कृपाका पात्र समझते हैं तो शीघ्र ही इसे पूर्ण कर दीजिये ।" राजाकी यह बात सुनकर मुनिपुत्रने पुनः कहा-॥ ३९ ॥

"राजन् ! तुम्हारी इस इच्छाका पूर्ण होना तो किसी प्रकार सम्भव नहीं है, तथापि मैं तुमसे 'तुम्हारा प्रिय करूँगा" ऐसा कहकर अब दूसरी बात कैसे कह सकता हूँ । तुम कुछ देर ठहरो और मेरा योग-सम्बन्धी सामर्थ्य देखो ॥ ४०-४१ ॥

इस समय ये मेरे गुरुदेव परमपवित्र शान्तिपदमें प्रतिष्ठित हैं, इन्हें बाह्य प्रयत्नोंसे तो भला, कौन जगा सकता है ? देखो, मैं इन्हें योगकी अत्यन्त सूक्ष्म युक्तिसे जगाता हूँ" ॥ ४२-४३ पू० ॥

ऐसा कहकर वह बैठ गया और सम्पूर्ण इन्द्रियोंका पूर्णतया निरोध-कर उसने अपानको प्राणके साथ मिलाया । फिर मुख्य प्राणके द्वारा बाहर आकर तुरन्त ही अपने पिताके शरीरमें प्रविष्ट हो गया और उनके सुप्त मनको आकर्षित करके सजग कर दिया । इस प्रकार उन्हें सावधान कर तुरन्त ही वहाँसे निकल कर जैसे ही अपने शरीरमें प्रविष्ट हुआ उसी समय वे मुनिवर भी जागृत हो गये ॥ ४३ उ०-४५ ॥

अपश्यदग्रगं भूपं स्तुवन्तं प्रणतं तदा ।
किमेतदिति सञ्चिन्त्य सर्वं योगदृशाऽविदत् ॥ ४६ ॥
प्रसन्नचित्त आमन्त्र्य पुत्रं प्राह सुशान्तधीः ।
वत्स ! नैवं पुनः कार्यं क्रोधस्तु तपसो रिपुः ॥ ४७ ॥
राज्ञा हि रक्षिते लोके तपो निर्विघ्नमेधते ।
यज्ञविघ्नक्रिया दैत्यस्वभावो न मुनेः क्वचित् ॥ ४८ ॥
प्रयच्छाऽश्वं राजपुत्रानप्यस्मै सुमना द्रुतम् ।
शीघ्रं यात्वेष यज्ञस्य न कालातिक्रमो भवेत् ॥ ४९ ॥
इत्युक्तो गण्डशैलं स प्रविश्य क्षणमात्रतः ।
साश्वान् राजसुतांस्तस्मै ददौ प्रीत्या गतक्रुधः ॥ ५० ॥
ततः साश्वान् भ्रातृपुत्रान् संप्रेष्य नगरं प्रति ।
महासेनस्तज्ज्ञणं तं प्रणम्यात्यन्तविस्मितः ॥ ५१ ॥
अपृच्छत् प्राञ्जलिर्भूत्वा प्रसाद्य मुनिपुङ्गवम् ।

उस समय उन्होंने अपने सामने राजाको अत्यन्त विनीत होकर स्तुति करते देखा। फिर यह सोचकर कि यह सब क्या मामला है उन्होंने योगदृष्टिसे सब बात जान ली ॥ ४६ ॥

तब उन्होंने प्रसन्न चित्तसे अत्यन्त शान्तिपूर्वक पुत्रको सम्बोधन करके कहा, "बेटा ! ऐसा काम फिर कभी मत करना। यह क्रोध तो तपस्याका शत्रु है ॥ ४७ ॥

राजाके द्वारा लोककी रक्षा (सुव्यवस्था) होनेपर ही निर्विघ्नतापूर्वक तपकी वृद्धि होती है। यज्ञमें विघ्न करना—यह तो दैत्योंका स्वभाव है, मुनियोंका कभी नहीं ॥ ४८ ॥

इसलिये तुम प्रसन्नचित्त होकर तुरन्त ही इन्हें घोड़ा और सब राजकुमार दे दो। इन्हें जल्दी ही जाना चाहिये, जिससे यज्ञका समय निकल न जाय ॥ ४९ ॥

पिताकी ऐसी आज्ञा होनेपर मुनिपुत्रका क्रोध शान्त हो गया। वह उस शिला में घुसा और एक क्षणमें ही घोड़ेके सहित राजपुत्रोंको लाकर प्रीतिपूर्वक महासेनको सौंप दिया ॥ ५० ॥

तब घोड़ेके सहित राजकुमारोंको नगर की ओर भेजकर महासेनने

भगवन् ज्ञातुमिच्छामि साश्वा मे भ्रातृनन्दनाः ॥ ५२ ॥
कथं गण्डशैलगर्भे संस्थितास्तत् समीरय ।
एवं राज्ञानुयुक्तोऽथ तङ्गणः प्राह भूपतिम् ॥ ५३ ॥
शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि पुराऽहं पृथिवीपतिः ।
समुद्रवलयां पृथ्वीमन्वशासं चिरं खलु ॥ ५४ ॥
महादेवप्रसादेन ज्ञात्वा चितिमधीश्वरीम् ।
त्रिपुरां लोकसंस्थानं नीरसं विमृशंस्तथा ॥ ५५ ॥
निर्विण्णो लोकयात्रायां न्यस्य राज्यं सुतेष्वथ ।
प्राविशं वनमेतं वै भार्या मामन्वगात् सती ॥ ५६ ॥
तस्याभितप्यतो मेऽद्य ययुरर्बुदवत्सराः ।
भार्यापि मत्सेवनेन परां सिद्धिमुपागता ॥ ५७ ॥
कदाचिदथ भाव्यर्थगौरवान्मे प्रिया सती ।
समाधावेव कामार्त्तमानसाभूत्ततस्तु सा ॥ ५८ ॥
मां दृष्ट्वा रतिमिच्छन्ती समाधिस्थं स्थिरान्तरम् ।

अत्यन्त विस्मित हो तंगण मुनिको प्रणाम किया और उन मुनिश्रेष्ठको प्रसन्न कर उनसे हाथ जोड़कर पूछा—॥ ५१–५२ पू० ॥

"भगवन्! मैं यह जानना चाहता हूँ कि घोड़ेके सहित मेरे ये भतीजे इस शिलाके भीतर कैसे रहे—बतानेकी कृपा करें" ॥५२ उ०–५३ पू०॥

राजाके ऐसा प्रश्न करनेपर तंगणमुनिने उससे कहा, "राजन्! सुनो, अपना मैं हाल बताता हूँ। पहले मैं भी राजा था और बहुत दिनों तक मैंने समुद्रपर्यन्त इस भूमण्डलका शासन किया है ॥५३ उ०--५४॥

भगवान् महेश्वरकी कृपासे मुझे सर्वलोकमहेश्वरी चित्स्वरूपा त्रिपुराका ज्ञान हो गया। इससे मैं दृश्य जगत्को नीरस समझकर लोकव्यवहारसे विरक्त हो अपना राज्य पुत्रोंको सौंपकर इस वनमें चला आया। मेरी सती धर्मपत्नी भी मेरे साथ चली आयी ॥ ५५--५६ ॥

यहाँ तपस्या करते-करते मुझे एक अरब वर्ष व्यतीत हो गये। मेरी सेवा करते रहनेसे मेरी पत्नीको भी परम पदकी प्राप्ति हो गयी ॥ ५७ ॥

पीछे किसी समय होनहारके प्रभावसे मेरी पतिपरायणा धर्मपत्नीका चित्त समाधि अवस्थामें ही कामाकुल हो गया ॥ ५८ ॥

उसे रतिकी इच्छा हुई। किन्तु उसने देखा कि मैं

असहन्ती कामवेगं भावयामास मद्रतिम् ॥ ५९ ॥
गाढभावनया प्राप्य सम्भोगं तु मया सह ।
दधार गर्भं सुषुवे पुत्रमेतं पुरः स्थितम् ॥ ६० ॥
पुत्रं न्यस्य मदुत्सङ्गे मां समाधेः प्रबोध्य च ।
देहं भूतेषु सात्कृत्य परव्योमाऽऽत्मतां ययौ ॥ ६१ ॥
अथ दृष्ट्वोत्सङ्ग एनं ज्ञात्वा तस्या गतिं पराम् ।
दयाक्रान्तमना जातस्तेनायं वर्द्धितो मया ॥ ६२ ॥
श्रुत्वा कदाचिन्मत्तोऽयं राज्यशास्तिं पुरा कृताम् ।
राज्यशासनकामोऽभूत् प्रार्थयामास मामनु ॥ ६३ ॥
ततो मदुपदेशेन प्राप्य योगर्द्धिमुत्तमाम् ।
निर्माय भावनायोगात् लोकमस्मिन् महाऽश्मनि ॥ ६४ ॥
समुद्रवलयां पृथ्वीं शास्ति नित्यं सुतस्त्वयम् ।
तल्लोकेऽश्वः सुता राज्ञो निरुद्धास्ते हि मोचिताः ॥ ६५ ॥

स्थित और अत्यन्त अन्तर्मुख हूँ । तब कामवेगको सहन न कर सकनेके कारण उसने मेरे साथ सम्भोग की भावना की ॥ ५६ ॥

गाढ़ भावनाके कारण उसे मेरे साथ सम्भोगकी प्राप्ति हो गयी और उसने गर्भ धारण किया । तब उसने यह सामने विद्यमान पुत्र उत्पन्न किया ॥ ६० ॥

उसने पुत्र मेरी गोदमें रख दिया और मुझे समाधिसे जगा दिया । फिर शरीर को पञ्चभूतोंमें लीनकर वह स्वयं परब्रह्मसे अभिन्न हो गयी ॥ ६१ ॥

इसे अपनी गोदमें देखकर और उसे परमपदमें लीन जानकर मेरा चित्त दयासे भर गया । इसीसे मैंने इसका पालन-पोषण किया ॥ ६२ ॥

एक बार इसने मुझसे मेरी पूर्वकालिक राज्यशासनकी बात सुनी तो इसे भी राज्य करनेकी इच्छा हो गयी और इसने मुझसे प्रार्थना की॥६३॥

तब मेरे उपदेशसे इसने उत्तम योगसम्पत्ति प्राप्त की और अपने संकल्पसे ही इस विशाल शिलामें एक विश्वकी रचनाकर यह मेरा पुत्र सर्वदा आसमुद्र भूमण्डलका शासन करता है । उसी लोकमें इसने तुम्हारे घोड़े और राजपुत्रोंको कैद कर लिया था, जिन्हें अब छोड़ दिया है ॥ ६४–६५ ॥

इत्येतत्ते समाख्यातं गण्डशैलेऽवरोधनम् ।
इति श्रुत्वा मुनिवचो भूयः पप्रच्छ भूपतिः ॥ ६६ ॥
श्रुतं त्वदुक्तमेतद्वै महाश्चर्यकरं परम् ।
तं लोकं द्रष्टुमिच्छामि कृपया मे प्रदर्शय ॥ ६७ ॥
इति सम्प्रार्थितो राज्ञा मुनिः पुत्रं समादिशत् ।
वत्सास्मै दर्शय स्वीयं लोकं सर्वं यथेप्सितम् ॥ ६८ ॥
इत्युक्त्वा तङ्गणो भूयः प्रांविवेश समाहितिम् ।
अथ तं तङ्गणसुतः समासाद्य नृपं ययौ ॥ ६९ ॥
गण्डशैलं प्रति ततः प्राविशन्मुनिदारकः ।
प्रवेष्टुं नाशकद् भूप आह्वयत्तं मुनेः सुतम् ॥ ७० ॥
सोऽपि गण्डशिलान्तस्थो राजानं समुपाह्वयत् ।
अथ भूयो विनिष्क्रम्य प्राह भूपं मुनेः सुतः ॥ ७१ ॥
नृपैष लोकस्तेऽसाध्यः प्रवेष्टुं खल्वयोगिनः ।
अयोगाद् गण्डशैलोऽयं घनः सप्रतिघोऽभवत् ॥ ७२ ॥

इस प्रकार मैंने तुम्हें शिलाके भीतर कैद करनेकी कथा सुना दी।" मुनिवरका यह वक्तव्य सुनकर राजाने पुनः पूछा—॥ ६६ ॥

"आपके मुखसे मैंने यह बड़ा ही आश्चर्यजनक वृत्तान्त सुना। अब मैं उस लोकको देखना चाहता हूँ। दिखानेकी कृपा करें" ॥ ६७ ॥

राजाके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर मुनिवरने अपने पुत्रको आज्ञा दी, "बेटा ! तुम इसे इच्छानुसार अपना सारा संसार दिखा दो" ॥६८॥

ऐसा कहकर तंगणमुनि पुनः समाधिमें प्रविष्ट हो गये। तब उनका पुत्र राजाको लेकर उस शिलाके समीप गया वहाँ पहुँचकर वह मुनिपुत्र तो शिलामें घुस गया किन्तु राजा प्रवेश नहीं कर सका। तब उसने मुनिकुमारको पुकारा ॥ ६९-७० ॥

उधर शिलाके भीतरसे उसने भी राजाको पुकारा। फिर बाहर आकर उसने राजासे कहा—॥ ७१ ॥

राजन् ! तुम योगी नहीं हो, इसलिये तुम्हारे लिये तो इस शिलामें घुसना सम्भव नहीं है। योगहीन होनेके कारण ही तुम्हें यह शिला सघन और रुकावट डालनेवाली जान पड़ी ॥ ७२ ॥

नेतव्यस्तं सर्वथैव पितुर्वचनगौरवात्।
तदत्र देहं विन्यस्य कोटरे तृणसंवृते ॥ ७३ ॥
मनोमात्रशरीरः सन् शैलं विश मया सह।
इत्युक्तः प्राह नृपतिरशक्तो देहनिर्गमे ॥ ७४ ॥
कथं मुने देहमिममुत्सृजामि समीरय।
उत्सृजामि यदि बलान्नाशमेष्यामि सर्वथा ॥ ७५ ॥
एवं वदन्तं नृपतिं प्रहस्याह मुनेः सुतः।
अहो योगानभिज्ञोऽसि चाऽस्तु नेत्रे निमीलय ॥ ७६ ॥
इत्युक्त्वा मीलिताक्षं तं प्रविश्य निमिषार्द्धतः।
आकृष्य तल्लिङ्गतनुं क्षिप्त्वा श्वभ्रे च तत्तनुम् ॥ ७७ ॥
योगसामर्थ्यतः शैले निविश्य नृपसंयुतः।
सुषुप्तं देहवैकल्यात् स्वसङ्कल्पोत्थदेहके ॥ ७८ ॥
संयोज्य बोधयामास प्रबुद्धो नृपतिस्तदा।
गृहीतं मुनिनाऽपश्यत् स्वं महागगने तदा ॥ ७९ ॥

तथापि पिताजीकी आज्ञाके कारण किसी भी प्रकार तुम्हें ले चलना ही होगा। अतः तुम घास-फूससे ढके हुये इस गढ़ेमें अपना शरीर रख दो और केवल मनोमय शरीरसे मेरे साथ शिलामें चले आओ" ॥ ७३–७४ पू० ॥

ऐसा कहे जानेपर राजा बोला, "मैं शरीरसे बाहर आनेमें असमर्थ हूँ। मुने! बताओ तो, मैं किस प्रकार इस शरीरको छोड़ूं। यदि इसे बलपूर्वक छोड़ भी दूँ तो मेरा तो सर्वथा नाश हो जायगा" ॥ ७४ उ०–७५ ॥

राजाके ऐसा कहनेपर मुनिकुमार हँसकर बोला, "अरे ठाक, तुम तो योग नहीं जानते। अच्छा, तुम आँखें मूँद लो" ॥ ७६ ॥

मुनिपुत्र ऐसा कहकर, राजाके आँख मूँद लेनेपर, आधे पलमें ही उसके भीतर घुस गया। उसने राजाके लिंग शरीरको बाहर खींचा और स्थूल शरीरको गढ़ेमें डाल दिया फिर अपने योगबलसे राजाके सहित शिलामें घुस गया। देहसे पृथक् हो जानेके कारण इस समय राजाका लिंग शरीर अचेत था। उसे अपने संकल्पसे बनाये हुए शरीरसे संयुक्त करके सावधान किया तो राजा सचेत हो गया। तब

ऊर्ध्वं विष्वक् च संपश्यन् नभो भीममनन्तकम् ।
भीतः प्राह मुनेः पुत्रं मुने मां न परित्यज ॥ ८० ॥
परित्यक्तो विनश्यामि पतिष्येऽहं निराश्रये ।
इति भीतं नृपं दृष्ट्वा प्रहस्याऽऽह मुनेः सुतः ॥ ८१ ॥
परित्यज भयं भूप नोत्सृजामि निशामय ।
एनं शैलान्तरस्थानं लोकं धैर्येण सर्वतः ॥ ८२ ॥
अथ धैर्यं समालम्ब्य नृपः समवलोकयन् ।
अधो दूरे सनक्षत्रमभ्रमन्धतमोवृतम् ॥ ८३ ॥
प्रविश्य तं देशमपि ततोऽधस्तात् प्रपश्यत ।
चन्द्रमण्डलमास्फीतं तत्राऽऽगत्य जडीकृतः ॥ ८४ ॥
चन्द्रमण्डलशीतेन मुनिपुत्रेण रक्षितः ।
अथ प्राप्य सूर्यलोकं तत्करैरभितापितः ॥ ८५ ॥
मुनिपुत्रेण योगेन शिशिरीकृतदेहकः ।
अपश्यल्लोकमखिलं स्वर्लोकप्रतिबिम्बवत् ॥ ८६ ॥

उसने देखा कि मुनिपुत्र उसे बड़े भारी आकाशमें पकड़े ले जा रहा है ॥ ७७–७९ ॥

अपने ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर अति भयानक एवं असीम आकाश ही देख कर वह डर गया और मुनिपुत्रसे बोला, "मुने ! मुझे छोड़ मत देना । आप छोड़ देंगे तो मैं इस निराधारमें गिरकर मर जाऊँगा" । इस प्रकार राजाको भयभीत देखकर मुनिकुमारने हँसकर कहा—॥ ८०–८१ ॥

"राजन् ! भय छोड़ दो, मैं छोड़ूंगा नहीं । यह शिलाके भीतर स्थित लोक है । इसे धैर्यपूर्वक सब ओर देखो" ॥ ८२ ॥

अब राजाने धैर्य धारणकर देखा तो उसे बड़ी दूरीपर नक्षत्रोंके सहित अन्धकारसे आच्छादित आकाश दिखायी दिया ॥ ८३ ॥

उस प्रदेशमें भी घुसकर जब नीचेकी ओर देखा तो बड़ा विशाल चन्द्रमण्डल दीख पड़ा । वहां पहुँचकर वह चन्द्रलोककी ठंडसे अकड़ गया । तब मुनिपुत्रने उसकी रक्षा की ॥ ८४–८५ पू० ॥

फिर जब सूर्यलोकमें पहुँचा तो वह सूर्यकी किरणोंसे झुलसने लगा । तब मुनिपुत्रने योगद्वारा उसके शरीरको शीतल किया । उसे वह सारा

अथ शृङ्गे हेमगिरेर्मुनिना सह संस्थितः ।
मुनिप्रदर्शितं सर्वमपश्यत् पृथिवीपतिः ॥ ८७ ॥
देशान्तरावलोकाय मुनिदत्तशुभेक्षणः
अपश्यद्वलयात्मानं लोकालोकाख्यपर्वतम् ॥ ८८ ॥
तद्बहिर्ध्वान्तसन्दोहमन्तःसौवर्णमेदिनीम् ।
समुद्रान् सप्तद्वीपांश्च नदीगिरिसमाकुलान् ॥ ८९ ॥
भुवनान्यपि सर्वाणि चेन्द्राद्यान् विबुधोत्तमान् ।
दैत्यान् मनुष्यान् रक्षांसि यक्षकिंपुरुषादिकान् ॥ ९० ॥
तत्राऽपश्यत् सत्यलोके वैकुण्ठे राजते नगे ।
मुनिपुत्रं स्वमात्मानं ब्रह्मविष्णुशिवात्मना ॥ ९१ ॥
विभज्य संस्थितं सर्वलोक-सृष्ट्यादिहेतवे ।
अथोऽपश्यद् भूविभागे कृत्वा रूपान्तरं तथा ॥ ९२ ॥
प्रशासनपरो भूमेः सार्वभौमत्वमास्थितः ।
एवं मुनिकुमारस्य दृष्ट्वा योगर्द्धिमुत्तमाम् ॥ ९३ ॥

लोक स्वर्गलोकके प्रतिबिम्बके समान दिखायी दिया ॥ ८५ उ०–८६ ॥

फिर वह मुनिके साथ ही हिमालयके शिखरपर उतरा । वहाँसे वह मुनिपुत्रके दिखानेसे सब वस्तुएँ देखने लगा ॥ ८७ ॥

विभिन्न देशोंको देखनेके लिये मुनिने उसे सुन्दर दृष्टि दे दी । उससे उसने चारों ओर मण्डलाकार लोकालोक पर्वतको देखा ॥ ८८ ॥

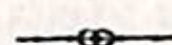
उसके बाहर की ओर घोर अन्धकार था और भीतरकी ओर सुवर्णमयी भूमि थी । इसके सिवा उसने सब समुद्र, नदी और पर्वतोंसे पूर्ण सातों द्वीप, सभी भुवन, इत्यादि प्रधान-प्रधान देवगण, दैत्य, मनुष्य, राक्षस, यक्ष और किन्नर आदि सभी देखे ॥ ८६--९० ॥

वहाँ उसने यह भी देखा कि वह मुनिपुत्र ही स्वयं ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीन रूपोंमें अपने ही को विभक्त करके लोकों की रचना आदिके लिये सत्यलोक, वैकुण्ठ और कैलाशमें विराजमान है ॥ ९१-९२ पू० ॥

साथ ही यह भी देखा कि पृथ्वीतलमें एक अन्य रूप धारणकर वही सार्वभौम सम्राट्के पदपर स्थित हो पृथ्वीका शासनकर रहा है ॥ ९२ उ०-९३ पू० ॥

विस्मितोऽभून्महासेनस्ततः प्राह मुनेः सुतः ।
राजन्नेतल्लोकजातं पश्यतः काल अत्यगात् ॥ ९४ ॥
अर्बुदानां द्वादशकमितोऽप्यत्र दिनात्मकः ।
गच्छावो बाह्यलोकं तं यत्रास्ते जनको मम ॥ ९५ ॥
इत्युक्त्वा भूभृता तेन सह भूयः समागतः ।
पूर्ववत्तं गण्डशैलान्निर्गत्याभ्याययौ बहिः ॥ ९६ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे गण्डशैललोकावलोकने द्वादशोऽध्यायः ॥



मुनिकुमारका ऐसा योगसामर्थ्य देखकर महासेनको बड़ा आश्चर्य हुआ। तब उससे वह मुनिपुत्र बोला ॥ ६३ उ०–६४ पू० ॥

राजन्! इन लोकोंको देखते हुए हमें बारह अरब वर्ष बीत चुके हैं और यहाँ अभी एक दिन ही हुआ है। अब हम बाहरके लोकमें चलेंगे, जहाँ मेरे पिताजी विराजमान हैं ॥ ६४ उ०–६५ ॥

ऐसा कहकर वह राजाके सहित पुनः लौट आया। पहले ही की भाँति उसने शिलाको पार किया और बाहर आ गया ॥ ६६ ॥

द्वादश अध्याय समाप्त।



त्रयोदशोऽध्यायः

मुनिपुत्रः पुनः शैलान्महासेने विनिर्गते ।
विधाय मूर्च्छितं लिङ्गदेहं संस्कारमात्रकम् ॥ १ ॥
समादाय विनिर्गत्य आक्षिपत्तच्छरीरके ।
उत्थापयामास तु तं जीर्णदेहसुसङ्गतम् ॥ २ ॥
अथोत्थितो महासेनो बाह्यलोकं समीक्ष्य तु ।
भुवं जनांस्तरून् स्रोतोह्रदादींश्चापि नूतनान् ॥ ३ ॥
बभूव विस्मितोऽत्यन्तं पप्रच्छ मुनिनन्दनम् ।
कतमो वै महाभाग लोकोऽयं मे प्रदर्शितः ॥ ४ ॥
पुरादृष्टादपूर्वोऽयं समाचक्ष्वैतदद्भुतम् ।
इत्यापृष्टो मुनिसुतो महासेनमुवाच ह ॥ ५ ॥
शृणु राजन्नयं लोकः पूर्वं योऽस्माभिरास्थितः ।
स एव चिरकालेन परिणामान्तरं गतः ॥ ६ ॥

त्रयोदश अध्याय ॥ १३ ॥

शोकाकुल महासेनको मुनिपुत्रका उपदेश

महासेनके शिलासे बाहर निकलते समय मुनिपुत्रने उसके लिंग शरीरको पुनः मूर्च्छित कर दिया और उस संस्कारमात्र शरीरको लेकर बाहर आ उसके स्थूल शरीरमें डाल दिया। इस प्रकार पूर्व शरीरके साथ संयुक्त होनेपर उसने उसे सचेत कर दिया ॥ १-२ ॥

महासेनने चेत होनेपर बाह्य जगत्‌को देखा तो पृथ्वी, मनुष्य, वृक्ष, स्रोत और सरोवर आदि सभीको नये ही रूपमें देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने मुनिपुत्रसे पूछा, "महाभाग ! आपने मुझे यह कौनसा लोक दिखा दिया ? ॥ ३-४ ॥

मेरे पहले देखे हुए प्रदेशसे तो यह भिन्न ही है। देखो जी ! यह तो बड़ी ही विचित्र बात है।" इस प्रकार पूछे जानेपर मुनिपुत्रने महासेनसे कहा—॥ ५ ॥

"राजन् ! सुनो, यह वही देश है जिसमें हम पहले रहते थे। बहुत समय हो जानेके कारण वही अब बदल गया है ॥ ६ ॥

शैललोकगतानां नो दिनमेकं यदत्यगात् ।
तावतैवाऽत्र कालेन द्वादशार्बुदवत्सराः ॥ ७ ॥
अतिक्रान्ता अतो लोकस्त्वयं रूपान्तरं गतः ।
भिन्नां व्यवहृतिं पश्य भाषां चापि समन्ततः ॥ ८ ॥
एवमेव जनानां तु कालेन भिद्यते स्थितिः ।
एवं मया तु बहुधा दृष्टा भिन्ना जगत्स्थितिः ॥ ९ ॥
पश्यैवमेष भगवान् समाहितमतिः पिता ।
सोऽयं देशो यत्र पूर्वं त्वया मे संस्तुतः पिता ॥ १० ॥
एनं पश्य महाशैलं यत्र मे लोक ईक्षितः ।
त्वद्भ्रातुर्वंशपुरुषा अतिक्रान्ताः सहस्रशः ॥ ११ ॥
यत्ते परं वङ्गदेशे सुन्दराख्यं स्थितं पुरा ।
तत्राऽभूत् सम्प्रति वनं व्याप्तं श्वापदमण्डलैः ॥ १२ ॥
त्वद्भ्रातुर्वंशजः सद्यो वीरबाहुरिति श्रुतः ।
मालवेशो विशालाख्ये क्षिप्रातीरे पुरेऽस्ति हि ॥ १३ ॥

शिलाके संसारमें जानेपर हमें जो एक दिन बीता था, उतने हीमें यहाँ बारह अरब वर्ष बीत गये हैं। इसीसे इस लोकका दूसरा ही रूप हो गया है। देखो, अब यहाँ सब ओर दूसरी ही आचार-पद्धति है और दूसरी ही भाषा है ॥ ७-८ ॥

कालक्रमसे इसी प्रकार लोगोंकी स्थितिमें परिवर्तन होता रहता है। मैंने तो अनेकों बार जगत्की ऐसी विभिन्न स्थितियाँ देखी हैं ॥ ९ ॥

देखो, मेरे सामर्थ्यवान् पिताजी उसी प्रकार समाधिमें स्थित हैं। यह वही देश है जहाँ पहले तुमने मेरे पिताजीकी स्तुति की थी ॥ १० ॥

इस विशाल शिलाको भी देखो, जिसमें तुमने मेरी सृष्टि देखी है। तुम्हारे भाईकी वंश-परम्परामें तो अब हजारों पीढ़ियाँ बीत चुकी हैं ॥११॥

तुम्हारे वङ्गदेशमें जो पहले सुन्दरपुर नामका श्रेष्ठ नगर था वहाँ तो अब हिंस्र जीवोंसे भरा हुआ विशाल वन हो गया है ॥ १२ ॥

तुम्हारे भाईके वंशमें उत्पन्न हुआ इस समय वीरबाहु नामसे विख्यात मालव देशका राजा है, जो क्षिप्रा नदीके तट पर विशाल नामके नगरमें रहता है ॥ १३ ॥

तद्वंश्योऽपि सुशर्माख्यो द्राविडेष्वभवन्नृपः।
वर्द्धने नाम नगरे ताम्रपर्णीसरित्तटे ॥ १४ ॥
लोकस्थितिरियं चेत्थं सर्वदा परिवर्त्तते।
अल्पकालेनैवमेतदभवन्नूतनं जगत् ॥ १५ ॥
इतोऽपि चिरकालेन नगा नद्यो ह्रदा भुवः।
अन्यथाभावमायान्ति एवमेव जगद्-गतिः ॥ १६ ॥
गिरयो निम्नतां यान्ति निम्नदेशा महोच्चताम्।
मरुदेशास्त्वनूपाः स्युः पर्वता वालुकामयाः ॥ १७ ॥
कठिना भूः शिलाप्राया भवेदत्यन्तकोमला।
कोमला भूरपि भवेत् पाषाणसदृशी क्वचित् ॥ १८ ॥
ऊषरा भूरुर्वरा स्यादुर्वरोषररूपिणी।
रत्नानि शर्कराः स्युर्वै रत्नात्मानस्तु शर्कराः ॥ १९ ॥
क्षारं जलं स्वादुरसं मधुरं क्षारतां गतम्।
कदाचिन्नरबाहुल्यं कदाचित् पशुसञ्चयम् ॥ २० ॥

उसीके वंशमें द्रविड देशमें ताम्रपर्णी नदीके तीरपर वर्द्धन नामकी नगरीमें सुशर्मा नामका भी एक राजा हुआ है ॥ १४ ॥

यह लोकस्थिति सर्वदा इसी प्रकार बदलती रहती है। इस तरह थोड़े ही समयमें यह जगत् नया बन जाता है ॥ १५ ॥

आगे भी अधिक समय बीतनेपर ये पर्वत, नदियाँ, सरोवर और भूमियाँ दूसरे ही प्रकार की हो जायँगी। संसारका स्वरूप ऐसा ही है ॥ १६ ॥

पर्वत गढ़े हो जाते हैं और निम्न देश बहुत ऊँचे उठ जाते हैं। मरुस्थल सजल देश हो जाते हैं और पहाड़ियाँ रेगिस्तान बन जाती हैं ॥ १७ ॥

जिनमें पत्थरोंकी अधिकता होती है वे कठोर भूमियाँ अत्यन्त कोमल हो जाती हैं और कहीं-कहीं कोमल भूमियाँ भी पत्थरके समान हो जाती हैं ॥ १८ ॥

ऊसर भूमि उपजाऊ और उपजाऊ भूमि ऊसर बन जाती हैं। इसी प्रकार रत्न रोड़े बन जाते हैं और रोड़े रत्नरूपमें परिणत हो जाते हैं ॥ १९ ॥

मीठा जल खारी हो जाता है और खारी जल मीठा। कहीं जहाँ

कदाचित् कृमिकीटादिप्रचुरं जगदीक्षितम् ।
एवमेतज्जगत् कालभेदात् परिणतं पृथक् ॥ २१ ॥
तस्मादयं पुराऽस्माकं लोक एवेदृशः स्थितः ।
इत्याकर्ण्य मुनिसुत-वाक्यं स च महीपतिः ॥ २२ ॥
महासेनोऽत्यन्तशोकाविष्टो मूर्च्छामुपागतः ।
मुनिपुत्रसमाश्वस्तः प्रज्ञामासाद्य भूपतिः ॥ २३ ॥
अत्यन्तशोकसंविष्टो विललाप सुदीनवत् ।
भ्रातरं भ्रातृपुत्रांश्च दारान् स्वात्मन एव च ॥ २४ ॥
पुत्रादींश्च पृथक् स्मृत्वा विललापाऽतिदुखितः ।
अथ तं मोहतो भ्रातृमुखान् शोचन्तमञ्जसा ॥ २५ ॥
मुनिपुत्रो वचः प्राह बुबोधयिषया नृपम् ।
राजंस्त्वं बुद्धिमान्नूनं तत्किमर्थं हि शोचसि ॥ २६ ॥
बुद्धिमन्तो हि विफलं जातु कुर्वन्ति कर्म नो ।
अविमृश्य फलं यस्तु कर्म कुर्यात् स बालिशः ॥ २७ ॥

मनुष्योंकी अधिकता होती है वहीं पशुओंके झुण्ड दीख पड़ते हैं ॥ २० ॥

कोई समय ऐसा भी था जब इस जगत्में कृमि-कीटादिकी ही बहुलता देखी जाती थी। इस प्रकार कालभेदसे यह जगत् अलग-अलग रूपोंमें बदलता रहता है ॥ २१ ॥

इसलिये हमारा यह पूर्वकालिक प्रदेश ही इस समय ऐसा हो गया है।" मुनिपुत्रकी यह बात सुनकर राजा महासेन शोकाकुल होकर मूर्च्छित हो गया ॥ २२-२३ पू० ॥

तब मुनिपुत्रके शान्त करनेपर उसे चेत हुआ और वह शोकातुर हो अत्यन्त दीनकी तरह विलाप करने लगा ॥ २३ उ०-२४ पू० ॥

वह अपने भाई, भतीजों तथा स्त्री-पुत्र आदिको अलग-अलग याद करके अत्यन्त दुःखित हो विलाप करने लगा ॥ २४ उ०-२५ पू० ॥

इस प्रकार उसे मोहवश स्वभावसे ही अपने भाई आदिके लिये शोक करते देख उसे समझानेके लिये मुनिकुमारने ये वचन कहे—॥ २५ उ०-२६ पू० ॥

"राजन्! तुम तो बड़े बुद्धिमान हो, फिर शोक क्यों करते हो?

त्त्वं शोचसि कं ब्रूहि किमर्थं वा हि शोचनम्।
इत्युक्तः प्राह तं भूपो महासेनोऽतिदुःखितः॥ २८ ॥
किं न पश्यसि शोकस्य स्थानं मम महामुने!।
सर्वं यस्य हृतं तस्य कारणं पृच्छसीह किम्॥ २९ ॥
एकस्मिन्नपि शोकः स्याद्धते लोकस्य सर्वथा।
कुतस्त्वं पृच्छसि पुनः सर्वनाशे ह्युपस्थिते॥ ३० ॥
इत्युक्तो मुनिपुत्रोऽपि भूयः प्राह हसन्निव।
राजन् ब्रूहि किमेतत्ते कुलधर्मः सनातनः॥ ३१ ॥
यच्छोचनमकृत्वा तु प्रत्यवायो महान् भवेत्।
अथवा शोचिते नष्टं प्राप्यते भूय एव तत्॥ ३२ ॥
राजन् विमृश धैर्येण शोचिते किं फलं भवेत्।
नष्टेषु बन्धुषु यदि शोचितव्यं तदा शृणु॥ ३३ ॥

बुद्धिमान् लोग तो कभी कोई व्यर्थ कर्म नहीं किया करते। जो व्यक्ति फलका विचार न करके कर्म कर बैठता है वही मूर्ख है ॥२६ उ०-२७॥

अच्छा, तुम यह तो बताओ कि किसके लिये शोक करते हो और किस निमित्तसे तुम्हें शोक है?" ऐसा पूछे जानेपर महासेनने अत्यन्त दुःखी होकर उससे कहा-॥ २८ ॥

"मुनिराज! क्या आपको मेरे शोकका स्थान दिखायी नहीं देता? भला, जिसका सभी कुछ चला गया उससे आप शोकका कारण क्यों पूछते हैं?॥ २९ ॥

जिसका एक सम्बन्धी मर जाता है उसे भी सब प्रकार शोक होता ही है, फिर मेरा सर्वनाश हो जानेपर भी आप यह प्रश्न कैसे कर रहे हैं?"॥ ३० ॥

ऐसा कहे जानेपर मुनिपुत्रने कुछ हँसते हुए-से कहा, "राजन्! बताओ तो, क्या यह तुम्हारा परम्परागत कुलधर्म है, जिससे कि शोक न करने पर कोई बड़ा भारी अनर्थ हो जायगा? अथवा शोक करनेसे तुम्हें गयी हुई वस्तुएँ पुनः मिल जायँगी॥ ३१-३२॥

राजन्! तुम धैर्यधारण करके विचार करो कि शोक करनेसे क्या फल मिलेगा। यदि नष्ट हुए सम्बन्धियोंके लिये शोक करना

अतीता बन्धवो नष्टाः पितामहमुखाः खलु ।
तत् सर्वदा शोचितव्यं कुतः सर्वं न शोचितम् ॥ ३४ ॥
अथ ते बन्धवः कस्य बन्धुत्वं वा कुतस्तव ।
मातापित्रोः स्वस्य वाऽपि पुरीषक्रमयो हि ये ॥ ३५ ॥
असङ्ख्याताः स्वदेहोत्था देहसम्बन्धिनोऽपि च ।
न ते स्युर्बन्धवः कस्मात् कुतो वा ते न शोचिताः ॥ ३६ ॥
राजन् विमृश कस्त्वं वै कान् विनष्टान् प्रशोचसि ।
देहस्त्वं देहभिन्नो वा देहः सङ्घातरूपकः ॥ ३७ ॥
सङ्घातस्यैकदेशस्य वा नाशान्नाश उच्यते ।
प्रतिक्षणं त्वेकदेशनाशो देहस्य भावितः ॥ ३८ ॥
मूत्रोच्चारश्लेष्मनखकेशादेः सन्ततं च यः ।
सर्वात्मना तु सङ्घातनाशो न हि विभाव्यते ॥ ३९ ॥

आवश्यक हो, तो सुनो । तुम्हारे दादा आदि और भी अनेकों भूतकालीन सम्बन्धी मर ही चुके हैं; तब तुम्हें सर्वदा शोक ही करते रहना चाहिये था तुमने उन सबके लिये शोक क्यों नहीं किया ? ॥ ३३–३४ ॥

अच्छा, तुम्हारे वे सम्बन्धी भी वास्तवमें किसके थे और तुम्हारे साथ भी उनका कैसे सम्बन्ध हुआ ? देखो, माता-पिता अथवा अपने भी विष्ठामें जो अगणित कीड़े होते हैं वे अपने देहसे ही होते हैं और देहके सम्बन्धी भी हैं ही, फिर वे तुम्हारे स्वजन क्यों न हुए और उनके लिये तुम शोक क्यों नहीं करते ? ॥ ३५–३६ ॥

राजन् ! तुम सोचो कि वास्तवमें तुम कौन हो और किन मरे हुओं-के लिये तुम शोक कर रहे हो ? तुम देह हो या देहसे भिन्न ? देह तो अनेक तत्त्वोंका संघात (समूह) है ॥ ३७ ॥

उस सम्पूर्ण संघातके अथवा उसके एक अंशके नाशको ही नाश कहते हैं । और देहके एक-एक अंशका नाश तो प्रत्येक क्षणमें माना जाता है । जैसे मूत्र, मल, कफ, नख और केश आदिका नाश निरन्तर होता ही रहता है । तथा इस संघातका पूर्णतया नाश कभी माना नहीं जाता ॥ ३८–३९ ॥

भ्रात्रादेस्तव देहांशः स्यात् पृथिव्यादिषु स्फुटम्।
अन्ततो देहगगनमविनाश्यस्ति केवलम् ॥ ४० ॥
न त्वं देहः किं तु देही मद्देह इति भाषसे।
यथा मद्वस्त्रमित्येवं स देहस्त्वं कथं वद ॥ ४१ ॥
यदि त्वं देहभिन्नोऽसि सम्बन्धः कोऽन्यदेहकैः।
यथा भ्रात्रादिवासोभिर्नास्ति सम्बन्धलेशकः ॥ ४२ ॥
अविशेषात्तच्छरीरैर्विनष्टैस्तैः कथं शुचा।
मच्छरीरं मदक्षाणि मत्प्राणो मन्मनस्त्विति ॥ ४३ ॥
वदन् भवान् किंस्वरूपो वद मे पृच्छते नृप!।
एवमुक्तो महासेनो मुहूर्तं सुविचार्य तु ॥ ४४ ॥
अप्राप्य तं मुनेः प्रश्ने प्राह दीनतरस्ततः।
न जाने भगवन् कोऽहमिति सर्वात्मनाऽप्यहम् ॥ ४५ ॥

तुम्हारे भ्राता आदिके देहोंका अंश पृथ्वी आदि भूतोंमें स्पष्ट है ही। [इन पृथ्वी आदिका भी नाश माना जाय तो] अन्ततः विशुद्ध देहाकाश तो अविनाशी है ही ॥ ४० ॥

वास्तवमें तो तुम देह नहीं देही (देहके स्वामी) हो, क्योंकि तुम जिस प्रकार 'मेरा वस्त्र' कहते हो वैसे ही 'मेरा देह' भी कहते हो। फिर बताओ तुम देह कैसे हो सकते हो ? ॥ ४१ ॥

यदि तुम इस देहसे भी भिन्न हो तो अन्य देहोंके साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध हो सकता है ? जिस प्रकार कि भाई आदिके वस्त्रोंसे तुम्हारा लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। और [उनके ममतास्पद होनेमें] उनके शरीरोंसे उनके वस्त्रोंका कोई भेद है नहीं। फिर शरीरोंके मरनेपर ही तुम्हें क्यों शोक होता है ? ॥ ४२-४३ पू० ॥

राजन्! मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ, बताओ, जब तुम 'मेरा शरीर' 'मेरी इन्द्रियाँ' 'मेरा प्राण' 'मेरा मन' ऐसा कहते हो तब तुम्हारा क्या स्वरूप हुआ ?" ॥ ४३ उ०-४४ पू० ॥

ऐसा प्रश्न होनेपर महासेनने एक मुहूर्त्त खूब विचार किया और जब मुनिके उस प्रश्नका कोई उत्तर न मिला तो अत्यन्त दीन होकर बोला—"भगवन्! सब प्रकार विचारनेपर भी मैं यह नहीं जान

स्वभावतस्तु शोचामि कारणं तत्र नाविदम् ।
प्रपन्नस्त्वामहं दीनः किमिदं भगवन् वद ॥ ४६ ॥
सर्वे शोचन्ति यत् कस्मिन्नपि बन्धौ मृते सति ।
न स्वात्मानं विजानन्ति नाऽन्यं शोचन्ति चैव हि ॥ ४७ ॥
एतन्मे ब्रूहि भगवन् शिष्याय तत्र वै स्फुटम् ।
इति पृष्टो मुनिसुतो महासेनमथाऽब्रवीत् ॥ ४८ ॥
राजन् शृणु महादेव्या मायया मोहिता जनाः ।
स्वात्मानमविदित्वैव व्यर्थं शोचन्ति सर्वदा ॥ ४९ ॥
यावन्न विदितं स्वात्मसतत्त्वं तावदेव वै ।
जनाः शोचन्ति विज्ञाय भूयः शोचन्ति न क्वचित् ॥ ५० ॥
यथा निद्रामोहितात्मा स्वमविज्ञाय शोचति ।
ऐन्द्रजालिकमन्त्रोत्थमायया मोहितो नरः ॥ ५१ ॥
तत्प्रकल्पितसर्पादिभीत्या यद्वद्धि शोचति ।

सका कि मैं कौन हूँ । मैं केवल स्वभाववश ही शोक कर रहा हूँ, किन्तु उसका कारण नहीं जानता । मैं दीन आपकी शरणमें हूँ । भगवन् ! बताइये, यह सब क्या रहस्य है ॥ ४४ उ०–४६ ॥

कोई भी सम्बन्धी मर जाता है तो सभी लोक शोक किया करते हैं । वे भी न तो अपने स्वरूपको जानते हैं और न दूसरेके ही स्वरूप-को । तथापि शोक करते ही हैं ॥ ४७ ॥

भगवन् ! मैं आपका शिष्य हूँ । यह बात आप मुझे स्पष्ट समझा दीजिये ।" इस प्रकार पूछे जानेपर मुनिपुत्रने महासेनसे कहा—॥४८॥

"राजन् ! सुनो, देवी महामायाके कारण मोहमें पड़े हुए लोग अपने वास्तविक स्वरूपको न जानकर सर्वदा व्यर्थ ही शोक किया करते हैं ॥ ४९ ॥

जबतक आत्माके स्वरूपका ज्ञान नहीं होता तभीतक लोगोंको शोक होता है । उसको जान लेनेपर तो फिर कभी शोक नहीं होता ॥ ५० ॥

जिस प्रकार निद्रासे मूर्च्छित हुआ पुरुष [स्वप्नावस्थामें कल्पित अनर्थकी आशंकासे] अपनेको न जाननेके कारण ही शोक करने लगता है, तथा किसी मायावीकी मन्त्रजनित मायासे मोहित हुआ पुरुष मायाकल्पित सर्पादिके भयसे शोकाकुल हो उठता है,

तथैव मायया मुग्धः स्वमज्ञात्वा प्रशोचति ॥ ५२ ॥
यथा स्वप्नात् प्रबुद्धो वा ज्ञातैन्द्रजालिकागमः।
न शोचति क्वचिच्चान्याञ्शुचा युक्तान् हसत्यपि ॥ ५३ ॥
एवं स्वात्मविदो मायामुक्ताः शोचन्ति न क्वचित्।
शोचतस्त्वादृशान् मायामूढान् प्रविहसन्ति च ॥ ५४ ॥
तत्त्वं विज्ञायात्मतत्त्वं मायामुत्तीर्य दुर्गमाम्।
जहि शोकं महाबाहो! मोहोत्थं सद्विमर्शनात् ॥ ५५ ॥
इत्युक्तः पुनरप्याह महासेनो मुनीश्वरम्।
भगवन् यस्त्वया प्रोक्तो दृष्टान्तो विषमः स हि ॥ ५६ ॥
स्वाप्नो वा मायिको वाऽपि शून्यात्मा भासते परम्।
अयं जाग्रत्प्रपञ्चस्तु सत्यः सर्वार्थसाधकः ॥ ५७ ॥
अबाधितः स्थिरश्चापि कथं स्वाप्नसमो भवेत्।

उसी प्रकार मायासे मुग्ध हुआ पुरुष अपनेको न जाननेके कारण ही शोक करता है ॥ ५१-५२ ॥

जैसे स्वप्नसे जगा हुआ तथा इन्द्रजालविद्याको जाननेवाला पुरुष कभी शोक नहीं करता, प्रत्युत अन्य शोकयुक्त पुरुषोंको देखकर हँसता भी है, इसी प्रकार आत्मतत्त्वको जाननेवाले मायामुक्त महापुरुष कभी शोक नहीं करते, प्रत्युत तुम-जैसे शोक करनेवाले मायामुग्ध पुरुषको देखकर हँसते हैं ॥ ५३-५४ ॥

अतः तुम आत्मतत्त्वको जानकर इस दुर्गम मायाको पार कर लो और हे महाबाहो! सत्स्वरूप आत्मतत्त्वका विचार करके इस मोहजनित शोकको दूर कर दो" ॥ ५५ ॥

इस प्रकार कहे जानेपर महासेनने पुनः उन मुनिराजसे कहा, "भगवन्! आपने जो स्वप्न और इन्द्रजालका दृष्टान्त दिया वह तो यहाँ ठीक नहीं बैठता ॥ ५६ ॥

स्वप्न और मायाका जो प्रपञ्च होता है वह तो पीछे शून्यरूप ही भासता है। किन्तु यह जाग्रत् प्रपञ्च तो सत्य और सब प्रकारके प्रयोजनोंकी पूर्त्ति करनेवाला है। इसका कभी बाध (मिथ्यात्व निश्चय) नहीं होता और यह स्थिर भी है। फिर यह स्वप्नके समान कैसे

इत्युक्तः पुनराचख्यौ मुनिपुत्रोऽतिबुद्धिमान् ॥ ५८ ॥
शृणु राजन् ! यत्त्वयोक्तं दृष्टान्तो विषमस्त्विह ।
एष मोहो द्वितीयस्ते स्वप्ने स्वाप्नस्य यादृशः ॥ ५९ ॥
स्वाप्नवृक्षोऽपि तत्काले किं न साधयते हितम् ।
पान्थानां किं न हरति तापं छायाप्रदानतः ॥ ६० ॥
फलाद्यैः स्वाप्नमर्त्यादीन्न तर्पयति किं वद ।
स्वप्ने क्व बाधितः स्वाप्नः क्वास्थिरश्चोपलक्षितः ॥ ६१ ॥
अखिलं बाधितं जाग्रद्दशायामिति चेच्छृणु ।
जाग्रत्प्रपञ्चोऽपि सर्वः सुषुप्तौ किं न बाधितः ॥ ६२ ॥
न बाधितः परदिनेऽप्यनुवृत्तेस्तथेति चेत् ।
स्वाप्नस्यापि परदिने नाऽनुवृत्तिः क्व वा वद ॥ ६३ ॥

हो सकता है ?" उसके ऐसा कहनेपर परम बुद्धिमान् मुनिपुत्रने हा—॥ ५७-५८ ॥

"राजन् ! सुनो, तुमने जो कहा कि स्वप्न और इन्द्रजालका ष्टान्त यहाँ ठीक नहीं बैठता यह तुम्हें दूसरा भ्रम हो गया है, जैसे वप्नमें स्वाप्न पुरुषको [रज्जु में सर्पादि प्रतीत होने की] कोई दूसरी भ्रान्ति उत्पन्न हो जाय ॥ ५९ ॥

स्वप्नमें प्रतीत होनेवाला वृक्ष भी क्या स्वप्न-कालमें उपयोगी नहीं होता ? क्या उस समय छाया देकर वह यात्रियोंकी थकावट दूर नहीं करता ॥ ६० ॥

अथवा फलादि के द्वारा वह स्वप्नके मनुष्योंको तृप्त नहीं करता। भला, स्वप्नका पदार्थ कभी स्वप्नमें बाधित होता है अथवा कभी अस्थिर देखा जाता है ? ॥ ६१ ॥

यदि कहो कि [स्वप्नमें भले ही बाधित न हो] वह सब जाग्रत् दशामें तो बाधित हो ही जाता है, तो सुनो, क्या जाग्रत्का सारा प्रपञ्च सुषुप्तिमें बाधित नहीं हो जाता ॥ ६२ ॥

यदि कहो कि दूसरे दिन भी उसकी अनुवृत्ति होती है इसलिये उसका बाध नहीं होता, तो बताओ, क्या स्वप्नके पदार्थ दूसरे दिन अनुभवमें नहीं आते ? ॥ ६३ ॥

नाऽनुवृत्तिर्भाति स्वप्ने इति चेन्नृपते ! शृणु ।
जाग्रत्यपि क्वानुवृत्तिभासो नव्याऽवभासके ॥ ६४ ॥
नव्येऽनुवृत्त्यभानेऽपि भात्यन्यत्रेति चेच्छृणु ।
तथा स्वप्नेऽपि भात्येवाऽनुवृत्तिः स्थिरभासने ॥ ६५ ॥
मृषानुवृत्तिस्तत्रेति चेज्जाग्रत्यपि सा तथा ।
सूक्ष्मबुद्ध्या विमृश तद्वस्तु जाग्रति संस्थितम् ॥ ६६ ॥
देहवृक्षनदीदीपादिकं क्षणविभेदितम् ।
कथं तदनुवृत्तिर्वै भवेदवितथात्मिका ॥ ६७ ॥
अचलानामपि न हि द्वितीयक्षणसङ्गतम् ।
रूपमस्ति सर्वदैव निर्झरैर्भेदितात्मनाम् ॥ ६८ ॥
मूषकैरुपदीकाभिः शूकरैर्निर्झरादिभिः ।
सर्वतस्तु विभिद्यन्ते पर्वताः सर्वदैव हि ॥ ६९ ॥

यदि कहो कि स्वप्नमें तो पूर्व पदार्थोंकी ही अनुवृत्ति नहीं भासती, तो राजन् ! सुनो, जाग्रत्में भी अनुवृत्तिका भान कहाँ होता है, उस अवस्थामें भी तो नये पदार्थ ही भासते हैं ॥ ६४ ॥

यदि तुम कहो कि नये-नये पदार्थोंकी प्रतीति होनेपर भी पृथ्वी आदि अन्य पदार्थ तो वे ही रहते हैं, तो स्वप्नमें भी [देश-कालादि] स्थिर पदार्थोंके भासनेके साथ ही कुछ पदार्थोंकी अनुवृत्ति भासती है ॥ ६५ ॥

यदि तुम्हारे विचारसे स्वप्नकी अनुवृत्ति मिथ्या है तो जाग्रत् की भी तो वैसी ही है । तुम जाग्रत्कालकी उन स्थिर वस्तुओंके विषयमें विचार तो करो ॥ ६६ ॥

शरीर, वृक्ष, नदी और दीपक आदि पदार्थ क्षण-क्षणमें बदलते रहते हैं । फिर उनकी अनुवृत्ति सत्य कैसे हो सकती है ॥ ६७ ॥

पर्वतादि अचल माने जानेवाले पदार्थोंका भी द्वितीय क्षणमें रहनेवाला रूप ज्योंका त्यों नहीं होता । वे भी झरने आदिके कारण बदलते रहते हैं ॥ ६८ ॥

चूहों, दीमकों, सूअरों और झरनों आदिके कारण पर्वतोंमें सर्वदा

पर्वताम्बुधिभूमुख्या अप्येवं क्षणभेदिनः ।
अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि पश्य सूक्ष्मधिया नृप ! ॥ ७० ॥
परिच्छिन्नाऽनुवृत्तिर्हि समैव स्वाप्नजाग्रतोः ।
अपरिच्छिन्नाऽनुवृत्तिः कार्येष्वत्यन्तदुर्लभा ॥ ७१ ॥
अनुवृत्तिः कारणेन रूपेणास्ति हि सर्वदा ।
इति चेत्कारणं रूपं पृथिव्यादिमयं किल ॥ ७२ ॥
तच्चाऽनुवृत्तस्वप्नेऽपि पृथिव्यादेर्हि भासनात् ।
अथ स्वाप्नस्य बाधो हि जाग्रति ह्यनुभूयते ॥ ७३ ॥
न जागरस्य बाधस्तु भासते कस्यचित् क्वचित् ।
इति चेच्छृणु वक्ष्यामि बाधो ह्यनवभासनम् ॥ ७४ ॥
सुषुप्तौ सर्वजगतोऽप्यनुभूतं ह्यभासनम् ।
अथ बाधो ह्यप्रमाणदर्शनं चेत्तदा शृणु ॥ ७५ ॥
अप्रमाणदर्शिनोऽस्ति भ्रान्तानां त्वादृशां खलु ।

सर्वत्र परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार पर्वत और समुद्रादि भी क्षण-क्षण में बदलनेवाले हैं ॥ ६९–७० पू० ॥

अब मैं तुमसे जो कहता हूं उसपर सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करो। आंशिक अनुवृत्ति तो स्वप्न और जाग्रत्में समान रूपसे ही होती है। हाँ, कार्यवर्गमें सर्वांशमें अनुवृत्तिकी प्रतीति होनी तो अत्यन्त कठिन ही है ॥ ७० उ०–७१ ॥

यदि कहो कि कारणरूपसे तो जाग्रत्कालमें सर्वदा ही पदार्थोंकी अनुवृत्ति होती है, तो कारणका स्वरूप तो पृथ्वी आदि पञ्चभूतमय ही है, सो वे तो स्वप्नमें भी अनुवृत्त होते ही हैं, क्योंकि वहाँ भी पृथ्वी आदिका भान होता ही है ॥ ७२-७३ पू० ॥

यदि ऐसा कहो कि स्वप्नके पदार्थोंका तो जाग्रत्कालमें अभाव जान पड़ता है, किन्तु जाग्रत्कालका बाध कभी किसीको नहीं भासता—तो सुनो, इसका उत्तर देता हूं। 'बाध' का अर्थ है 'न भासना', सो सुषुप्तिमें तो सम्पूर्ण जगत्का 'न भासना' अनुभवमें आता है ॥ ७३ उ०–७५ पू० ॥

और यदि तुम 'बाध' का अर्थ 'अप्रमाण दर्शन'[1] करो तो सुनो,

1. प्रमाणसे सिद्ध न देखना अर्थात् 'असत्य देखना'।

ज्ञातविज्ञेयतत्त्वानामप्रामाण्यदृशिः स्फुटा ॥ ७६ ॥
तस्मादिदं दृश्यजालं स्वाप्नदृश्यसमस्थिति ।
दीर्घकालोऽपि च स्वप्ने भासते निर्विशेषतः ॥ ७७ ॥
तस्मादबाधितो ह्यर्थक्रियाकारी स्थिरोऽपि च ।
स्वाप्नभावस्तेन तुल्यो जाग्रद्भावोऽपि सर्वशः ॥ ७८ ॥
यथा जाग्रति जाग्रत्त्वं गृहीतं जागरे स्फुटम् ।
स्वप्नेऽपि जागरत्वं तु गृहीतं तद्वदेव हि ॥ ७९ ॥
एवं स्थिते कुतो राजन् विशेषः स्वप्नजाग्रतोः ।
तत्स्वाप्नान्निजबन्धूंस्त्वं न हि शोचसि वै कुतः ॥ ८० ॥
केवलं भावनामात्रात् सत्यता जगति स्थिता ।
शून्यताभावनेनाऽपि शून्यं निष्प्रतिघं भवेत् ॥ ८१ ॥

तुम-जैसे भ्रान्त पुरुषोंको वह अप्रमाणदर्शन करनेकी दृष्टि प्राप्त नहीं है। जो महापुरुष ज्ञेयतत्त्वको पहचानते हैं उन्हें स्पष्ट ही यह अप्रमाणदर्शनकी दृष्टि प्राप्त है ॥ ७५ उ०–७६ ॥

इसलिये यह दृश्यप्रपञ्च स्वप्नकालके दृश्यके समान ही है। स्वप्नमें भी समान रूपसे दीर्घकालकी प्रतीति होती ही है ॥ ७७ ॥

अतः स्वप्नकालमें स्वप्नसृष्टि भी बाधित न होनेवाली, प्रयोजनकी पूर्ति करनेवाली और स्थिर ही है। जाग्रत्सृष्टि भी सर्वथा उसके समान ही है ॥ ७८ ॥

जिस प्रकार जाग्रत् अवस्थामें 'यह जाग्रत् है' ऐसा भान स्पष्ट होता है उसी प्रकार स्वप्नावस्थामें भी जागृतिका ग्रहण होता ही है। [अर्थात् उस समय भी यही जान पड़ता है कि यह जाग्रत् है] ॥ ७९ ॥

राजन्! ऐसी स्थितिमें भला, जाग्रत् और स्वप्नका अन्तर कहाँ है? फिर तुम अपने स्वप्नावस्थाके सम्बन्धियोंके लिये शोक क्यों नहीं करते हो? ॥ ८० ॥

केवल भावनासे ही संसारमें सत्यता बनी हुई है। यदि इसमें शून्यताकी भावना की जाय तो यह शून्य और निष्प्रतिघ (सब प्रकार की रुकावटसे रहित) जान पड़ेगा ॥ ८१ ॥

भावना ह्यप्रमाणत्ववैधुर्येण स्थिरीकृता ।
भवेत्तदात्मभावेन सत्यमेतन्महीपते ! ॥ ८२ ॥
निदर्शनं त्वत्र चेदं यज्जगद् दृष्टमेव ते ।
इमं शैलं परिक्रम्य यौ हि पश्याव सम्प्रति ॥ ८३ ॥
इत्युक्त्वा नृपतिं हस्ते गृहीत्वा परिचक्रमे ।
परिक्रम्य गण्डशैलं राज्ञा सह समेत्य तु ॥ ८४ ॥
पुनः प्राह महासेनं मेधावी मुनिनन्दनः ।
राजन् ! दृष्ट एष शैलः पादगव्यूतिमात्रकः ॥ ८५ ॥
दृष्ट एवास्य गर्भे ते लोकः सुविततः स्फुटः ।
एष जाग्रदुत स्वप्नः सत्यो मिथ्यात्मकोऽपि वा ॥ ८६ ॥
शैललोके यद्दिनैकं तदत्र द्वादशाऽर्बुदाः ।
वत्सरास्त्वनुभूतास्ते सत्यासत्ये विवेचय ॥ ८७ ॥
विवेचनं नास्य भवेत् स्वप्नयोर्भिन्नयोरिव ।

वह भावना इसमें अप्रमाणत्व (असत्यत्व) बुद्धि न होनेके कारण पुष्ट हो गयी है। राजन् ! आत्मभाव होनेपर तो यह सचमुच भावना ही जान पड़ेगी ॥ ८२ ॥

इस समय तुमने जो संसार देखा है वह इसमें दृष्टान्त है। [यदि इच्छा हो तो] इस पर्वतकी परिक्रमा करके अब पुनः देख लें" ॥ ८३ ॥

ऐसा कहकर मुनिपुत्रने राजाका हाथ पकड़कर परिक्रमा की और राजाके साथ शिलाकी परिक्रमा कर उस महाबुद्धि मुनिपुत्रने महासेनसे पुनः कहा—॥ ८४-८५ पू० ॥

"राजन् ! देखा, यह पहाड़ी केवल चौथाई गव्यूतिमात्र[1] है, किन्तु इसके भीतर स्पष्ट ही तुमने विस्तृत संसार देखा था। यह जाग्रत् था या स्वप्न, सत्य था या मिथ्या ?" ॥ ८५ उ०-८६ ॥

पहाड़ीके संसारमें जो एक दिन था वही यहाँ तुम्हारे अनुभवमें बारह अरब वर्ष हुए। इन दोनों अनुभवोंमें तुम सत्य और असत्यका निर्णय करो ॥ ८७ ॥

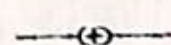
भिन्न-भिन्न दो स्वप्नोंके समान इनका विवेचन नहीं हो सकता।

---

१. गव्यूति दो कोशको कहते हैं। अतः चौथाई गव्यूति 'आधा कोश' हुई।

तस्मादेतद्विद्धि जगद्भावनामात्रसारकम् ॥ ८८ ॥
अभाव्यमानं चैतत्तु लीयेत क्षणमात्रतः ।
तस्माच्छोकं जहि नृपावेक्ष्य स्वाप्नसमं जगत् ॥ ८९ ॥
स्वाप्नचित्रभित्तिभूतं स्वात्मानं संविदात्मकम् ।
दर्पणप्रतिमं मत्वा संस्थितोऽसि यथा तथा ॥ ९० ॥
जाग्रच्चित्रदर्पणं चावेह्यात्मानं चिदात्मकम् ।
परमानन्दितस्वान्तो भव शीघ्रं महीपते ! ॥ ९१ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे शैललोकदर्शनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥



[अर्थात् इनमेंसे एकको सत्य तथा दूसरेको असत्य नहीं कह सकते]। अतः सार यह है कि यह जगत् भावनामात्र है ॥ ८८ ॥

यदि भावना न हो तो यह एक क्षणमें ही लीन हो जाय। इसलिये राजन् ! शोक त्याग दो, इस जगत्को स्वप्नका संसार ही समझो ॥८९॥

इस स्वप्नसंसाररूप चित्रकी भित्ति है अपना ही चित्स्वरूप आत्मा । उसे दर्पणकी तरह इसका आश्रय समझकर तुम चाहे जैसे रहो ॥९०॥

पृथ्वीपते ! अपने चेतन आत्माको जाग्रत् अवस्थारूप चित्र (प्रतिबिम्ब) का दर्पण जानकर तुम अपने अन्तःकरणमें परमानन्दका अनुभव करो' ॥ ९१ ॥

त्रयोदश अध्याय समाप्त ।



चतुर्दशोऽध्यायः

इत्याकर्ण्य मुनिवचो विचार्य शुभया धिया।
जगत्स्थितिं स्वाप्नसमां ज्ञात्वा शोकं जहौ द्रुतम् ॥ १ ॥
धैर्यमालम्ब्य निःशोको भूयोऽपृच्छन्मुनेः सुतम्।
मुनिपुत्र! महाबुद्धे! त्वं पराऽवरदर्शनः ॥ २ ॥
ततोऽप्यविदितं किञ्चिन्मन्ये स्यादिति लेशतः।
पृच्छामि यदहं तन्मे कृपया वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥
भावनाप्रभवं ह्येतत् सर्वं वदसि तत् कथम्।
मया भूयो भाविते च न बहिः सर्वथा भवेत् ॥ ४ ॥
त्वया तु भावनासिद्ध्या शैललोकः प्रकल्पितः।
अथाऽपि देशः कालश्च युगपद् द्विविधः कथम् ॥ ५ ॥

चतुर्दश अध्याय ॥ १४ ॥

संकल्पसिद्धि और उसका साधन

मुनिपुत्रके ये वचन सुनकर महासेनने शुद्ध बुद्धिसे विचार किया और इस जगत्की स्थितिको स्वप्नके समान समझकर तत्काल शोक त्याग दिया ॥ १ ॥

फिर धैर्य धारण कर शोकहीन हो मुनिपुत्रसे पूछा, "परमबुद्धिमान् मुनिपुत्र! आप परावरदर्शी हैं। [आपको इन्द्रियातीत और इन्द्रिय-गोचर दोनों ही प्रकारकी वस्तुओंका ज्ञान है] ॥ २ ॥

तथापि मुझे अभी जो थोड़ी-सी बात अविदित-सी जान पड़ती है उसके विषयमें कुछ प्रश्न करता हूँ, आप उसे कृपापूर्वक बताइये ॥३॥

आप कहते हैं कि यह सब भावनासे ही हुआ है, सो कैसे? क्योंकि मैं जिसकी भावना करता हूँ वह वस्तु तो बाहर बिलकुल दिखायी नहीं देती ॥ ४ ॥

भावनाकी सिद्धि होनेके कारण आपने अवश्य पहाड़ीके भीतर स्थित लोककी कल्पना कर ली है। तथापि यह लोक और शिलालोक साथ होनेपर भी इनमें दो प्रकारके देश और काल क्यों हैं? ॥ ५ ॥

तत्राऽसत्यमन्यतरत् कतमं तन्ममेरय।
इति पृष्टो मुनिसुतः प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ ६ ॥
सङ्कल्पो भावना प्रोक्ता सिद्धाऽसिद्धेति सा द्विधा।
सिद्धिर्विकल्पासम्भेदो(ऽ)विकल्पस्त्वेकनिष्ठितेः ॥ ७ ॥
ब्रह्मभावनया पश्य जातं जगदिदं ननु।
एतत् सर्वैः सत्यरूपं भावितं सुदृढत्वतः ॥ ८ ॥
तथा स्वसङ्कल्पभवे नास्ति कस्याऽपि भावना।
विकल्पसम्भेद एषोऽसिद्धा तस्माद्धिभावना ॥ ९ ॥
भावनायाः सिद्धिरत्र बहुधा संस्थिता भवेत्।
जन्मना मणिना तद्वदौषधेन च योगतः ॥ १० ॥
तपसा मन्त्रसिद्ध्या च वरेण च भवेन्नृपः।
जन्मना ब्रह्मणः सा वै मणिना यक्षरक्षसाम् ॥ ११ ॥
औषधेन तु देवानां योगिनां योगतो भवेत्।
तपसा तापसानां सा मान्त्रिकाणां तु मन्त्रतः ॥ १२ ॥

इनमें एक तो असत्य होगा ही, सो कौन-सा है—यह मुझे बतलाइये।" इस प्रकार पूछे जानेपर मुनिपुत्रने कहना आरम्भ किया—॥ ६ ॥

"भावना संकल्पको ही कहते हैं और वह सिद्ध एवं असिद्ध दो प्रकारकी होती है। जिस भावनामें विकल्प (संशय) का संश्लेष नहीं होता वह सिद्ध होती है, विकल्प न होनेका अर्थ है किसी एकमें लग जाना ॥ ७ ॥

इस संसारको तुम निश्चय ही ब्रह्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ समझो। अत्यन्त दृढ़ताके कारण सबने इसे सत्य मान रखा है ॥ ८ ॥

तथा तुम्हारे अपने संकल्पसे उत्पन्न हुए संसारमें किसी दूसरेकी सत्यत्व भावना नहीं होती। अतः इसमें [यह सत्य नहीं है] ऐसे तुम्हारे ही विकल्पका मेल रहनेके कारण यह भावना सिद्ध नहीं होती ॥ ९ ॥

यहाँ भावनाकी सिद्धि अनेक प्रकारसे होती है। राजन्! यह भावनासिद्धि जन्मसे, मणिसे, ओषधिसे, योगसे, तपसे, मन्त्रसिद्धिसे तथा वरके द्वारा भी हो सकती है ॥ १०-११ पू० ॥

यह जन्मके द्वारा ब्रह्माको, मणिसे यक्ष और राक्षसोंको, ओषधिसे

विश्वकर्ममुखानां च वरप्राप्त्या हि साऽऽभवत् ।
सङ्कल्पिते तथा भाव्यं पूर्वविस्मरणे सति ॥ १३ ॥
स्थिरं तावद्भवत्येव यावत् पूर्वं न हि स्मरेत् ।
एवमेव निर्विकल्पभावना यदि सुस्थिरा ॥ १४ ॥
अनिच्छया विकल्पस्य यावत् सम्भेदनं न हि ।
तावत् सा भावना सिद्धा साधयेद्वै महाफलम् ॥ १५ ॥
सम्भेदात्तु विकल्पेन न सिद्धा तव भावना ।
भावनां साधय क्षिप्रं यदि स्रष्टुं समीहसि ॥ १६ ॥
शृणु राजन् ! देशकालद्वैविध्यं वदतो मम ।
अव्युत्पन्नोऽसि लोकस्य व्यवहारे ह्यतस्तव ॥ १७ ॥
एतच्चित्रं भासते वै शृणु सम्यग् ब्रवीमि ते ।
जगद्भावस्वभावोऽयं विविधत्वेन भासनम् ॥ १८ ॥

देवताओंको, योगसे योगियोंको, तपसे तपस्वियोंको मन्त्रसे मान्त्रिकोंको और वरसे विश्वकर्मा आदिको प्राप्त हुई थी ॥ ११ उ०-१३ पू० ॥

संकल्प ऐसा होना चाहिये कि मैं संकल्प कर रहा हूँ—इस पूर्व-संकल्पकी भी स्मृति न रहे । ऐसा संकल्प तबतक स्थिर रहता है जबतक कि पूर्वसंकल्प न फुरे ॥ १३ उ०-१४ पू० ॥

इस प्रकार ही जब निर्विकल्प भावना अच्छी तरहसे स्थिर हो जाती है और इच्छा न होनेके कारण ही जबतक उससे विकल्पका संसर्ग नहीं होता, तबतक वह सिद्ध भावना बड़ा भारी फल प्रदान करती रहती है ॥ १४ उ०-१५ ॥

विकल्पका सम्पर्क रहनेके कारण ही तुम्हारी भावना सिद्ध नहीं हुई है । अतः यदि तुम सृष्टिरचना करना चाहते हो तो तुरन्त ही अपनी भावनाको सिद्ध करो ॥ १६ ॥

राजन् ! सुनो, अब मैं इस लोक और शैललोकके देश-कालोंकी द्विविधताका रहस्य बतलाता हूँ । क्योंकि तुम लोकव्यवहारको ठीक-ठीक नहीं समझते हो इसीसे तुम्हें यह बात विचित्र जान पड़ती है । मैं तुम्हें यह स्पष्ट करके समझाता हूँ, सुनो । इस तरह अनेक रूपसे भासना तो जगत्का स्वभाव ही है ॥ १७-१८ ॥

एक एव हि सर्वस्य प्रकाशो द्विविधः स्थितः ।
दिवान्धानामन्धकार इतरेषां तु भासकः ॥ १९ ॥
जलं मनुष्यपश्वादेः श्वासस्य प्रतिरोधकम् ।
मत्स्यादीनां बहिः श्वासप्रतिरोधो जले न हि ॥ २० ॥
अग्निर्दहति मर्त्यादींस्तं भक्षयति तित्तिरिः ।
वह्निर्नश्यति तोयेन स जले ज्वलति क्वचित् ॥ २१ ॥
एवं सर्वे जागतास्तु भावा द्वैरूप्यतः स्थिताः ।
एवं सेन्द्रियवृत्तान्तास्त्वन्ये केऽपि निरिन्द्रियाः ॥ २२ ॥
स्वभावतो विरुद्धा वै शतशोऽथ सहस्रशः ।
अत्रोपपत्तिं वक्ष्यामि समाहितमनाः शृणु ॥ २३ ॥
एते हि चाक्षुषा भावाश्चक्षुर्विकृतिमात्रकाः ।
न चाक्षुषादंशतोऽन्यद् दृश्यमस्ति क्वचिद्बहिः ॥ २४ ॥

प्रकाश सबके लिये एक ही होता है, किन्तु वह दो रूपमें जान पड़ता है। उल्लू आदि दिनमें अन्धे रहनेवाले जीवोंको वह अन्धकाररूप है तथा दूसरोंको ज्योतिस्वरूप ॥ १९ ॥

जल मनुष्य और पशु आदिके लिये तो साँस लेनेमें बाधा डालनेवाला है, किन्तु मत्स्यादिका श्वास बाहर निकलनेपर तो घुटता है पर जलमें नहीं ॥ २० ॥

अग्नि मनुष्यादिको तो जला देती है, पर तीतर उसे खा जाता है। तथा आग बाहर होनेपर तो जलसे बुझ जाती है, किन्तु कहीं बड़वानल कुण्डादिमें वह जलमें रहती भी है ॥ २१ ॥

इस प्रकार जगत्के सभी पदार्थ दो रूपोंमें स्थित हैं। इसी प्रकार कुछ पदार्थ तो ऐसे हैं जो इन्द्रियोंसे जाने जा सकते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो इन्द्रियोंके विषय नहीं होते ॥ २२ ॥

इस तरह सैकड़ों-हजारों पदार्थ परस्पर स्वभावसे विरुद्ध हैं। मैं इसकी उपपत्ति बतलाता हूँ, सावधान चित्तसे सुनो ॥ २३ ॥

ये नेत्रोंसे प्रतीत होनेवाले पदार्थ केवल नेत्रके विकार ही हैं। नेत्रोंका दृश्य नेत्रोंके अंशसे भिन्न बाहर और कहीं कुछ भी नहीं होता ॥२४॥

यथा पित्तप्रदुष्टाक्षो बहिः पीतं प्रपश्यति ।
यथा तैमिरिकोऽन्यस्तु पश्यत्येकं द्विधा स्थितम् ॥ २५ ॥
एवं विचित्रदुष्टाक्षाः पश्यन्ति विविधं जगत् ।
अस्ति पूर्वसमुद्रस्य मध्ये करण्डकाह्वयः ॥ २६ ॥
द्वीपस्तत्र जना भावान् रक्तान् पश्यन्ति वै सदा ।
एवं रमणकद्वीपे सदा पश्यन्ति वै जनाः ॥ २७ ॥
व्यत्यस्तमूर्ध्वाधरतो निखिलं भावमण्डलम् ।
एवमन्येषु द्वीपेषु विविधा भावमण्डलम् ॥ २८ ॥
जना नेत्रस्वभावेन पश्यन्ति खलु सर्वदा ।
तत्र तेषामन्यथा तु दृश्यते यदि कुत्रचित् ॥ २९ ॥
नेत्रं सुसाध्यौषधेन पश्यन्ति प्राग्वदेव हि ।
अतस्तु चक्षुषा यावद् दृश्यते जगतीतले ॥ ३० ॥
तावद्धवेच्चाक्षुषोंऽशः पीतवत् पीतचक्षुषः ।

जिस प्रकार पित्तदोषयुक्त नेत्र बाहर पीला ही पीला देखते हैं वैसे ही तिमिर दोषवाले नेत्रोंको एक ही वस्तु दो दिखायी देती है। इसी तरह और भी तरह-तरहके दोषोंसे दूषित नेत्रोंवाले जगत्‌को तरह-तरहका देखते हैं ॥ २५–२६ पू० ॥

पूर्व समुद्रमें करण्डक नामका एक द्वीप है। वहाँ सब पदार्थोंको लोग सर्वदा लाल रंगका ही देखते हैं ॥ २६ उ०–२७ पू० ॥

इसी तरह रमणक द्वीपमें सब लोग सब पदार्थोंको उल्टे-नीचेकी ओर सिर और ऊपरकी ओर पैरवाले देखते हैं ॥ २७ उ०-२८ पू० ॥

इसी प्रकार अन्य द्वीपोंमें भी तरह-तरहके लोग अपने नेत्रोंके स्वभावानुसार ही सर्वदा सब पदार्थोंको देखा करते हैं ॥ २८ उ०–२९ पू० ॥

यहाँ उन्हें यदि कोई वस्तु कहीं दूसरे प्रकारसे दिखायी देती है तो वे ओषधिके द्वारा अपने नेत्रोंको ठीक करके उसे पहले ही की तरह देखने लगते हैं ॥ २९ उ०–३० पू० ॥

अतः संसारमें नेत्रके द्वारा जो कुछ देखा जाता है वह, पीलिया रोग-ग्रस्त नेत्रोंसे दिखायी देनेवाले पीलेपन की तरह, उस नेत्रका ही अंश होता है ॥ ३० उ०–३१ पू० ॥

एवं घ्राणादीन्द्रियाणामंशा गन्धादयोऽपि हि ॥ ३१ ॥
मानसाश्च मनोमात्रास्तथैवाऽखिलजागताः ।
क्रमोऽप्यक्षस्वभावोत्थस्ततः किञ्चिद् बहिर्न हि ॥ ३२ ॥
शृणु राजन् ! बहिरिति यल्लोके भाति केवलम् ।
तदाद्यं सर्वजगतां जगच्चित्रस्थभित्तिवत् ॥ ३३ ॥
तस्य बाह्यस्य वक्तव्यमपादानं ध्रुवं ननु ।
शरीरं स्यादपादानं नेतरद्भवितुं क्षमम् ॥ ३४ ॥
तस्याऽपि बहिराभासादपादानं कथं नु तत् ।
पर्वताद् बहिरित्युक्ते पर्वतो न बहिर्भवेत् ॥ ३५ ॥
यथा घटो भासते हि प्राहुस्तद्वच्छरीरकम् ।
भासकाद् बहिरित्येवं वक्तुं वाऽपि न सम्भवेत् ॥ ३६ ॥
दीपसूर्यालोकबहिर्गतान्तं न हि भासनम् ।

इसी तरह गन्धादि भी घ्राणादिके ही अंश हैं तथा सम्पूर्ण जगत्के जो मानसिक भाव हैं वे सब मनोमात्र हैं। एवं देश-काल और बड़े-छोटे आदिका जो क्रम है वह भी इन्द्रियस्वभावके ही अन्तर्गत हैं, उससे बाहर कुछ नहीं है ॥ ३१ उ०-३२ ॥

राजन् ! सुनो, लोकमें जो 'बाहर' इस तरह भास रहा है वही सम्पूर्ण जगत्का मूल है और इस जगत्-रूप चित्रकी भित्तिके समान है ॥ ३३ ॥

किन्तु 'उस 'बाह्य'का कोई निश्चित अपादान[1] भी तो बनाना चाहिये। [तब यही कहना होगा कि] वह अपादान शरीर ही है, और कोई वस्तु तो हो नहीं सकती ॥ ३४ ॥

किन्तु वह शरीर भी तो बाहर ही भासता है। ऐसी अवस्थामें वह कैसे अपादान हो सकता है ? क्योंकि यदि 'पर्वतसे बाहर' ऐसा कहें तो पर्वत तो बाहर नहीं माना जायगा। पर शरीर तो जिस प्रकार घट भासता है उसी प्रकार भासनेवाला कहा जाता है ॥ ३५-३६ पू० ॥

ऐसा भी कह नहीं सकते कि वह भासकसे बाहर है, क्योंकि जो वस्तु दीपक या सूर्यके प्रकाशसे बाहर होती है वह तो भासित ही नहीं हो

---

१. 'अपादान' उसे कहते हैं जिससे वह बाह्य वस्तु बाहर है।

अतस्तु भासकस्यान्तर्भास्यमस्तीति युज्यते ॥ ३७ ॥
भासकं तु न देहादिर्भास्यत्वात् पर्वतादिवत् ।
न सर्वथा यत्तु भास्यं भासकं तद्धि युज्यते ॥ ३८ ॥
भासकस्याऽपि भास्यत्वे भासकस्याऽनवस्थितिः ।
स्वस्यैव भासकत्वं च भास्यत्वं न हि युज्यते ॥ ३९ ॥
अतस्तु भासकं शुद्धं भासकैकस्वरूपकम् ।
तच्च भारूपमेवेह पूर्णमेकरसात्मकम् ॥ ४० ॥
तेन व्याप्तौ देशकालौ भासनात्तस्य पूर्णता ।
अभारूपस्य चाऽभानाद्भारूपैकरसं हि तत् ॥ ४१ ॥

सकती । अतः यही कहना ठीक है कि भासित होनेवाले पदार्थ भासकके अन्तर्गत ही होते हैं ॥ ३६ उ०–३७ ॥

देहादि भासक हो नहीं सकते, क्योंकि वे पर्वतादिके समान भासित होने वाले हैं । भासक तो वही हो सकता है जो किसीं प्रकार भासित होनेवाला न हो ॥ ३८ ॥

यदि भासक भासित होनेवाला भी हो तो भासकका निर्णय करनेमें अनवस्था[1] दोष उपस्थित होगा । और स्वयं वही अपना भासक तथा अपना ही भास्य हो नहीं सकता ॥ ३९ ॥

अतः जो भासक है वह एकमात्र शुद्ध भासकरूप ही है । वह केवल भारूप (प्रकाशस्वरूप), पूर्ण और एकरसात्मक है ॥ ४० ॥

उस भारूप भासकके द्वारा देश और काल भी व्याप्त हैं, क्योंकि उसीकी सत्तासे वे भासते हैं, इसीसे उसकी पूर्णता[2] सिद्ध होती है ।

---

१. यदि भासक भासित होनेवाला भी माना जाय तो यह प्रश्न होगा कि वह किससे भासित होता है । उसका कोई भासक मानेंगे तो उसे भी भासित होने वाला मानना होगा और फिर उसके विषयमें भी यही प्रश्न होगा । अतः कोई भी चरम भासक सिद्ध नहीं हो सकेगा । इसीको अनवस्था दोष कहते हैं ।

२. भास्य और भासकका प्रकाशसे घटसे पटादिके भेदके समान भेद नहीं समझना चाहिये; प्रत्युत दर्पण और प्रतिबिम्बके समान उन दोनोंका अभेद है । जिस प्रकार दर्पणके बिना प्रतिबिम्बकी सत्ता ही नहीं होती उसी प्रकार चिन्मात्र आत्मासे अतिरिक्त दृश्य प्रपञ्चकी सत्ता ही नहीं है । अतः दृश्यरूपसे भी चिति ही प्रकाशित होती है । यही उसकी पूर्णता है ।

अन्तर्बहिर्वा यत् किञ्चिद्भारूपोदरसंस्थितम् ।
अतस्तन्नापादानं स्यात् शृङ्गस्येव हि पर्वतः ॥ ४२ ॥
एवंविधं हि भारूपं ग्रस्तसर्वप्रपञ्चकम् ।
भाति स्वतन्त्रतः स्वस्मिन् सर्वत्राऽपि च सर्वदा ॥ ४३ ॥
एतत् परा चितिः प्रोक्ता त्रिपुरा परमेश्वरी ।
ब्रह्मेत्याहुर्वेदविदो विष्णुं वैष्णवसत्तमाः ॥ ४४ ॥
शिवं शैवोत्तमाः प्राहुः शक्तिं शक्तिपरायणाः ।
एतद्रूपादृते किञ्चिद् यदि ब्रूयुस्तदल्पकम् ॥ ४५ ॥
तया व्याप्तं तु चिच्छक्त्या दर्पणप्रतिबिम्बवत् ।
तस्य भास्यकृतं भासकत्वं च न स्वतः स्थितम् ॥ ४६ ॥

जो अप्रकाशरूप होगा उसका तो भान ही नहीं हो सकता । इसलिये वह एकरस प्रकाशस्वरूप ही है ॥ ४१ ॥

भीतर और बाहर जो कुछ भी है वह सब उस प्रकाशस्वरूपके पेटमें ही स्थित है। इसलिये जैसे पर्वत अपने शिखरका अपादान नहीं हो सकता, उसी प्रकार वह उसका अपादान नहीं हो सकता । [तात्पर्य यह कि जिस प्रकार शिखरको पर्वतसे पृथक् या पर्वतसे बाहर नहीं कह सकते उसीप्रकार प्रपञ्चको प्रकाशस्वरूप चेतनसे पृथक् या बाहर नहीं कह सकते] ॥ ४२ ॥

इस प्रकारके इस प्रकाशस्वरूपने सम्पूर्ण प्रपञ्चको अपनेमें ग्रस्त किया हुआ है । वह सर्वदा सर्वत्र स्वतन्त्रतासे अपनेमें आप ही प्रकाशमान है ॥ ४३ ॥

यह पराचिति ही भगवती त्रिपुरा कही गयी है । वैदिक विद्वान् इसीको ब्रह्म कहते हैं और वैष्णव विष्णु ॥ ४४ ॥

श्रेष्ठ शैव इसे शिव बताते हैं और शाक्त लोग शक्ति । इस चिद्रूपसे भिन्न जो कुछ कहा जायगा वह अपूर्ण ही होगा ॥ ४५ ॥

प्रतिबिम्ब जिस प्रकार दर्पणसे व्याप्त रहता है उसी प्रकार यह सब उस चेतन शक्तिसे व्याप्त है । इसका जो भासकत्व है वह भास्यके कारण है, स्वतः नहीं ॥ ४६ ॥

भास्यं तु भाननिर्मग्नमादर्शे नगरादिवत् ।
दर्पणे नगरं यद्वद्दर्पणान्नातिरिच्यते ॥ ४७ ॥
तथा चिति जगद्भाति यत्तन्नैवातिरिच्यते ।
दर्पणात्मनि सम्पूर्णे निबिडे चैकरूपिणि ॥ ४८ ॥
यथा हि भिन्नं नगरं सर्वथा नोपपद्यते ।
तथा पूर्णेऽस्तु निबिडे चैकरूपे चिदात्मनि ॥ ४९ ॥
जगत् सर्वात्मना नैव ह्युपपत्तिं समश्नुते ।
आकाशस्त्ववकाशात्मा शून्यरूपत्वहेतुतः ॥ ५० ॥
द्वैतं जगत् प्रसहते सर्वत्रैव हि सर्वदा ।
सती चितिरशून्यात्मरूपिण्येकरसा कथम् ॥ ५१ ॥
द्वितीयलेशं प्रसहेदादर्शात्मवदञ्जसा ।
तस्मादादर्शवत् संवित् स्वातन्त्र्यभरवैभवात् ॥ ५२ ॥
भासयेदद्वितीये स्वे रूपे सर्वं चराचरम् ।

दर्पणमें दीखनेवाले नगर आदि जैसे दर्पणसे अभिन्न होते हैं वैसे ही सम्पूर्ण भास्यवर्ग अपने भासकसे अभिन्न है। दर्पणका नगर जैसे दर्पणसे भिन्न नहीं होता वैसे ही जिस जगत्‌को चिति प्रकाशित करती है वह चितिसे भिन्न नहीं है ॥ ४७-४८ पू० ॥

जिस प्रकार एकरूप घनीभूत एवं सम्पूर्ण (अवकाशहीन) दर्पणसे भिन्न उसमें प्रतिबिम्बित नगरकी सत्ता किसी प्रकार सम्भव नहीं है, उसी प्रकार एकरूप, घनीभूत एवं परिपूर्ण चिदात्मामें जगत्‌की पृथक् सत्ता किसी प्रकार नहीं हो सकती ॥ ४८ उ०-५० पू० ॥

आकाश तो अवकाशरूप और शून्यात्मक है, अतः उसमें तो सर्वदा सर्वत्र ही द्वैतरूप जगत् समा सकता है ॥ ५० उ०-५१ पू० ॥

किन्तु सत्स्वरूपा चिति, जो अशून्यात्मा एकरूपिणी और एकरसा है, स्वभावसे ही दर्पणके समान किस प्रकार लेशमात्र द्वैतको भी सहन कर सकती है ? ॥ ५१ उ०-५२ पू० ॥

अतः वह चित् शक्ति अपने स्वातन्त्र्यरूप सामर्थ्यके प्रभावसे दर्पणके समान अपने ही अद्वितीय स्वरूपमें इस सम्पूर्ण चराचर

निमित्तोपादानहीनं द्वितीयमतिचित्रितम् ॥ ५३ ॥
यथाऽनेकरूपविधे भासमानेऽपि दर्पणे ।
एकत्वं भासते स्पष्टमविशेषाददूषितम् ॥ ५४ ॥
तथा विचित्रे जगति भासमानेऽप्यनेकधा ।
अनुसन्धानसंसिद्धमेकं दोषविवर्ज्जितम् ॥ ५५ ॥
राजन् स्वात्मनि सम्पश्य मनोराज्यदशास्थितिम् ।
अनेकवैचित्र्यवपुरपि चैतन्यमात्रकम् ॥ ५६ ॥
सृष्टौ वा प्रलये वाऽपि निर्विकल्पैव सा चितिः ।
प्रतिबिम्बस्य भावे वाऽप्यभावे वेव दर्पणः ॥ ५७ ॥
एवंविधैकरूपाऽपि चितिः स्वातन्त्र्यहेतुतः ।
स्वान्तर्विभासयेद्बाह्यमादर्शे गगनं यथा ॥ ५८ ॥
एषा हि प्रथमा सृष्टिरविद्या तम उच्यते ।

द्वैतको, जिसका कोई निमित्त या उपादान कारण नहीं है और जो परस्पर अत्यन्त विलक्षण है, भासित कर रही है ॥ ५२ उ०-५३ ॥

जिस प्रकार [प्रतिबिम्बके कारण] अनेकरूप प्रतीत होनेवाले दर्पणमें अपने सामान्यरूपसे अबाधित एकत्व स्पष्ट भासता है, उसी प्रकार [जाग्रदादि अवस्थाओंके कारण] यह विचित्र जगत् अनेकरूपसे भासित होनेपर भी, इसमें किसी प्रकार भी बाधित न होनेवाला एक तत्त्व सिद्ध है ही, क्योंकि इसकी विभिन्न अवस्थाओंका एक ही के द्वारा स्मरण होता है ॥ ५४-५५ ॥

राजन् ! तुम अपनेमें ही अपने मनोराज्यके समयकी स्थितिका विचार करो। वह अनेक प्रकारके रूपोंवाली होनेपर भी वास्तवमें चैतन्यमात्र ही तो होती है ॥ ५६ ॥

यह चिति, सृष्टि हो अथवा प्रलय, निर्विकल्पा ही रहती है, जैसे प्रतिबिम्ब हो अथवा न हो दर्पण शुद्ध ही रहता है ॥ ५७ ॥

इस प्रकार एकरूपा होकर भी यह चिति अपने स्वातन्त्र्यके कारण दर्पणमें आकाशके समान अपने आन्तरिक स्वरूपको ही बाह्यरूपसे भासित करती है ॥ ५८ ॥

यही पहली सृष्टि है, यह अविद्या या तम कही जाती है ।

पूर्णस्यांशेनेव भानं बाह्याभासनमुच्यते ॥ ५९ ॥
पूर्णाहम्भावविच्छेदादनहम्भावरूपता ।
एषैवाऽव्यक्तमित्युक्ता जडशक्तिश्च कथ्यते ॥ ६० ॥
या चितिश्चाऽत्र विच्छिन्नाभासिनी बहिरात्मनः ।
शिवतत्त्वमिति प्रोक्ता शक्तिस्तद्भासनं भवेत् ॥ ६१ ॥
बहीरूपं महाशून्यं कल्पितं यत्तदेव तु ।
अहम्भावाऽऽच्छादनेन सदाशिवमयं स्मृतम् ॥ ६२ ॥
तदेव जाड्यमुख्यत्वे ईश्वराख्यं प्रचक्षते ।

पूर्ण तत्त्वका अंशके समान भान होना ही बाह्याभास कहा जाता है॥५९॥

परिपूर्ण आत्मतत्त्वमें अहंभाव न रहनेपर जो अनहंभावरूपता आती है वही अव्यक्त कही जाती है और उसीको जडशक्ति कहते हैं[1] ॥ ६० ॥

जो चिति इस लोकमें परिच्छिन्न रूपसे अपनेको बाह्यभावसे प्रकट करती है वही 'शिवतत्त्व' कही जाती है। उसका जो बाह्यरूपसे भासना है वही 'शक्ति' है[2] ॥ ६१ ॥

जो महाशून्य बाह्यरूपसे कल्पित हुआ है वही जब 'यह मैं हूँ' इस प्रकार अहंभावसे आच्छादित होता है तो उसे 'सदाशिव' कहा जाता है ॥ ६२ ॥

वही जडताकी मुख्यता होनेपर 'ईश्वर' नामका चौथा तत्त्व कहलाता

---

१. आत्मतत्त्व प्रत्यक्चैतन्य होनेके कारण अहमर्थ ही है। प्रलयादि निर्विकल्प अवस्थामें वह शुद्ध चिद्रूप ही रहता है। अपनी स्वातन्त्र्य शक्तिके द्वारा जब उसकी विकल्पाभिमुख दशा होती है तब उसमें अहंभावका अभाव हो जाता है। यह समष्टि अहंकी अवस्था है। इसीको वेदान्त ग्रन्थोंमें मायाशक्ति कहा है। फिर जब विकल्प दशा प्राप्त होती है तो परिच्छिन्न या व्यष्टि अहंकी स्फूर्ति होती है। इसे अविद्या या जडशक्ति कहते हैं। इस प्रकार भगवान्‌की चिच्छक्ति या उनके स्वरूपभूत स्वातन्त्र्यकी ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। इन तीन श्लोकोंमें क्रमशः इन्हीं तीनों अवस्थाओंका वर्णन है।

२. पूर्णचैतन्य में कोई बाह्याभास नहीं होता। उस अवस्थामें उसे 'परमशिव' कहते हैं। फिर सृष्टि रचना होनेपर विभिन्न परिच्छिन्न विशेषोंमें जो एक सामान्य निर्विकल्प चेतन अनुगत रहता है उसका नाम 'शिवतत्त्व' है और उस निर्विकल्प चेतनका परिच्छिन्न अहंरूपसे भासना 'शक्ति' है। इस प्रकार जो सृष्टिसे पूर्व परमशिव कहा जाता है वही सृष्टिकालमें सामान्य चिति रूपसे 'शिवतत्त्व' और अहंभासरूपसे 'शक्तितत्त्व' या जीव है।

अनयोः संवेदनं तु भेदाऽभेदविमर्शनम् ॥ ६३ ॥
शुद्धविद्येति सम्प्रोक्तमेतावच्छुद्धमुच्यते ।
भेदशक्तेरप्ररूढ्या चाऽभेदात्माऽवभासनात् ॥ ६४ ॥
अथ चित्स्वातन्त्र्यभरात् प्ररूढे भेदभावने ।
जडशक्तिर्धर्मिभावं चितिर्धर्मात्मतां ययौ ॥ ६५ ॥
तदा सा जडशक्तिस्तु मायातत्त्वं प्रचक्षते ।
माया विभेदबुद्धिस्तु भेदप्रचुरभावनात् ॥ ६६ ॥
भेदप्रचुरसंवीता चितिः सङ्कुचितात्मिका ।
पञ्चकञ्चुकसम्व्याप्ता पुरुषत्वं प्रपद्यते ॥ ६७ ॥
कलाविद्यारागकालनियतिः पञ्चकञ्चुकम् ।
कला किञ्चित्कर्त्तृता स्याद्विद्या किञ्चिज्ज्ञता भवेत् ॥ ६८ ॥

है।[1] इन सदाशिव और ईश्वरतत्त्वका 'यह मैं हूँ' और 'मैं यह हूँ' इस प्रकार भेदाभेद भेदरूपसे भासना ही 'शुद्धविद्या' नामका पाँचवाँ तत्त्व कहा जाता है। शिवतत्त्वसे लेकर यहाँतक ये पाँचो तत्त्व भेद-शक्ति (जडता) का विकास न होनेसे तथा अभेदस्वरूप आत्मतत्त्व के ही अवभास होनेके कारण 'शुद्ध' कहे जाते हैं ॥ ६३-६४ ॥

फिर जब चित्स्वातन्त्र्यके माहात्म्यसे भेदभाव बढ़ने लगता है तो जडशक्ति धर्मी भावको प्राप्त हो जाती है और चिति उसका धर्म हो जाती है ॥ ६५ ॥

तब वह जडशक्ति ही मायातत्त्व कही जाती है। माया भेदबुद्धिका नाम है, क्योंकि उसमें भेदप्रधान भावना रहती है ॥ ६६ ॥

भेदभावकी प्रचुरतासे व्याप्त चिति संकुचित हो जाती है तथा ऐसे पाँच कञ्चुक (आवरणों) से व्याप्त होकर वह पुरुषभावको प्राप्त हो जाती है ॥ ६७ ॥

वे पाँच कञ्चुक हैं—कला, विद्या, राग, काल और नियति। कुछ

---

१. 'मैं यह हूँ' इसमें 'मैं' चिद्रूप है और 'यह' महाशून्य जडतत्त्व है। जब 'मैं' की प्रधानता होती है तब 'सदाशिव' और जब 'यह' की प्रधानता होती है तब ईश्वरतत्त्व होता है। 'मैं' और 'यह' में तत्त्वदृष्टिसे अभेद है और उल्लेख की दृष्टिसे भेद है। इस प्रकार इनका भान भेदाभेदरूपसे होता है।

रागस्तृष्णा परिच्छित्तिरायुषा काल उच्यते ।
नियतिः परतन्त्रत्वमेतैर्युक्तस्तु पूरुषः ॥ ६९ ॥
चितिशक्तिमधिष्ठाय विचित्राऽनादिकर्मणाम् ।
जनानां वासनापिण्डः स्थितः प्रकृतिरुच्यते ॥ ७० ॥
फलं तु त्रिविधं यस्मात् कर्मणां सा त्रिरूपिणी ।
अस्या अवस्थाभेदो हि चित्तमित्यभिधीयते ॥ ७१ ॥
सुषुप्तौ प्रकृतिर्ज्ञेया तदन्ते चित्तमुच्यते ।
वासनापिण्डसहिता चितिश्चित्तमुदीरितम् ॥ ७२ ॥
अव्यक्तमेतदेवोक्तं वासनापिण्डभावतः ।
पुरुषाणां विभेदेन चित्तं बहुविधं भवेत् ॥ ७३ ॥
जीवानामविभेदेन सुषुप्तावेकधा हि तत् ।
प्रकृतित्वं समायाति तदन्ते चित्ततामियात् ॥ ७४ ॥

कर सकना कला है, कुछ जान सकना विद्या है, राग तृष्णाको कहते हैं, आयुकी सीमा काल है और परतन्त्रता नियति है। इन पाँच कञ्चुकोंसे जो युक्त है उसे 'पुरुष' कहते हैं ॥ ६८–६९ ॥

जीवोंके शुक्ल-कृष्णादि अनेक प्रकारके अनादिकालीन कर्मोंकी वासनाओंका जो समूह चितिशक्तिको आश्रय करके स्थित है वह 'प्रकृति' कहलाता है ॥ ७० ॥

क्योंकि कर्मोंका फल सुख, दुःख एवं मोह रूप तीन प्रकारका होता है इसलिये वह प्रकृति भी सत्त्व, रज एवं तम तीन रूपोंवाली है। उसीका एक अवस्थाभेद 'चित्त' कहा जाता है ॥ ७१ ॥

सुषुप्तिमें उसे 'प्रकृति' कहते हैं और सुषुप्तिका अन्त होनेपर वही 'चित्त' कहा जाता है। वासनासमूहके सहित जो चिति है वही 'चित्त' कहलाता है ॥ ७२ ॥

वासनासमूहसे युक्त होनेके कारण यह चित्त ही 'अव्यक्त' भी कहा जाता है। पुरुषोंके भेदके अनुसार चित्त भी अनेक प्रकारका होता है ॥ ७३ ॥

किन्तु सुषुप्तिमें पुरुषोंका भेद नहीं रहता, इसलिये उस समय वह एक ही प्रकारका होता है। उस अवस्थामें वह प्रकृतिभावको प्राप्त हो जाता है और उसका अन्त होनेपर चित्तरूपताको ॥ ७४ ॥

एतदेव पुमान् प्रोक्तश्चितिप्राधान्यहेतुना ।
अव्यक्तप्राधान्यतस्तु चित्तप्रकृतितामियात् ॥ ७५ ॥
क्रियाभेदात्तत्रिविधमन्तःकरणमुच्यते ।
अहङ्कारबुद्धिमनोरूपेण नृपसत्तम ! ॥ ७६ ॥
ज्ञानकर्मेन्द्रियाणां तु पञ्चकं स्यात्ततः पृथक् ।
शब्दादिगगनादीनि भूतानि स्थूलसूक्ष्मतः ॥ ७७ ॥
एवं सा परमा संविद् बाह्याभासप्रपूर्वकम् ।
क्रीडां करोति सृष्ट्यादिक्रमेण सर्वसाक्षिणी ॥ ७८ ॥
तत्राऽऽद्यया श्रीत्रिपुराशक्त्या सृष्टौ प्रभावतः ।
हिरण्यगर्भो यो ब्रह्मा तस्यैतद्भावनोत्थितम् ॥ ७९ ॥
जगत्तत्र तु या संवित्त्वमहंरूपभासिनी ।
सा परैव हि चिच्छक्तिस्तद्भेदो न तु विद्यते ॥ ८० ॥

चितिकी प्रधानताके कारण यह चित्त ही 'पुरुष' कहा जाता है तथा अव्यक्त की प्रधानतासे यही चित्त और प्रकृति रूपताको प्राप्त हो जाता है ॥ ७५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! क्रियाभेदसे वह चित्त ही अहंकार, बुद्धि एवं मन तीन प्रकारका अन्तःकरण कहलाता है ॥ ७६ ॥

उस त्रिगुणात्मक अहंकारसे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ[1], पाँच कर्मेन्द्रियाँ[2] तथा शब्दादि[3] सूक्ष्म एवं आकाशादि[4] स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं ॥ ७७ ॥

इस प्रकार वह सर्वसाक्षिणी परमा चिति बाह्याभासपूर्वक सृष्टि आदि क्रमसे क्रीडा कर रही है ॥ ७८ ॥

इस सृष्टिक्रममें सबकी मूलकारण त्रिपुराशक्ति है। उसकी भावना से जो हिरण्यगर्भ ब्रह्मा हुआ है उसीके संकल्पसे यह संसार उत्पन्न हुआ है। इसमें जो 'तू' 'मैं' रूपसे भासनेवाली संवित् है वह परा चत् शक्ति ही है। उसमें कोई भेद नहीं है ॥ ७९-८० ॥

---

१. श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण।
२. वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ।
३. शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध-ये पाँच तन्मात्राएँ सूक्ष्म भूत हैं।
४. आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी-ये पाँच स्थूल भूत हैं।

भेदस्त्वौपाधिको भाति ह्युपाधिर्ब्रह्मभावितः ।
तद्भावनोपसंहारे नास्ति भेदस्य भासनम् ॥ ८१ ॥
चितो या भावना शक्तिर्मायया ते समावृता ।
तदावरणहाने तु तव सा सिद्धिमेष्यति ॥ ८२ ॥
देशः कालोऽथवा किञ्चिद् यथा येन विभावितम् ।
तथा तत्तत्र भासेत दीर्घसूक्ष्मत्वभेदतः ॥ ८३ ॥
मयैकदिनरूपेण भावितं तद्दिनैककम् ।
ब्रह्मणा तावदेवाऽत्र द्वादशाऽर्बुदरूपतः ॥ ८४ ॥
भावितं तेनैवमेतच्चिरशीघ्रत्वभासनम् ।
ब्रह्मणा निर्मिते शैले पादगव्यूतिसम्मिते ॥ ८५ ॥
मयाऽनन्तप्रदेशस्य भावितत्वादनन्तता ।
एवं च द्वयमप्यत्र सत्यं चाऽसत्यमेव च ॥ ८६ ॥

भेद उपाधिके कारण भासता है और उपाधि ब्रह्माकी भावनासे हुई है। अतः उसकी भावनाका अन्त होनेपर भेदका भास भी नहीं होता ॥ ८१ ॥

तुममें जो चितिकी भावनाशक्ति है वह मायासे ढकी हुई है। उस आवरणकी निवृत्ति हो जाने पर वह तुम्हारे लिये सिद्ध (प्रकट) हो जायगी ॥ ८२ ॥

देश, काल अथवा कोई भी वस्तु हो उसके विषयमें जिसकी जैसी भावना है उसीके अनुसार वह उसे अल्प या बृहत् रूपमें भासता है ॥ ८३ ॥

मैंने [अपने संसारमें] एक दिनकी भावनाकी थी, इसलिये वहाँ एक दिन हुआ। किन्तु इतने ही कालकी ब्रह्माने बारह अरब वर्षरूपसे भावना की। इसीसे यह एक ही कालमें दीर्घता और शीघ्रताका भास हुआ ॥ ८४-८५ पू० ॥

ब्रह्माके बनाये चौथाई गव्यूतिमात्र पर्वतमें मैंने अनन्त देशकी भावना की, इसलिये उसमें अनन्तता भासी। इस प्रकार ये अनुभूतिया दोनों प्रकार की हैं—[व्यावहारिक दृष्टिसे] सत्य भी हैं और [पारमार्थिक दृष्टिसे] असत्य भी ॥ ८५ उ०-८६ ॥

त्वमप्यन्तःक्रोशमितं देशं कालं कलात्मकम्।
विभाव्य भूयस्तत्रैव भावयाऽनन्तयोजनम् ॥ ८७ ॥
असङ्ख्यकालमपि च भासेद्यावद्धि भावनम्।
तस्माद्भावनमात्रात्मरूपमेतज्जगद्बहिः ॥ ८८ ॥
चिदात्मरूपे व्यक्ते वै भासते मनुजाऽधिप।
तस्माद्बाह्यात्मकाऽव्यक्तभित्तौ चित्रमयं जगत् ॥ ८९ ॥
अव्यक्तभित्तिमात्रं स्यात् सा स्वभित्तिचिदात्मिका।
अत एव चिराद्रम्यो दूरदेशोऽपि योगिनः ॥ ९० ॥
क्षणेन गत्वा पश्यन्ति करामलकवद् ध्रुवम्।
तस्माद् दूरं समीपं वा चिरं शीघ्रमथाऽपि वा ॥ ९१ ॥
भावनामात्रसंसिद्धं चिद्दर्पणसमाश्रितम्।
निश्चित्यैवं त्यज भ्रान्तिं शुद्धचिद्भावनक्रमात् ॥ ९२ ॥
ततस्त्वमप्यहमिव स्वतन्त्रस्तु भविष्यसि।
इति श्रुत्वा मुनिसुतवचनं मुनिसत्तमः ॥ ९३ ॥

तुम भी यदि अपनी संकल्पभूमिमें पहले एक कोश लम्बे देश और कलामात्र कालकी कल्पना करके फिर उसमें अनन्त योजनके विस्तार और असंख्यकालकी भावना करो तो जैसी तुम्हारी भावना होगी वैसा ही भासेगा। इसलिये राजन्! यह भावनामात्र रूपवाला बाह्य जगत् चिदात्मारूप अव्यक्तपर ही भास रहा है। अतः बाह्यात्मक अव्यक्त भित्तिपर भासनेवाला यह चित्ररूप जगत् अव्यक्तमात्र ही है और वह अव्यक्त भित्ति चित्स्वरूपिणी है ॥ ८७-९० पू० ॥

इसीलिये योगीलोग दीर्घकालमें पहुँचने योग्य दूरवर्ती प्रदेशको भी क्षणमात्रमें जाकर निश्चय ही करामलकवत् देख लेते हैं ॥ ९० उ०-९१ पू० ॥

अतः दूर या समीप तथा चिरकाल या अल्पकाल केवल भावनासे ही सिद्ध हुए हैं और चेतनरूप दर्पणके आश्रित हैं—ऐसा निश्चय करके तुम शुद्ध चेतनकी भावना करते हुए भ्रान्तिको त्याग दो। तब तुम भी मेरी ही तरह स्वतन्त्र हो जाओगे ॥ ९१ उ०-९३ पू० ॥

मुनिश्रेष्ठ परशुरामजी मुनिपुत्रके ये वचन सुनकर महासेनका सारा

परित्यज्याऽखिलभ्रान्तिं ज्ञातज्ञेयः शुभाशयः ।
समाध्यभ्यासयोगेन संसाध्य निजभावनाम् ॥ ९४ ॥
स्वातन्त्र्यमधिगम्याऽथ चिरकालं विहृत्य तु ।
देहाभासमथोन्मूल्य महागगनसंश्रयः ॥ ९५ ॥
निर्वाणं परमं प्राप्तो महासेनोऽपि भार्गव ।
एवं जगत् सत्यभावभावनामात्रहेतुतः ॥ ९६ ॥
भाति सत्याऽऽत्मरूपेण विमृश्यैतद् भृगूद्वह ।
विचारेण शमं यायाद् भ्रान्तिस्ते चित्तसंश्रया ॥ ९७ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे शैललोकाख्यानं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥

भ्रम दूर हो गया । जानने योग्य तत्त्वको जानलेनेसे उसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया । समाधिके अभ्यासद्वारा उसने अपनी भावनाको सिद्ध कर लिया और इस प्रकार स्वातन्त्र्य प्राप्त करके वह चिरकालतक भूतलमें विहार करता रहा । फिर देहानुसन्धानको भी निर्मूलकर उसने निर्विकल्प पराचितिका आश्रयसे परम निर्वाणपद प्राप्त कर लिया ॥ ६३ उ०–६६ पू० ॥

इस प्रकार हे भृगुनन्दन ! केवल सत्यताकी भावनाके कारण ही यह जगत् सत्यरूप भासता है—ऐसा विचार करो । विचारके द्वारा ही तुम्हारे चित्तमें रहनेवाला भ्रम शान्त होगा ॥ ६६ उ०–६७ ॥

चतुर्दश अध्याय समाप्त ।

पञ्चदशोऽध्यायः

इति श्रुत्वा शैललोकाख्यानमत्यद्भुतं तदा ।
भूयोऽत्यन्तं विस्मितोऽभूद्रामो भृगुकुलोद्वहः ॥ १ ॥
विमृश्य गुरुणा प्रोक्तं बुद्ध्या निश्चित्य शुद्धया ।
दत्तात्रेयं पुनर्गत्वा नत्वा प्रपच्छ सादरम् ॥ २ ॥
भगवन् यत्त्वया प्रोक्तमाख्यानैर्विविधैस्तु तत् ।
तत्र सारमियज्ज्ञातं मयात्यन्तं विचारतः ॥ ३ ॥
संवेदनं सत्यमेकं संवेद्यं तत्र कल्पितम् ।
आदर्शनगरप्रख्यं मृषैव प्रविभावितम् ॥ ४ ॥
सा चितिः परमा शक्तिः संविद्रूपा महेश्वरी ।
स्वात्मभित्तौ जगच्चित्रमव्यक्तादिप्रभेदितम् ॥ ५ ॥
भावयेत्स्वातन्त्र्यमात्रान्निरुपादानहेतुकम् ।
एतावत्तु मया ज्ञातं विचार्य सूक्ष्मया धिया ॥ ६ ॥

पञ्चदश अध्याय ॥ १५ ॥

अष्टावक्रका प्रसङ्ग

इस प्रकार शैललोककी अत्यन्त अनोखी गाथा सुनकर भृगुनन्दन श्री परशुरामजीको बड़ा ही अचम्भा हुआ ॥ १ ॥

उन्होंने गुरुदेवके कथनपर शुद्ध बुद्धिसे विचार किया और फिर कुछ निश्चयकर श्रीदत्तात्रेयजीके पास जा उन्हें आदरपूर्वक नमस्कार करके पूछा ॥ २ ॥

"भगवन्! आपने अनेकों आख्यानों द्वारा जो कुछ कहा है उस पर अत्यन्त विचार करके मैंने उसका यह सार समझा है—॥ ३ ॥

'एक ज्ञान ही सत्य है, ज्ञेय (दृश्य) उसमें कल्पित है। दर्पणमें प्रतिबिम्बित नगरके समान उसकी मिथ्या भावना कर ली गयी है ॥४॥

वह ज्ञानस्वरूपा परमाशक्ति चिति साक्षात् महेश्वरी है। वह अपने स्वातन्त्र्यसे बिना किसी उपादानके ही अपने ही स्वरूपभूत भित्तिपर इस अव्यक्तादि भेदों वाले जगच्चित्रकी कल्पना कर लेती है।' मैंने तो सूक्ष्म बुद्धिसे विचार करके इतना ही समझा है ॥ ५-६ ॥

किं त्वेवंविधसंवित्तिर्वेद्यवन्ध्या निरूपिता ।
उपलब्धुमशक्यैव सवेद्यायाः सदा स्थितेः ॥ ७ ॥
वेद्यं विना तु संवित्तेः कथं स्यादुपलम्भनम् ।
उपलम्भं विना तस्याः पुरुषार्थो न विद्यते ॥ ८ ॥
पुरुषार्थोऽपि मोक्षः स्यात्स वा किंविध उच्यते ।
विज्ञाने सति मोक्षः स्यान्मुक्ते व्यवहृतिः कथम् ॥ ९ ॥
ज्ञानिनोऽपि च दृश्यन्ते व्यवहारपरायणाः ।
कथं तेषां हि संवेद्यमुक्तं संवेदनं स्थितम् ॥ १० ॥
स्थितायां शुद्धसंवित्तौ व्यवहारः कथं भवेत् ।
विज्ञानमेकरूपं वै मोक्षोप्येकः फलं भवेत् ॥ ११ ॥
तत्कथं ज्ञानिनां भेदः स्थितौ लोके हि दृश्यते ।
के चित्कर्म प्रकुर्वन्ति काले सच्छास्त्रचोदितम् ॥ १२ ॥
के चित्समाराधयन्ति देवतां भिन्नवर्त्मभिः ।

किन्तु इस प्रकारकी उस चितिको तो वेद्यभावसे शून्य [अर्थात् अज्ञेय] कहा गया है। और यदि उसकी स्थिति सर्वदा उपलब्धिके अयोग्य ही है तो ज्ञानकी विषय न होनेके कारण उस चितिको किसीको उपलब्धि ही कैसे हो सकती है। और उसकी उपलब्धिके बिना पुरुषार्थ-की सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ७-८ ॥

पुरुषार्थ भी यदि मोक्ष है तो वह किस प्रकारका कहा जाता है। यदि ज्ञान होनेपर मोक्ष हो जाता है तो मुक्तिके अनन्तर उस जीव-न्मुक्तका व्यवहार कैसे होता है ? ॥ ९ ॥

ज्ञानियोंको भी व्यवहारमें तत्पर तो देखा ही जाता है। ऐसी अवस्थामें उनका ज्ञान ज्ञेयहीन (निर्विल्प) कैसे रहता है ? ॥ १० ॥

यदि उनका ज्ञान निर्विकल्प ही रहता है तो उनके द्वारा व्यवहार कैसे होता है ? [इसके सिवा एक संशय यह भी है कि] ज्ञान तो सबका एक जैसा ही होता है और उसका फल मोक्ष भी एक ही है। फिर लोकमें ज्ञानियोंकी स्थितिमें भेद क्यों देखा जाता है ॥ ११-१२ पू० ॥

ज्ञानियोंमें कोई तो यथासमय शास्त्रोक्त कार्य करते हैं, कोई भिन्न-

केचित्समाधिपरमाः संहृतेन्द्रियमण्डलाः ॥ १३ ॥
केचित्तपः प्रकुर्वन्ति देहेन्द्रियविशोषणम् ।
केचिच्छिष्यान्बोधयन्ति पृथक्प्रवचनैः स्फुटम् ॥ १४ ॥
केचिद्राज्यं प्रशासन्ति दण्डनीत्युक्तवर्त्मना ।
केचित्प्रवादं कुर्वन्ति सदःसु प्रतिवादिभिः ॥ १५ ॥
केचिच्छास्त्राणि विविधान्यजस्त्रं रचयन्ति वै ।
अन्ये केवलमुग्धत्वमावहन्ति सदैव हि ॥ १६ ॥
केपि लोकविगर्ह्यां तु वृत्तिं नित्यमिहास्थिताः ।
त इमे ज्ञानिन इति प्रथिता भूरिशोचनैः ॥ १७ ॥
तत्कथं साधनफलाभेदेपि स्थितिभिन्नता ।
किमेते समविज्ञानास्तारतम्यमुताश्रिताः ॥ १८ ॥
एतत्सर्वमशेषेण प्रवक्तुं मे समर्हसि ।
शिष्येऽनन्यशरण्ये ते निसर्गसदयं मनः ॥ १९ ॥
इत्यत्रिसूनुराप्रष्टो भार्गवेण प्रसन्नधीः ।

भिन्न प्रणालियोंसे देवताओंकी आराधना करते हैं, कोई इन्द्रियग्रामका संयम करके समाधिमें तत्पर रहते हैं, कोई देह और इन्द्रियोंको सुखानेवाला तप करते हैं, कोई तरह-तरहके वचनों द्वारा स्पष्टतया शिष्योंको उपदेश करते हैं, कोई दण्डनीतिमें बताये हुए नियमोंके अनुसार राज्यशासन करते हैं, कोई सभाओंमें प्रतिवादियोंके साथ वाद-विवाद करते हैं, कोई निरन्तर तरह-तरहके शास्त्रोंकी रचना करते रहते हैं और कोई सर्वदा पागलपनका स्वांग ही बनाये रहते हैं ॥ १२ उ०–१६ ॥

कोई इस लोकमें निन्दनीय वृत्तिका आचरण करते हैं। फिर भी अत्यन्त चिन्तनशील लोग निश्चय करते हैं कि ये सभी ज्ञानी हैं ॥ १७ ॥

तब ऐसा क्यों है कि साधन और फलमें भेद न होनेपर भी इनकी स्थितियोंमें भेद है। इन सबका ज्ञान समान ही होता है अथवा उसमें न्यूनाधिकता रहती है? ॥ १८ ॥

कृपया यह सब रहस्य मुझसे समझाकर कहिये। मुझे किसी अन्यका आश्रय नहीं है। अपने इस शिष्यके प्रति आपका चित्त स्वभावसे ही दयार्द्र है" ॥ १९ ॥

परशुरामजीके इस प्रकार प्रश्न करनेपर श्रीदत्तात्रेयजी बड़े

मत्वा योग्यं प्रश्नजातं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ २० ॥
राम बुद्धिमतां श्रेष्ठ नूनं स्पृशसि तत्पदम् ।
सद्विमर्शपरो यस्त्वमतो ज्ञातुं प्रभावितः ॥ २१ ॥
एतदेव हि तच्छक्तिपातो यत्सद्विमर्शनम् ।
भगवच्छक्तिपातेन विना कः श्रेय आप्नुयात् ॥ २२ ॥
कृत्यमात्मदेवताया जानीह्येतावदेव हि ।
यत्सद्विमर्शनं नित्यं वर्धयेत्सुप्रसादिता ॥ २३ ॥
यत्त्वया विदितं तत्तु तादृक् सत्यं नहीतरत् ।
किन्तु तत्तादृशमपि त्वयोक्तं परचिद्वपुः ॥ २४ ॥
न ते सुविदितं राम यत एवं वदस्यतः ।
ताटस्थ्येन तु यो यावद्वेद तावन्न वेद वै ॥ २५ ॥
यतः सा विदिता सम्यक्ताटस्थ्यमुपशामयेत् ।
तटस्थसंवेदनं तु स्वप्नसंवेदनोपमम् ॥ २६ ॥

प्रसन्न हुए और उनके प्रश्नोंको उचित समझकर उन्होंने कहना आरम्भ किया—॥ २० ॥

"परशुराम ! तुम बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हो । तुमने अवश्य उस पदका स्पर्श प्राप्त किया है । तुम सद्विचारमें तत्पर हो, इसलिये उसे जाननेकी भी योग्यता रखते हो ॥ २१ ॥

यह जो सद्विचार करना है वही भगवान्की अनुग्रहशक्तिको पाना है । भला उनकी अनुग्रहशक्तिको प्राप्त किये बिना कौन उस परमपदको प्राप्त कर सकता है ? ॥ २२ ॥

उस आत्मदेवका कार्य तो केवल इतना ही समझो कि वह प्रसन्न होकर निरन्तर सद्विचारकी वृद्धि करता रहे ॥ २३ ॥

तुमने जो कुछ समझा है वह तो उतना ही है; उससे भिन्न नहीं । किन्तु वह वैसा होनेपर भी तुमने जिस परा चिच्छक्तिकी चर्चा की है वह अभी तुम्हें ठीक-ठीक ज्ञात नहीं है । इसीसे तुम ऐसी शंका करते हो ॥ २४–२५ पू० ॥

जबतक साधक तटस्थरूपसे उसे जानता है तबतक वास्तवमें नहीं जानता; क्योंकि जब उसका ठीक-ठीक ज्ञान हो जाता है तो तटस्थता

यथा स्वप्ननिधिप्राप्तिः पुरुषाणां निरर्थिका ।
तथा तटस्थविज्ञानममुख्यफलदं भवेत् ॥ २७ ॥
अत्र ते कथयिष्यामि प्राग्वृत्तमतिशोभनम् ।
पुरा विदेहेषु कश्चिदासीद्राजा सुधार्मिकः ॥ २८ ॥
वृद्धप्रज्ञो हि जनकः प्रविज्ञातपरावरः ।
स कदाचित्स्वात्मदेवीमीजे क्रतुभिरुत्तमैः ॥ २९ ॥
तत्राजग्मुर्ब्राह्मणाद्या विद्यावन्तस्तपस्विनः ।
कलाभिज्ञा वैदिकाश्च यज्वानश्चापि सत्रिणः ॥ ३० ॥
तत्काल एव वरुणो यष्टुं समुपचक्रमे ।
तेनोपहूता विप्राद्या न ययुस्तत्र भूरिशः ॥ ३१ ॥
जनके ह्यभिसंप्रीताः पूजितास्तेन तर्पिताः ।
अथाजगाम वरुणदायादो बौद्धसम्पदा ॥ ३२ ॥
विप्रवेषधरो नेतुं ब्राह्मणान्कूटवर्त्मना ।

निवृत्त हो जाती है। उसे तटस्थरूपसे जानना तो स्वप्नज्ञानके समान है ॥ २५ उ०–२६ ॥

जिस प्रकार स्वप्नमें खजानेको पा लेना मनुष्यके किसी काम नहीं आता, उसी प्रकार तटस्थ ज्ञान मनुष्यको मोक्षरूप मुख्य फल नहीं दे सकता ॥ २७ ॥

अब मैं तुमसे एक अति सुन्दर प्राचीन वृत्तान्त कहता हूँ। पूर्वकालमें विदेह-राज्यमें जनक नामका कोई धर्मनिष्ठ और बुद्धिमान् राजा था। उसे परमात्माका ज्ञान हो चुका था ॥ २८-२९ पू० ॥

उसने किसी समय उत्तम यज्ञों द्वारा अपने आत्मदेवकी आराधना की। उसके यज्ञोंमें अनेकों विद्वान् और तपस्वी ब्राह्मणादि पधारे। वे अनेकों कलाओंके ज्ञाता, वेदज्ञ, यजनशील और सत्रोंका अनुष्ठान करनेवाले थे ॥ २९ उ०–३० ॥

उसी समय वरुणने भी यज्ञ आरम्भ किया। उसके निमन्त्रित करनेपर भी अनेकों ब्राह्मणादि, जनकसे अधिक प्रेम हो जाने और उससे पूजित तथा तृप्त होनेके कारण वहाँ नहीं गये ॥ ३१–३२ पू० ॥

तब वरुणका पुत्र अपने बुद्धिवैभवसे कूटमार्गद्वारा ब्राह्मणोंको ले जाने-

आसाद्य यज्ञसदनं नृपं संयोज्य चाशिषा ॥ ३३ ॥
आक्षिपत्तत्र सभ्यांस्तु शृण्वताञ्च सभासदाम् ।
राजंस्ते यज्ञसदनमत्यर्न्तं नैव शोभते ॥ ३४ ॥
कमलाकरवत्काककङ्कवृन्दस्य सञ्चयात् ।
सभा विद्वत्समुदयैः शोभिनी शोभतेतराम् ॥ ३५ ॥
शारदं हंससंघातैः सपद्मं तु सरो यथा ।
तदत्र विद्याविशदं न पश्याम्येकमप्यलम् ॥ ३६ ॥
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि नात्र मे संस्थितिर्भवेत् ।
कथं सभामिमां मूर्खप्रचुरां संविशाम्यहम् ॥ ३७ ॥
एवं वारुणिना प्रोक्ताः सभ्याश्चुक्रुधुरञ्जसा ।
किमरे द्विजबन्धो ! त्वमधिक्षिपसि सर्वतः ॥ ३८ ॥
केयं तवेदृशी विद्या यया सर्वे वयं जिताः ।
वृथा कत्थसि दुर्बुद्धे जित्वास्मांस्त्वं गमिष्यसि ॥ ३९ ॥

के लिये ब्राह्मणका वेष धारण कर जनकके यज्ञमें आया ॥३२ उ०-३३ पू०॥

उसने यज्ञशालामें आकर राजाको आशीर्वाद दे सब सभासदोंको सुनाते हुए उनपर आक्षेप किया, "राजन् ! यज्ञमण्डप तो विशेष शोभित नहीं है, जिस प्रकार कौए और कंकसमुदायके इकट्ठे हो जानेसे सरोवरकी शोभा नहीं होती ॥ ३३ उ०-३५ पू० ॥

सुन्दर सभाकी शोभा तो विद्वत्समुदायसे ही होती है, जैसे कमलोंसे युक्त शरत्कालीन सरोवर हंससमूहसे ही सुशोभित होता है ॥ ३५ उ०-३६ पू० ॥

सो, मुझे तो यहाँ एक भी विद्याविभूषित सदस्य दिखायी नहीं देता । तुम्हारा कल्याण हो, मैं तो जाता हूँ । यहाँ मेरा निर्वाह नहीं हो सकता । इस मूर्खबहुल सभामें मैं कैसे बैठ सकता हूँ ?" ॥ ३६ उ०-३७ ॥

वरुणपुत्रके इस प्रकार कहनेपर सभी सभासद स्वभावसे ही क्रोधमें भर गये [और बोले—] "अरे ब्राह्मणाधम ! तू सभीका अपमान कैसे कर रहा है ? ॥ ३८ ॥

तुझमें ऐसी क्या विद्या है जिससे तू हम सभीको जीत सकता है ! मूर्ख ! तू व्यर्थ क्यों बकवाद करता है ? अब हमें जीतकर ही जाना ॥ ३९ ॥

प्रायो भूलोकसंस्थाना विद्वांसः सङ्गताः खलु।
किं त्वं भूलोकमेवाद्य जेतुमिच्छसि दुर्मते॥ ४०॥
ब्रूहि का ते भवेद्विद्या ययाऽस्माञ्जेतुमिच्छसि।
इत्युक्तवत्सु सभ्येषु वारुणिः पुनराह तान्॥ ४१॥
समयेन विजेष्यामि सर्वान् वः क्षणमात्रतः।
अहं जितो भवद्भिस्तु समुद्रे स्यान्निमज्जितः॥ ४२॥
युष्मांस्त्वहं मज्जयामि जितं जितमथापि वा।
उपेत्यैवं तु समयं विवदन्तु मया सह॥ ४३॥
इत्युक्त्वा सम्मतिं चक्रुः सभ्या वादाय तेन तु।
विवादं चक्रुरत्यन्तं तेन वारुणिना द्विजाः॥ ४४॥
जिजेय वारुणिर्विप्रान् वितण्डाजल्पवर्त्मना।
सिन्धौ निमज्जिता विप्राः शतशोऽथ सहस्रशः॥ ४५॥
निमज्जितास्तु ये विप्रा दूतैस्तैर्वारुणैर्हृताः।

यहाँ भूमण्डलके प्रायः सभी विद्वान् एकत्रित हुए हैं। क्यों रे दुर्बुद्धि! क्या तू अकेला ही सारे भूलोकको जीतना चाहता है॥ ४०॥

बोल, तेरी वह क्या विद्या है, जिससे तू हमें जीतनेकी इच्छा करता है।" सभासदोंके ऐसा कहनेपर वरुणपुत्रने उनसे कहा-॥ ४१॥

"मैं एक शर्त करके तुम सभीको क्षणमात्रमें जीत सकता हूँ। यदि तुमलोग मुझे जीत लो तो मुझे समुद्रमें डुबो देना। नहीं तो तुममेंसे जिस-जिसको मैं परास्त करूँगा उसे डुबा दूँगा। इस शर्तको स्वीकार करो, फिर मेरे साथ विवाद कर सकते हो"॥ ४२-४३॥

इस शर्तको स्वीकार कर सभी सभासदोंने उसके साथ विवाद करनेका निर्णय किया। और उन सभी ब्राह्मणोंने उस वरुणपुत्रके साथ खूब शास्त्रार्थ किया॥ ४४॥

वरुणपुत्रने वितण्डा[1] और जल्पके[2] द्वारा सभी ब्राह्मणोंको जीत लिया। और इस प्रकार उसने सैकड़ों-हजारों ब्राह्मणोंको समुद्रमें डुबा दिया॥४५॥

उन डुबाये हुए ब्राह्मणोंको वरुणके दूत ले जाते थे और

---

१. अपना कोई पक्ष स्थापित न करते हुए केवल दूसरेके पक्षका खण्डन करना।
२. अपने पक्षको स्थापित करते हुए दूसरेके पक्षका खण्डन करना।

वारुणं यज्ञमासाद्य मुमुदुः पूजिता भृशम् ॥ ४६ ॥
मज्जितं पितरं श्रुत्वा कहोलं तत्सुतस्ततः ।
अष्टावक्रः समागत्य ज्ञानवैतण्ड्यजल्पकः ॥ ४७ ॥
विजित्य वारुणिं सिन्धावादिदेश निमज्जने ।
अथ प्रकाशमापन्नो वारुणिर्द्विजमुख्यकान् ॥ ४८ ॥
समानयत्स्वलोकस्थानष्टावक्रेण निर्जितः ।
अथागतेषु विप्रेषु कहोलतनयो भृशम् ॥ ४९ ॥
विप्रान् विमोचितान् सर्वानत्यवर्त्तत दर्पतः ।
अष्टावक्रेण विमता विप्राः खेदमुपागताः ॥ ५० ॥
तत्काल आगतां कांचित्तापसीं शरणं ययुः ।
तान्समाश्वास्य विप्रान् सा काषायाम्बरवासिनी ॥ ५१ ॥
जटिला नित्यतरुणी मनोहरवपुर्धरा ।
सभामुपेत्य प्रोवाच नृपेणाभिसुपूजिता ॥ ५२ ॥

वरुणकी यज्ञशालामें पहुँचनेपर खूब सत्कार पाकर वे बड़े प्रसन्न होते थे ॥ ४६ ॥

कहोलका पुत्र अष्टावक्र वितण्डा और जल्पमें बड़ा प्रवीण था। जब उसने अपने पिताको समुद्र में डुबाया सुना तो वहाँ आकर वरुणपुत्रको परास्त किया और उसे समुद्रमें डुबानेका आदेश दिया ॥ ४७--४८ पू० ॥

अष्टावक्रसे परास्त होनेपर वरुणपुत्रने अपनेको प्रकट कर दिया और अपने लोकसे सभी द्विजश्रेष्ठोंको ले आया ॥ ४८ उ०--४९ पू० ॥

सब ब्राह्मणोंके आनेपर कहोलपुत्रको बड़ा अभिमान हुआ और वह वरुणके यहाँसे छुड़ाये हुए ब्राह्मणोंसे अपना बड़प्पन प्रकट करने लगा। इस प्रकार अष्टावक्रसे अपमानित होनेपर ब्राह्मणोंको बड़ा खेद हुआ ॥ ४९ उ०–५० ॥

उसी समय वहाँ एक तपस्विनी आयी। वह काषाय वस्त्र धारण, किये थी, उसके सिरपर जटाएँ थीं, योगाभ्यासके कारण नित्य तरुणावस्थामें रहती थी और अत्यन्त मनोहर शरीरवाली थी। राजाने उसका खूब सत्कार किया। वे सब उसकी शरणमें गये। उनको सान्त्वना दे उसने सभामें आकर कहा--॥ ५१--५२ ॥

कहोलसुत वत्स त्वमत्यन्तं बुद्धिमानसि ।
त्वया विमोचिता विप्रा वादे निर्जित्य वारुणिम् ॥ ५३ ॥
अहं पृच्छामि किंचित्त्वां वद हित्वा सुकैतवम् ।
यत्पदं विदितं सर्वामृतत्वप्रतिपादकम् ॥ ५४ ॥
यत्पदे विदिते सर्वसन्देहः प्रलयं व्रजेत् ।
अविज्ञातं न किञ्चित्स्यादाशास्यं वा न किञ्चन ॥ ५५ ॥
अवेद्यं विदितं तच्चेद्वद मामुप सत्वरम् ।
तापस्यैवं समापृष्टः कहोलतनयोऽब्रवीत् ॥ ५६ ॥
विदितं तत्पदं भूयो वच्मि तापसि संश्रृणु ।
न मे ह्यविदितं लोके ह्यस्ति किञ्चित्कियत्त्विदम् ॥ ५७ ॥
मया शास्त्राणि सर्वाणि भूयः संलुठितानि वै ।
यत्त्वं पृच्छसि तद्वच्मि शृणु तापसि तत्त्वतः ॥ ५८ ॥
तद्धि सर्वजगद्धेतुरादिमध्यान्तवर्जितम् ।
देशकालानवच्छिन्नं शुद्धाखण्डचिदात्मकम् ॥ ५९ ॥

"कहोलपुत्र ! बेटा ! तुम बड़े बुद्धिमान् हो। तुमने वरुणपुत्रको विवादमें जीतकर सभी ब्राह्मणोंको छुड़ा दिया ॥ ५३ ॥

मैं तुमसे कुछ पूछती हूँ। तुम कपट त्यागकर बताओ। जो पद जान लिये जानेपर सब प्रकार की अमरता प्रदान करनेवाला है, जिस पदको जान लेनेपर सारे सन्देह निवृत्त हो जाते हैं, कुछ भी जानना शेष नहीं रहता और न कोई चाहने-योग्य वस्तु ही रहती है, ऐसा जो अवेद्य पद है वह यदि तुम्हें विदित है तो शीघ्र ही मेरे सामने कहो।" तपस्विनीके द्वारा इस प्रकार पूछे जानेपर कहोलपुत्रने कहा-॥५४--५६॥

"उस पदको मैं अच्छी तरह जानता हूँ और तपस्विनीजी ! सुनो, तुम्हें बताता हूँ। संसारमें ऐसी कोई बात नहीं है जो मैं नहीं जानता। तुम्हारे इस प्रश्नमें तो है ही क्या ? ॥ ५७ ॥

मैंने सारे ही शास्त्रोंका अनेकों बार आलोडन किया है। तुम जो कुछ पूछती हो अभी ठीक-ठीक बताये देता हू। तपस्विनीजी ! सुनिये ॥ ५८ ॥

तुम्हारा पूछा पद ही सम्पूर्ण जगत्का मूल कारण है। उसका न

यदुपाश्रित्य वै सर्वं जगदेतद्विराजते ।
आदर्शनगरप्रख्यं तदेतत्परमं पदम् ॥ ६० ॥
प्राप्नोति तद्विदित्वैव निश्चलामृतसंस्थितिम् ।
आदर्शे विदिते यद्वन्न सन्देहः क्वचिद्भवेत् ॥ ६१ ॥
प्रतिबिम्बेष्वनन्तेषु न स्यादविदितं तथा ।
नाशास्यं वा भवेत्किञ्चिदेवं प्रविदिते परे ॥ ६२ ॥
तच्चाप्यवेद्यमन्यस्य वेदकादेरभावतः
एवं तापसि तत्तत्त्वं शास्त्रदृष्ट्या विभावितम् ॥ ६३ ॥
इत्यष्टावक्रवचनं श्रुत्वा सा पुनरब्रवीत् ।
मुनिदारक सूक्तं ते यथावत्सर्वसम्मतम् ॥ ६४ ॥
यदुक्तं वेदकाभावादवेद्यं तदिति त्वया ।
प्राप्नोति तद्विदित्वैव चामृतं पदमव्ययम् ॥ ६५ ॥

आदि है, न मध्य है और न अन्त है। वह देश और कालसे सीमित नहीं है तथा शुद्ध, अखण्ड और चिन्मय है ॥ ५९ ॥

दर्पणमें प्रतिबिम्बित नगरके समान जिसका आश्रय लेकर यह सारा जगत् विद्यमान है वही तुम्हारा पूछा हुआ परम पद है ॥ ६० ॥

जिस प्रकार दर्पणको जान लेनेपर उसमें प्रतिबिम्बित किसी भी वस्तुकी स्थितिके विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता उसी प्रकार उस पदको जान लेनेपर ही साधक अविचल अमरपद प्राप्त कर लेता है ॥६१॥

तथा जैसे [दर्पणका ज्ञान होनेपर] उसके अनन्त प्रतिबिम्बोंमें से कोई भी अज्ञात नहीं रहता उसी प्रकार उस परमपदको जान लेनेपर किसी वस्तुकी आशा (चाह) नहीं रहती ॥ ६२ ॥

अवश्य ही वह किसी अन्यके द्वारा नहीं जाना जा सकता; क्योंकि उसका कोई अन्य ज्ञाता है ही नहीं। तपस्विनीजी ! शास्त्र-दृष्टिसे उस तत्त्वके विषय में ऐसा निर्णय किया गया है" ॥ ६३ ॥

अष्टावक्रका ऐसा कथन सुनकर वह फिर बोली, "मुनिपुत्र ! तुम्हारा कथन बड़ा सुन्दर है। तथा वह यथार्थ और सर्वसम्मत भी है ॥ ६४ ॥

किन्तु तुमने जो कहा कि उसका कोई अन्य ज्ञाता न होनेके कारण वह पद अवेद्य है और [साथ ही यह भी कहा कि] उसे जान

इति पूर्वोत्तरवचो मन्यसे सङ्गतं कथम्।
अवेद्यं चेन्न जानामि नास्तीति च निरूपय॥ ६६॥
अस्ति जानासि यदि तदवेद्यमिति मा वद।
अथैतत्तु त्वया विप्र शास्त्रदृष्ट्या विभावितम्॥ ६७॥
न तत्स्वयं विजानासि तस्मात्तन्नापरोक्षकम्।
दृष्ट्वा प्रत्यक्षतः सर्वं प्रतिबिम्बं यथास्थितम्॥ ६८॥
आदर्शं न विजानासि प्रत्यक्षेणेति तत्कथम्।
एवं वदन् सभामध्ये जनकस्यास्य वै पुरः॥ ६९॥
परिभूतं स्वमात्मानं मन्यसे नो कथं वद।
एवमुक्तस्तया तत्र नैव प्रोवाच किञ्चन॥ ७०॥
विमना इव सञ्जातो लज्जितोऽभवदञ्जसा।
अवाङ्मुखः क्षणं स्थित्वा विचार्यान्तस्तयेरितम्॥ ७१॥
तत्प्रश्नोत्तरमप्राप्य तां प्राह द्विजसत्तमः।

लेनेपर ही साधक अविनाशी अमरपद प्राप्त कर लेता है—सो, इन पहले और पिछले दोनों वाक्योंकी परस्पर संगति कैसे लगेगी ?॥६५-६६ पू०॥

यदि वह अवेद्य है तो कहो कि मैं उसे नहीं जानता अथवा वह पद है ही नहीं। और यदि वह है तथा तुम उसे जानते हो तो ऐसा मत कहो कि वह अवेद्य है॥ ६६ उ०-६७ पू०॥

इसके सिवा ब्राह्मणदेवता! तुमने तो यह बात शास्त्रदृष्टिसे कल्पना कर ली है। स्वयं अनुभव करके तो जानी नहीं। इसलिये उसका तुम्हें अपरोक्ष ज्ञान तो है नहीं॥ ६७ उ०-६८ पू०॥

जब तुम सारे प्रतिबिम्बको ज्योंका त्यों प्रत्यक्ष देखते हो तो [उसके आश्रयभूत] दर्पणको प्रत्यक्ष क्यों नहीं जानते ?॥ ६८ उ०-६९ पू०॥

इस सभामें राजा जनकके सामने ऐसी बात कहते हुए भी, भला बताओ तो, तुम अपनेको परास्त हुआ क्यों नहीं मानते ?"॥ ६९ उ०-७० पू०॥

तपस्विनीके ऐसा कहनेपर अष्टावक्र कुछ भी न बोल सका। वह उदास-सा हो गया और स्वभावसे ही लज्जित भी हुआ॥ ७० उ०-७१ पू०॥

कुछ देर नीचा मुख किये बैठा रहा और उस तपस्विनीके कथन-

तापस्यहं न जानामि त्वत्प्रश्नस्योत्तरं वचः ॥ ७२ ॥
शिष्योऽहं ते वदैतन्मे कथमेतन्निरूपितम् ।
नाहं वदाम्यनृतकं तपोहरमनर्थकम् ॥ ७३ ॥
इत्यापृष्टा तापसी सा प्रसन्ना तस्य सत्यतः ।
अष्टावक्रं प्रत्युवाच शृण्वतां च सभासदाम् ॥ ७४ ॥
वत्सैतदविदित्वैव बहवो मोहमागताः ।
शुष्कतर्कैरविज्ञेयं सर्वत्रैव सुगोपितम् ॥ ७५ ॥
एतावत्सु सभासत्सु न विजानाति कश्चन ।
राजाऽयं वेत्यहं वापि वेद्मि नान्यस्तु कश्चन ॥ ७६ ॥
सर्वत्र हि विवादेषु नैतत्प्रश्नोत्तरं क्वचित् ।
प्रायो विदुर्हि विद्वांसस्तर्कमात्रसमाश्रयाः ॥ ७७ ॥
नैतत्तर्केण सुज्ञेयमपि सूक्ष्मधिया क्वचित् ।

पर ऊहापोह करनेपर भी जब उसके प्रश्नका उत्तर न सूझा तो वह द्विजश्रेष्ठ बोला—॥ ७१ उ०-७२ पू० ॥

तपस्विनीजी ! मैं आपके प्रश्न का उत्तर नहीं जानता। मैं आपका शिष्य हूँ, अब आप ही बताइये कि शास्त्रमें ऐसा विरोधी निरूपण क्यों मिलता है ? मैं तपस्याको क्षीण करनेवाला अनर्थकारी असत्य-भाषण नहीं करता हूँ ॥ ७२ उ०-७३ ॥

इस प्रकार पूछे जानेपर तपस्विनी उसके सत्य-भाषणसे प्रसन्न हो गयी तथा सब सभासदोंके सुनते हुए अष्टावक्रसे कहने लगी ॥ ७४ ॥

"वत्स ! इस रहस्यको न जाननेके कारण ही बहुत लोग मोहमें पड़ जाते हैं ! यह बात कोरे तर्कसे समझमें आनेवाली नहीं है और सभी शास्त्रोंमें बहुत गुप्त है ॥ ७५ ॥

यहाँ जितने सभासद हैं उनमेंसे भी कोई नहीं जानता। या तो यह राजा जानता है या मैं जानती हूं, और कोई नहीं ॥ ७६ ॥

सब जगह वाद-विवादोंमें भी इस प्रकारका प्रश्नोत्तर कहीं नहीं होता। विद्वान् लोग भी प्रायः तर्कमात्रका आश्रय लेकर ही इसे जानते हैं ॥ ७७ ॥

किन्तु सद्गुरुकी सेवा और इष्टदेवकी कृपा आदिके विना केवल

विना सद्गुरुसेवाया देवतानुग्रहादिना ॥ ७८ ॥
मुनिपुत्राभिधास्यामि शृण्वेतत्सूक्ष्मया धिया ।
नेदं श्रुत्वापि विज्ञेयं ताटस्थ्यंप्राणया धिया ॥ ७९ ॥
यावदेतद्धि विज्ञानमनुदाहृतमात्मनि ।
तावत्सहस्रशः प्रोक्तं श्रुतं चापि निरर्थकम् ॥ ८० ॥
यथा कश्चित्स्वकण्ठस्थं मुक्ताहारं प्रमादतः ।
अविज्ञाय हृतं चौरैर्मन्यते मूढभावतः ॥ ८१ ॥
प्रबोधितोपि स पुनः कण्ठेऽस्तीति हि केनचित् ।
स्वात्मानमनुदाहृत्य यावत्कण्ठं न पश्यति ॥ ८२ ॥
तावन्नाप्नोति कण्ठस्थं हारं सूक्ष्मविमर्श्यपि ।
एवं मुनिसुतात्मानं स्वस्वभावं निशम्य च ॥ ८३ ॥
भूयोऽतिनिपुणोऽप्यन्तरात्मानमनुदाहरेत् ।
यावत्तावद्बहिः कुत्र कथं तद्विदितं भवेत् ॥ ८४ ॥

तर्कद्वारा सूक्ष्म बुद्धिसे इसे कभी कोई नहीं जान सकता ॥ ७८ ॥

मुनिपुत्र ! मैं तुम्हें समझाती हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो । तटस्थ प्राण (असमाहित चित्त) रहनेपर तो इसे सुनकर भी कोई जान नहीं सकता ॥ ७९ ॥

जबतक यह विज्ञान अपने अन्तःकरणमें अनुभूत नहीं होता तबतक हजारों बार सुनाना या सुनना भी व्यर्थ ही होता है ॥ ८० ॥

जिस प्रकार कोई पुरुष अपने गलेमें पड़े मोतियोंके हारको भ्रमवश न जानकर अज्ञानवश समझता है कि उसे चोरों ने चुरा लिया ॥ ८१ ॥

उसे कोई ऐसा समझाते भी कि वह तेरे गले में है तो भी जबतक अपने शरीरके अभिमुख होकर वह अपने कण्ठको नहीं देखता तबतक, बड़ा सूक्ष्म विचार करनेवाला होनेपर भी, उसे वह कण्ठस्थ हार नहीं मिलता, इसी प्रकार हे मुनिपुत्र! अपने आत्मा और आत्माके स्वभावके विषयमें बार-बार सुनकर भी जबतक समाहितचित्त होकर आत्माके अभिमुख नहीं होता तबतक अत्यन्त निपुण पुरुष भी उसे बाहर कहाँ और कैसे जान सकता है ? ॥ ८२-८४ ॥

---

१. अर्थात् 'मैं ऐसा हूँ या नहीं' ऐसा निर्णय करनेके लिये अन्तःकरण समाहित होकर अपने स्वरूपके अभिमुख नहीं होता ।

यथा हि दीपो विषयान्प्रकाशयति सर्वतः ।
स्वयं प्रकाश्यतां नैति क्वचिद्दीपस्य कस्यचित् ॥ ८५ ॥
प्रकाशते स्वयं चैवानपेक्ष्यान्यं प्रकाशकम् ।
एवं सूर्योदये सर्वे प्रकाशकतया स्थिताः ॥ ८६ ॥
एवं च किं दीपमुखा अप्रकाश्यत्वहेतुतः ।
न सन्ति न प्रकाशन्ते इति वक्तुं हि युज्यते ॥ ८७ ॥
एवं प्रकाश्यभूतेषु सत्सु दीपमुखेषु वै ।
अत्यन्तमप्रकाश्यं यच्चित्तत्त्वं तत्कुतो वद ॥ ८८ ॥
असंवेद्यं प्रकाशेत चेत्यत्र विचिकित्सितम् ।
तस्मात्त्वमन्तर्मुखया दृष्ट्या सम्यग्विचारय ॥ ८९ ॥
चिच्छक्तिरेषा परमा त्रिपुरा सर्वसंश्रया ।
सर्वावभासिनी कुत्र कदा वा न प्रकाशते ॥ ९० ॥
यदा सा न प्रकाशेत प्रकाशेत तदा नु किम् ।
अप्रकाशेनापि सैव चितिशक्तिः प्रकाशते ॥ ९१ ॥

जिस प्रकार दीपक सब ओर विषयोंको प्रकाशित करता है किन्तु स्वयं कभी किसी अन्य दीपकका प्रकाश्य नहीं होता वह किसी अन्य प्रकाशककी अपेक्षा न रखकर स्वयं ही प्रकाशित होता है, इसी प्रकार सूर्यादि अन्य सब भी प्रकाशक रूपसे ही स्थित हैं ॥ ८५--८६ ॥

ऐसी अवस्थामें अप्रकाश्य होनेके कारण क्या यह कहना ठीक है कि ये दीपक आदि हैं ही नहीं अथवा प्रकाशित ही नहीं होते ॥ ८७ ॥

इस प्रकार जब प्रकाशित होनेवाले दीपक आदिके विषयमें ऐसी बात है, तब जो अत्यन्त अप्रकाश्य [अर्थात् जो कभी किसीका भी विषय नहीं होता] उस चेतन तत्त्वके विषयमें यदि यह कहा जाता है कि 'वह अज्ञेय है और प्रकाशितभी होता है' तो इसमें सन्देह क्यों होता है ? अतः तुम अन्तर्मुख दृष्टिसे खूब विचार करो ॥ ८८--८९ ॥

यह सर्वोत्कृष्टा चित्-शक्ति ही सबकी आश्रयभूता त्रिपुरा देवी है। वही सबको प्रकाशित करनेवाली है। अतः वह कब और कहाँ प्रकाशित नहीं होती ? ॥ ९० ॥

जब वह प्रकाशित नहीं होगी तब और ही क्या प्रकाशित होगा।

अप्रकाशो यथा भाति सा न भायात्कथं वद ।
भाति चेत्सा कथं भाति विमृशैतत्सुसूक्ष्मतः ॥ ९२ ॥
अत्र सर्वे न पश्यन्ति कुशला अपि पण्डिताः ।
अनन्तर्दृष्टयस्तेन मोहिताः संसरन्ति च ॥ ९३ ॥
यावद् दृष्टिः प्रवृत्तिं तु न परित्यज्य तिष्ठति ।
तावदन्तर्दृष्टितापि न स्यादेव कथञ्चन ॥ ९४ ॥
यावन्नान्तर्दृष्टिमेति तावत्तां न प्रपश्यति ।
अन्तर्दृष्टिर्निरीहा स्यात् सेहायाः सा कथं भवेत् ॥ ९५ ॥
परिहृत्य तु तां सम्यक् स्वभावमुपसंश्रय ।
क्षणं स्वभावमाश्रित्य निर्विमर्शस्ततः परम् ॥ ९६ ॥
विमृश्य स्मरणद्वारा ततो वेत्सि समस्तकम् ।
असंवेद्यं सुवेद्यं च तदेवं तत्त्वमुच्यते ॥ ९७ ॥
विदित्वैवमवेद्यं च प्राप्नुयादमृतां स्थितिम् ।

अप्रकाशरूपसे भी तो वह चितिशक्ति ही प्रकाशित होती है ॥ ९१ ॥

भला, जिससे अप्रकाशका भी भान होता है वह स्वयं क्यों भासित नहीं होगी ? और यदि भासती है तो किस प्रकार भासती है—इसपर सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करो ॥ ९२ ॥

अन्तर्दृष्टि हुए बिना इस रहस्यको बड़े निपुण विद्वान् भी नहीं समझ पाते । इसीसे वे मोहग्रस्त रहकर संसार-चक्रमें पड़े रहते हैं ॥९३॥

जबतक दृष्टि बाह्य प्रवृत्तिको त्यागकर स्थिर नहीं होती तबतक किसी प्रकार अन्तर्दृष्टिता भी प्राप्त नहीं हो सकती ॥ ९४ ॥

और जबतक अन्तर्दृष्टि नहीं होती तबतक उसका साक्षात्कार नहीं होता । अन्तर्दृष्टि तो निःसंकल्पता है अतः संकल्पोंके रहते हुए वह कैसे हो सकती है ॥ ९५ ॥

अतः तुम संकल्पोंको अच्छी तरह त्यागकर अपने स्वरूपका आश्रय लो और एक क्षण स्वरूपमें स्थित रहकर फिर निश्चिन्त हो जाओ ॥९६॥

फिर उस अवस्थाके स्मरण द्वारा तुम यह सब कुछ जान जाओगे कि वह तत्त्व अज्ञेय है और सुज्ञेय भी है—ऐसा क्यों कहा जाता है ॥९७॥

इस प्रकार उस अविज्ञेय तत्त्वको जानकर तुम अमृत-स्थिति

एतत्तेऽभिहितं सर्वं मुनिपुत्र नमोऽस्तु ते ॥ ९८ ॥
व्रजाम्यहं त्वया चैतन्न विज्ञातं सकृच्छ्रुतेः ।
बोधयिष्यति त्वामेष राजा बुद्धिमतां वरः ॥ ९९ ॥
पृच्छ भूयः संशयं ते सर्वं छेत्स्यति वै नृपः ।
इत्युक्त्वा पूजिता राज्ञा प्रणता च सभासदैः ॥ १०० ॥
वातनुन्नाभ्रलेखेव क्षणादन्तर्द्धिमाययौ ।
एतत्तेऽभिहितं राम वेदनप्रक्रियात्मनः ॥ १०१ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे अष्टावक्रीये
पञ्चदशोऽध्यायः ।



प्राप्त कर लोगे। यह मैंने तुमसे सारा रहस्य कह दिया। मुनिपुत्र! तुम्हें नमस्कार है ॥ ९८ ॥

अब मैं जाती हूँ। एक बार सुन लेनेसे ही तुम इसे जान नहीं सकोगे। ये बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ महाराज जनक तुम्हें इसका बोध करायेंगे। तुम इनसे पुनः प्रश्न करना। महाराज तुम्हारे सब संशयोंका छेदन कर देंगे" ॥ ९९–१०० पू० ॥

ऐसा कहकर वह उठी। राजाने उसका पूजन किया तथा अन्य सभासदोंने प्रणाम। फिर वह वायुसे विचलित हुई मेघमालाके समान एक क्षणमें ही अन्तर्धान हो गयी। परशुराम! मैंने तुम्हें यह आत्माका ज्ञान होनेकी प्रक्रिया सुना दी ॥ १०० उ०–१०१ ॥

पञ्चदश अध्याय समाप्त ।

षोडशोऽध्यायः

श्रुत्वैतद्भार्गवो रामः प्राप्य विस्मयमान्तरे ।
भूयः पप्रच्छाऽत्रिसूनुमवितृप्तः कथाश्रुतेः ॥ १ ॥
भगवन्नद्भुतं ह्येतच्छ्रुतं वृत्तं पुरातनम् ।
भूयः पप्रच्छ राजानमष्टावक्रो महामुनिः ॥ २ ॥
यद्राजा प्रत्युवाचैनं तच्च मे वद सर्वशः ।
अहोऽद्भुतं समाख्यानं न क्वचिच्च मया श्रुतम् ॥ ३ ॥
विज्ञानवृत्तसर्वस्वं दयया वद मे गुरो ।
इत्येवमनुयुक्तोऽथ दत्तात्रेयो महामुनिः ॥ ४ ॥
भार्गवाय समाचख्यौ कथां परमपावनीम् ।
शृणु भार्गव यत् प्रोक्तं जनकेन महात्मना ॥ ५ ॥
निर्गतायां तु तापस्यामष्टावक्रो मुनेः सुतः ।

षोडश अध्याय ॥ १६ ॥

जनक और अष्टावक्रका संवाद

भृगुनन्दन परशुरामजीको यह सब सुन मन ही मन बड़ा आश्चर्य हुआ। कथाश्रवणसे अभी उनकी तृप्ति नहीं हुई थी; अतः उन्होंने अत्रिनन्दन भगवान् दत्तसे पुनः प्रश्न किया ॥ १ ॥

"भगवन्! यह तो बड़ा ही अद्भुत पुरातन इतिहास सुना। अब आप दयापूर्वक सांगोपांग वह प्रसंग सुनाइये कि महामुनि अष्टावक्रने राजासे फिर क्या प्रश्न किया और राजाने उनसे क्या कहा। अहो! यह आख्यान तो बड़ा ही विचित्र है, ऐसा तो मैंने कहीं नहीं सुना ॥ २-३ ॥

गुरुदेव! यह प्रसंग विज्ञानवार्ताका सारभूत है। दया करके मुझे यह सुनाइये।" इस प्रकार प्रश्न किये जानेपर महामुनि दत्तात्रेयने परशुरामको परम पवित्र कथा सुनाना आरम्भ किया—"भृगुनन्दन! महात्मा जनकने जो कुछ सुनाया वह सुनो ॥ ४-५ ॥

तपस्विनीके चले जानेपर मुनिपुत्र अष्टावक्र अनेकों ब्राह्मणोंको

संवृतो बहुभिर्विप्रैः समेत्य नृपपुङ्गवम् ॥ ६ ॥
पप्रच्छ यत्तु तापस्या सङ्क्षेपोक्तं महार्थकम् ।
तदुच्यमानन्तु मया सम्यक् शृणु समाहितः ॥ ७ ॥
राजन् विदेहाधिपते तापस्योक्तं तु यत्तया ।
तदहं नाऽविदं सम्यक् सङ्क्षेपोक्तत्वहेतुतः ॥ ८ ॥
कथं विद्यामवेद्यं तत् समाचक्ष्व दयानिधे ।
एवं जनक आपृष्टः प्राह तं विस्मयन्निव ॥ ९ ॥
मुनिपुत्र शृणु वचो मया यत् प्रोच्यतेऽधुना ।
नाऽवेद्यं सर्वथा तद्धि वेद्यञ्चापि न सर्वथा ॥ १० ॥
अवेद्यं चेत् सर्वथैव तद् गुरुः किं वदेद्वद ।
गुरुरावेदयेत्तत्त्वमत आदौ गुरुं श्रयेत् ॥ ११ ॥
एतद्वेदनमत्यन्तं सुलभं दुःशकं च हि ।
यः परावृत्तदृष्टिः स्यात्तस्य तत् सुलभं भवेत् ॥ १२ ॥

साथ ले नृपश्रेष्ठ जनकके पास आये और तपस्विनीने जो परम पुरुषार्थ सम्बन्धी प्रसंग संक्षेपसे कहा था उसीके विषयमें प्रश्न किया। वही बात मैं तुम्हें सुनाता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सावधानीसे श्रवण करो ॥ ६-७ ॥

[परशुरामने पूछा—] "विदेहराज महाराज जनक! उस तपस्विनीने जो कुछ कहा था वह बहुत संक्षिप्त होनेके कारण मैं उसे अच्छी तरह समझ नहीं सका। दयानिधे! यह बात समझाकर कहिये कि मैं उस अज्ञेय तत्त्वको कैसे जान सकता हूँ?" इस प्रकार पूछे जानेपर जनकने कुछ विस्मित होकर कहा—॥ ८-९ ॥

"मुनिपुत्र! अब मैं जो बात कहता हूँ सुनो। वह पद न तो सर्वथा अज्ञेय है और न सभी प्रकार ज्ञेय ही है ॥ १० ॥

यदि वह सर्वथा अज्ञेय ही होता तो बताओ गुरुदेव क्या बतलाते। उस तत्त्व का ज्ञान तो गुरुदेव ही कराते हैं, इसलिये सबसे पहले उनकी शरणमें जाना चाहिये ॥ ११ ॥

उस पदको जानना अत्यन्त सरल भी है और कठिन भी। जिसकी दृष्टि लौट गयी है [अर्थात् बाह्य विषयोंसे विमुख होकर अन्तर्मुख हो

यः पराग्दृष्टिरेवास्ते तस्य तच्चातिदुर्लभम्।
अनिरूप्यं केवलं तदवेद्यमपि सर्वथा ॥ १३ ॥
कथञ्चिदन्यरूपेण निरूप्यं वेद्यमप्युत ।
यद्यद् दृश्यं पश्यसीह तेन तद्वेद्यमुच्यते ॥ १४ ॥
यत्तेऽवभासते किञ्चित् तद्विभावय सद्धिया।
भानशक्तिर्भास्यहीना सर्वभानसमाश्रया ॥ १५ ॥
सैव तत्त्वमित्येव विजानीहि मुनेः सुत।
वेद्यमेव न वित्तिः स्यात् स्वतो यन्न प्रकाशते ॥ १६ ॥
वित्तिरन्या यया वेद्यं वेद्यते न स्वतः क्वचित्।
वेद्यं विभिन्नरूपं वै वित्त्यैव वेद्यते खलु ॥ १७ ॥
तत्तद्रूपविभेदेन वित्तिर्नो भिद्यते क्वचित्।

गयी है] उसके लिये वह सरल है। और जो बहिर्मुख दृष्टिवाला ही है उसके लिये उसका ज्ञान अत्यन्त कठिन है ॥ १२–१३ पू० ॥

वास्तवमें तो वह पद एकदम अनिर्वचनीय और सर्वथा अज्ञेय भी है। तथापि किसी प्रकार अन्य रूपसे उसका निरूपण भी किया जाता है और उसे जान भी सकते हैं ॥ १३ उ०–१४ पू० ॥

तुम यहाँ जो-जो दृश्य देखते हो उस घट-पटादि दृश्यमें ज्ञान सामान्यरूपसे वह तत्त्व ही ज्ञेय कहा जाता है।[1] तुम्हें जो कुछ भासता है उसपर शुद्ध बुद्धिसे विचार करो। जो भास्यपदार्थसे रहित भान-शक्ति है वही तो सम्पूर्ण भानकी आश्रय है ॥ १४ उ०–१५ ॥

मुनिपुत्र ! वही वह परमतत्त्व है—ऐसा तुम जानो। जो ज्ञेय पदार्थ है वही ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं प्रकाशित नहीं होता ॥१६॥

ज्ञान, जिससे कि ज्ञेय जाना जाता है ज्ञेयसे भिन्न है। ज्ञेय स्वतः कभी नहीं जाना जाता। वह भिन्न-भिन्न रूपोंवाला होता है और निश्चय ज्ञानके द्वारा ही जाना जाता है ॥ १७ ॥

ज्ञेय पदार्थोंके रूपभेदोंसे ज्ञानमें कभी भेद नहीं होता।

---

१. दृश्यरूपसे जो घट-पट आदिके ज्ञान होते हैं उन घटज्ञान-पटज्ञान आदिमें घट-पटादि तो ज्ञेय हैं और उन सबमें अनुस्यूत जो ज्ञानसामान्य है वह वास्तवमें परमतत्त्व ही है। इसीका श्रुतिने 'प्रतिबोधविदितं मतम्' कहकर निरूपण किया है।

भेदो हि वेद्यधर्मः स्यान्न वित्तिं संस्पृशेत् क्वचित् ॥ १८ ॥
यत आकारभेदो हि वेद्यपक्षे विभासते ।
पश्य वेद्यं पृथक्कृत्यं बुद्ध्याकारविवर्जितम् ॥ १९ ॥
बिम्बानुकृतिरादर्शो यद्वत्तद्वदियं चितिः ।
दृश्याकारधृतेर्नानारूपतां प्रतिपद्यते ॥ २० ॥
एवं वित्तिरियं वेद्या वेद्यव्यावृत्तरूपतः ।
न तु स्वभावतो वेद्या सा वित्तिर्विश्वसंश्रया ॥ २१ ॥
यत एतद्वेदितुः स्याद्रूपं तस्मान्न वेद्यते ।
विमृशाऽष्टावक्र रूपं निजमेवंविधं स्फुटम् ॥ २२ ॥
न त्वं शरीरं प्राणो वा मनो वाऽप्यस्थिरत्वतः ।
शरीरं धातुनिकरं तत्ते रूपं कथं भवेत् ॥ २३ ॥
तच्चाऽन्यविषयाभासे त्वहंधियमतिव्रजेत् ।

भेद तो ज्ञेय-पदार्थोंका ही धर्म है, वह ज्ञानको कभी स्पर्श नहीं करता ॥ १८ ॥

क्योंकि आकारका भेद ज्ञेयपदार्थोंमें ही भासता है। अतः तुम ज्ञेयवर्गको अलग करके शुद्ध बुद्धिके द्वारा आकारशून्य ज्ञानका साक्षात्कार कर लो ॥ १९ ॥

जिस प्रकार दर्पण बिम्बके आकारको [प्रतिबिम्बरूपसे] स्वीकार कर लेता है, उसी प्रकार यह शुद्ध चेतन दृश्यके आकारोंको स्वीकार करके अनेक रूपताको प्राप्त हो जाता है ॥ २० ॥

इस प्रकार ज्ञेयपदार्थोंके निषेधपूर्वक इस चेतनतत्त्वको जाना जा सकता है। सम्पूर्ण जगत्‌का आधारभूत वह चेतन स्वभावसे ज्ञेय नहीं है ॥ २१ ॥

क्योंकि यह चेतन ज्ञाताका स्वरूप है इसलिये यह ज्ञानका विषय नहीं होता। अष्टावक्र! तुम अपने ऐसे स्वरूपका स्पष्टतया विचार करो ॥ २२ ॥

तुम न शरीर हो, न प्राण हो और न मन ही हो, क्योंकि ये सब अस्थिर हैं। शरीर तो वात-पित्त आदि धातुओंका समूह है। वह तुम्हारा स्वरूप कैसे हो सकता है? ॥ २३ ॥

इसके सिवा जब अन्य विषयोंका भास होता है तब देहमें अहं-

एवं प्राणो मनोऽपि स्यादहंबुद्धिव्यतिक्रमात् ॥ २४ ॥
अहंबुद्धिं न व्यतीत्य तिष्ठत्येषा परा चितिः।
तस्माच्चितिः सर्ववेत्री त्वमष्टावक्र तत्त्वतः ॥ २५ ॥
पश्य प्रत्यावृत्तचक्षुः स्वात्मानं केवलं चितिम्।
आदेशकाल एव स्वं पश्यन्त्युत्तमबुद्धयः ॥ २६ ॥

बुद्धि नहीं रहती। इसी प्रकार अहंबुद्धिसे शून्य होनेके कारण प्राण और मन भी आत्मा नहीं हैं[1] ॥ २४ ॥

यह परा चिति किसी भी समय अहंबुद्धिको त्यागकर नहीं रहती।[2] इसलिये यह सभीको जाननेवाली है। अष्टावक्र! तुम दृष्टिको अन्तर्मुख करके तत्त्वतः अपनेको शुद्ध चितिरूप ही देखो। जो उत्तम बुद्धिवाले जिज्ञासु होते हैं वे तो उपदेशके समय ही अपने स्वरूपको लख लेते हैं ॥ २५-२६ ॥

---

१. आत्मा सर्वदा अहं (मैं) रूपसे स्फुरित होता है। शरीरादिके साथ ऐसी बात नहीं है। जब घटादि अन्य पदार्थ भासते हैं तो शरीरादि अहंरूपसे स्फुरित नहीं होते। यदि उस समय भी वे अहंरूपसे भासते तो उनके ज्ञानकालमें हमें ऐसा ज्ञान भी होता कि मैं गोरा-काला या लंबा हूँ। परन्तु ठीक उस समय ऐसा कोई स्फुरण नहीं होता। इसे और स्पष्ट समझनेके लिये यह देखना चाहिये कि जैसे रूपकी प्रतीतिके समय नेत्रोंका और शब्दकी प्रतीतिके समय कानोंका अनुसन्धान नहीं होता इसी प्रकार घटादिका भान होते समय देहादिका अनुसन्धान नहीं होता।

अथवा इसका ऐसा अर्थ भी हो सकता है कि जब इन देहादिका अन्य अर्थात् दृश्यरूपसे भास होता है तब ये 'मैं' रूपसे नहीं भासते अपि तु 'मेरे' रूपसे भासते हैं। अतः अहंबुद्धिसे रहित होनेके कारण ये आत्मा नहीं हैं।

२. यहाँ यह शंका हो सकती है कि सुषुप्ति और समाधिके समय तो चेतनमें अहंबुद्धि नहीं देखी जाती। इसका उत्तर यह है कि अहंबुद्धि सविकल्प और निर्विकल्प रूपसे दो प्रकारकी है। जाग्रत् और स्वप्नमें भेदका भान होनेके कारण वह सविकल्प रहती है तथा सुषुप्ति और समाधिके समय भेदका भान न होनेसे निर्विकल्प। यदि उस समय भी सविकल्प अहंस्फूर्ति होती तो त्रिपुटीका लय नहीं हो सकता था। शास्त्रों में उसे 'पूर्णाहंता' कहा है। यदि उन अवस्थाओंमें अहन्ताका सर्वथा अभाव हो जाता तो 'मैं सुखसे सोया' 'मैं समाधिस्थ रहा' इस प्रकार अहन्ताके उल्लेखपूर्वक स्मृति नहीं हो सकती थी। अतः उन अवस्थाओंमें भी अहन्ता रहती ही है।

चक्षुर्नैतद्गोलकं ते मनश्चक्षुरुदाहृतम् ।
येन पश्यसि स्वप्नेषु तच्चक्षुर्मुख्यमुच्यते ॥ २७ ॥
तस्य प्रत्यावृत्तिरपि प्रोच्यते शृणु भूसुर ।
अप्रत्यावृत्तचक्षुर्वै नैव पश्यति किञ्चन ॥ २८ ॥
दिदृक्षुश्चक्षुषा किञ्चित्तदन्येभ्यो ह्यशेषतः ।
प्रत्यावृत्त्य दृढं तस्मिन्नेव संयोजयेद्यदि ॥ २९ ॥
तदा तद्भासते स्पष्टं नान्यदा तु कदाचन ।
अन्यदा तु पुरोवृत्ति न स्पष्टं भासते क्वचित् ॥ ३० ॥
आभातकल्पमेव स्यादप्रत्यावृत्तचक्षुषा ।
एवं श्रोत्रत्वगादीनां भूदेवाऽवेहि संस्थितिम् ॥ ३१ ॥
मनसाऽप्येवमेव स्यात् सुखदुःखाऽवभासनम् ।
अप्रत्यावृत्तमनसा किंस्विद्वेदितुमर्हति ॥ ३२ ॥

यहाँ 'दृष्टि' इन नेत्रगोलकोंको नहीं अपितु मानस-नेत्रोंके लिये कहा गया है। जिसके द्वारा जीव स्वप्नोंमें देखता है वही नेत्र मुख्य कहा जाता है ॥ २७ ॥

उस मानस-नेत्रको उलटना अर्थात् अन्तर्मुख करना क्या है—यह भी बतलाया जाता है; क्योंकि उसे अन्तर्मुख किये बिना कोई कुछ भी नहीं देख सकता ॥ २८ ॥

जो पुरुष नेत्रद्वारा कुछ देखना चाहता है वह दृष्टिको अन्य सब ओरसे हटाकर यदि उस दर्शनीय वस्तुमें लगा देता है तो वह उसे स्पष्टतया भासने लगती है, अन्यथा नहीं। ऐसा न होनेपर तो कभी-कभी सामने रखी वस्तु भी स्पष्टतया नहीं भासती ॥ २९-३० ॥

जो नेत्र सब ओरसे हटाये हुए नहीं होते उनसे तो वस्तु न देखी हुई-सी ही रहती है। विप्रदेव ! ऐसी ही बात श्रोत्र-त्वक् आदि अन्य इन्द्रियोंके विषयमें भी जाननी चाहिये ॥ ३१ ॥

मनके द्वारा सुख-दुःखके भानमें भी ऐसा ही निश्चय है। जो मन अन्य विषयोंकी ओरसे हटा हुआ नहीं है उससे पुरुष क्या जान सकता है ? ॥ ३२ ॥

तस्मात्तदेकपरता प्रत्यावृत्तिश्च चक्षुषः।
प्रत्यावृत्तं मनः शुद्धं निजरूपावभासकम् ॥ ३३ ॥
अत्र ते सम्प्रवक्ष्यामि शृणु तन्नियताऽन्तरः।
अगोचरश्चेदात्माऽसौ मनसा गोचरोऽपि च ॥ ३४ ॥
अत्र मुह्यन्ति बहवः श्रुत्यागमविवेचकाः।
मनोगोचरता बाह्ये द्विप्रकारेण संस्थिता ॥ ३५ ॥
आद्याऽन्येभ्यः परावृत्तिः परा तत्परता भवेत्।
अन्येभ्यस्तु परावृत्तिमात्रेऽपि मनसः सति ॥ ३६ ॥
न किञ्चिद्भासयेद्वस्तु तटस्थाऽवसरेषु तत्।
तस्मात्तत्परताऽप्यत्र व्यापारो मानसः परः ॥ ३७ ॥
एवं व्यावृत्तभावानां व्यापारद्वयभासनम्।
अव्यावृत्ता चितिर्यस्मात्तस्मान्नात्र तथा भवेत् ॥ ३८ ॥
अन्येभ्यस्तु परावृत्तिमात्रेणैवाऽवभासयेत्।
यथा पुरःस्थितादर्शे किञ्चिद्दर्शनहेतवे ॥ ३९ ॥

अतः एकमात्र अपने लक्ष्यपर दृष्टि रखना ही नेत्रकी अन्तर्मुखता है। अन्तर्मुख शुद्ध चित्त ही अपने वास्तविक स्वरूपका साक्षात्कार करानेवाला है ॥ ३३ ॥

अब मैं तुमसे जो बात कहता हूँ वह संयतचित्त होकर सुनो। यह आत्मा मनका अविषय भी है और उसका विषय भी ॥ ३४ ॥

अनेकों वेद-शास्त्रोंकी आलोचना करनेवाले भी इस विषयमें मोहग्रस्त ही रहते हैं। बाह्य पदार्थोंमें मनकी विषयता दो प्रकारसे है ॥३५॥

प्रथम तो अन्य विषयोंसे मनको मोड़ना और दूसरे उसे अपने लक्ष्यमें जोड़ देना। मनके अन्य पदार्थोंसे केवल हट जानेपर भी तटस्थ अवस्थाओंमें कोई वस्तु नहीं भासती। अतः इसके लिये मनका अपने विषयमें जुड़ना--यह दूसरा व्यापार भी आवश्यक है ॥ ३६–३७ ॥

इस प्रकार जो परिच्छिन्न पदार्थ हैं उनका भान तो उक्त दोनों व्यापारोंसे होता है। किन्तु चिति तो अपरिच्छिन्ना है, इसलिये इसके अनुभवके लिये ऐसा नियम नहीं है ॥ ३८ ॥

यह तो अन्य पदार्थोंसे चित्तके हट जानेपर ही भासित हो जाती है। जिस प्रकार सामने रखे दर्पणमें यदि कोई पदार्थ देखना हो तो

अन्येभ्यस्तु परावृत्तिराभिमुख्यञ्च तस्य वै ।
अपेक्ष्यते दर्पणस्य प्रतिबिम्बदिदृक्षुणा ॥ ४० ॥
गगनं दर्पणे द्रष्टुं यदा समभिवाञ्छति ।
तदाऽन्येभ्यः परावृत्तिमात्रेण हि कृतार्थता ॥ ४१ ॥
गगनं सर्वतो व्याप्तं दर्पणे सर्वदा स्थितम् ।
अव्यावृत्तं किन्तु चाऽन्यैरभिच्छन्नं न भासते ॥ ४२ ॥
सर्वाश्रयं सर्वगतमपि तैश्छादितं यतः ।
अतस्तेभ्यः परावृत्तिमात्रेणैव विभासते ॥ ४३ ॥
एवं चितिः सर्वगता सर्वाश्रयतया स्थिता ।
सर्वकाले समापूर्णा मनसि व्योमवद् द्विज ॥ ४४ ॥
तस्मादन्यपरावृत्तिमात्रं मनस इष्यते ।
पश्य विप्र चितिः कुत्र कदा नास्त्यवभासिनी ॥ ४५ ॥

उसका प्रतिबिम्ब देखनेकी इच्छावाले पुरुषको अन्य पदार्थोंसे दर्पणको हटाने और उस पदार्थके सामने लानेकी आवश्यकता होगी ॥ ३९--४०॥

पर यदि दर्पणमें आकाशको देखनेकी ही इच्छा हो तो अन्य पदार्थोंसे दर्पणको हटा लेनेसे ही अपना काम बन जायगा ॥ ४१ ॥

क्योंकि सर्वत्र व्याप्त आकाश दर्पणमें भी सर्वदा विद्यमान है । किन्तु दूसरे पदार्थोंसे बिना हटाये उनसे आच्छादित रहनेके कारण वह भासता नहीं है ॥ ४२ ॥

वह सबका आश्रय और सर्वगत होनेपर भी क्योंकि उन पदार्थोंसे ढका रहता है, इस लिये उनकी ओरसे हटा लेने मात्रसे ही भासने लगता है ॥ ४३ ॥

इसी प्रकार चिति भी सर्वव्यापिका है और सबकी आश्रयरूपसे स्थित है । ब्रह्मन् ! वह आकाशके समान सभी समय मनमें भरपूर है ॥ ४४ ॥

इसलिये अपने साक्षात्कारके लिये उसे केवल मनको अन्य पदार्थोंसे मोड़ लेनेकी ही अपेक्षा है । विप्रवर ! विचार तो करो कि सर्वप्रकाशिनी चिति कब और कहाँ नहीं है ॥ ४५ ॥

यदा यत्र च सा नास्ति न यदा नापि यत्र च ।
तस्माच्चिदात्मावभासे मनसोऽन्यपराव‍ृतिः ॥ ४६ ॥
केवलाऽपेक्षिता नैवाभिमुख्यं नूतनं क्वचित् ।
आभिमुख्याभावहेतोरेवाऽवेद्यत्वमिष्यते ॥ ४७ ॥
अतएव शुद्धमनोवेद्यं तत्तत्त्वमुच्यते ।
अन्येभ्यस्तु परावृत्तिरेव शुद्धिर्हि मानसी ॥ ४८ ॥
एतदेव परं तत्त्वज्ञाने साधनमुच्यते ।
यावन्न हि मनः शुद्धं तावज्ज्ञानं कथं भवेत् ॥ ४९ ॥
शुद्धे मनसि वै ज्ञानं कथं वा न भवेद् ध्रुवम् ।
उपक्षीणं सर्वमत्र साधनं तस्य शोधने ॥ ५० ॥
कर्म वोपासनं वाऽपि वैराग्यादिकमेव वा ।
मनसः शोधने एव विनियुक्तं न चाऽन्यथा ॥ ५१ ॥
तस्माच्छुद्धेन मनसा भासते तत् परं वपुः ।
इति राज्ञेरितं श्रुत्वा त्वष्टावक्रः पुनर्जगौ ॥ ५२ ॥

वह जब और जहाँ नहीं है तब वे 'जब' और 'जहाँ' भी सिद्ध नहीं हो सकते। अतः चेतन आत्माका भान होनेके लिये केवल अन्य (अनात्म) पदार्थोंके निषेधकी ही अपेक्षा है, किसी नवीन वस्तुको सामने लानेकी नहीं ॥ ४६–४७ पू० ॥

किसी वस्तुकी अभिमुखता न होनेके कारण ही उस परमतत्त्वको अज्ञेय कहा जाता है। इसीसे वह तत्त्व शुद्धचित्तद्वारा ज्ञेय कहा गया है। मनका अन्य वस्तुओंसे विमुख हो जाना ही मनकी शुद्धि है और यही तत्त्वज्ञानकी सबसे प्रधान साधन कही गयी है ॥ ४७ उ०–४९ पू० ॥

जबतक मन शुद्ध न हो तबतक ज्ञान कैसे हो सकता है। और यदि मन शुद्ध है तो निश्चय ज्ञान क्यों नहीं होगा? इस मनकी शुद्धिमें ही अन्य सम्पूर्ण साधनोंकी समाप्ति हो जाती है ॥ ४९ उ०–५० ॥

कर्म, उपासना तथा वैराग्य आदिका भी उपयोग मनको शुद्ध करनेमें ही है, किसी अन्य प्रयोजनमें नहीं ॥ ५१ ॥

अतः वह परमात्मा शुद्ध चित्तसे ही भासता है।" राजाका यह प्रवचन सुनकर अष्टावक्रने पुनः प्रश्न किया—॥ ५२ ॥

राजंस्त्वयोक्तमन्येभ्यः परावृत्तिर्हि मानसी ।
केवला चेत् सा परा चिन्मनसा प्रतिभासते ॥ ५३ ॥
तत् सुषुप्तौ विभासेत परावृत्तं मनस्तदा ।
तत्र किं साधनैरन्यैः सुप्तिमात्रात् कृतार्थता ॥ ५४ ॥
इति पर्यनुयुक्तोऽथ विप्रेणोवाच भूपतिः ।
समाहितः शृणु ब्रह्मन् समाधानं वदामि ते ॥ ५५ ॥
सत्यं सुषुप्तौ मनसः परावृत्तिस्तु सर्वथा ।
लीनं मनस्त्वञ्चाप्यस्य कथं तामवभासयेत् ॥ ५६ ॥
कज्जलेन समालिप्ते दर्पणे गगनं न हि ।
अन्येभ्यस्तु परावृत्तिमात्रेण भासते क्वचित् ॥ ५७ ॥

"राजन्! आपने कहा कि यदि मनकी अन्य पदार्थोंसे केवल विमुखता हो जाय तो उस शुद्ध मनसे परम चेतनका भान हो जाता है ॥ ५३ ॥

तब तो सुषुप्तिमें उसका भान होना चाहिये, क्योंकि उस अवस्थामें मन विषयोंसे विमुख रहता ही है। फिर अन्य साधनोंकी क्या अपेक्षा है; काम तो सुषुप्तिमात्रसे ही बन जायगा" ॥ ५४ ॥

अष्टावक्र मुनिके इस प्रकार शंका करनेपर राजा जनक बोले, "ब्रह्मन्! मैं आपकी शंकाका समाधान करता हूँ, आप एकाग्रचित्त होकर सुनें ॥ ५५ ॥

यह तो ठीक है कि सुषुप्तिमें मनकी विषयोंसे पूर्ण विमुखता हो जाती है, किन्तु उस समय उसकी मनःस्वरूपता[1] भी तो लीन हो जाती है, फिर वह उसे किस प्रकार भासित करेगा ॥ ५६ ॥

यदि दर्पणपर काजल पोत दिया जाय तो अन्य प्रतिविम्बोंकी निवृत्ति हो जानेपर भी उससे आकाशका भान कभी नहीं हो सकता ॥ ५७ ॥

---

१. मन पाँचों भूतोंके सात्त्विक अंशका परिणाम है। इसीलिये उससे विषयोंका ज्ञान होता है, क्योंकि ज्ञान सत्त्वगुणका ही धर्म है। सुषुप्तिमें तमोगुणके द्वारा यह सात्त्विक अंश ढक जाता है। अतः जिस प्रकार अन्धकारसे आच्छादित दर्पणमें कोई प्रतिविम्ब नहीं भासता उसी प्रकार सुषुप्तिमें तमोगुणसे आच्छादित मनमें न तो विषय ही भासते हैं और न शुद्ध चेतन ही।

एवं विलिप्ते मनसि निद्रयाऽन्यपरावृतेः ।
अयोग्यत्वादेव मनो भासयेन्न चितिं क्वचित् ॥ ५८ ॥
अन्यथा लोष्टकुड्यादेरपि भायात् कुतो न सा ।
तस्माद्योग्येन मनसा शुद्धेन भासते हि सा ॥ ५९ ॥
अतः सद्योजातशिशोर्भासते न हि किञ्चन ।
अथाऽपि शृणु वक्ष्यामि मषीलिप्ते हि दर्पणे ॥ ६० ॥
अलक्षितं चाऽपि मषीप्रतिबिम्बनमस्ति वै ।
संश्लेषान्न विलक्ष्येत स्वभावस्याऽनपोहनात् ॥ ६१ ॥
तथा मनः सुषुप्तिस्थं संश्लिष्टं निद्रयैव हि ।
अतोऽन्येभ्यः परावृत्तेरभावाद्भासयेन्न ताम् ॥ ६२ ॥
अतो निद्रास्मृतिरपि व्युत्थितस्य हि सम्भवेत् ।
मूढताऽपि च या तस्यां दशायामनुभूयते ॥ ६३ ॥

इसी प्रकार मनपर निद्राका लेप चढ़ जानेपर अन्य विषयोंसे विमुखता हो जानेपर भी, प्रकाशनकी योग्यता न रहनेके कारण वह चितिको कभी भासित नहीं कर सकता ॥ ५८ ॥

यदि ऐसा न होता तो ढेले और भीत्त आदिको भी चितिका भान क्यों नहीं हो जाता ? अतः योग्य और शुद्ध मनके द्वारा ही उसका भान होता है ॥ ५६ ॥

इसीसे तत्काल उत्पन्न हुए शिशुको भी कुछ नहीं भासता । तथापि एक बात कहता हूं, सुनो, काजल पुते हुए दर्पणमें भी काजलका प्रतिबिम्ब तो रहता ही है, भले ही वह दिखायी न दे, क्योंकि जो जिसका स्वभाव होता है उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती । हाँ, काजलके संसर्गके कारण वह दीख नहीं पड़ता ॥ ६०–६१ ॥

इसी प्रकार सुषुप्तावस्थामें मन निद्रासे ही संश्लिष्ट रहता है । [इसलिये अलक्षितरूपसे उसमें निद्राका प्रतिबिम्ब तो पड़ता ही है ।] अतः निद्रारूप अन्य विषयसे विमुखता न होनेके कारण वह उस चितिको भासित नहीं कर सकता ॥ ६२ ॥

इसीसे जगे हुए व्यक्तिको निद्राकी स्मृति होती है । तथा उस अवस्थामें जिसका अनुभव होता है उस मूढता (अज्ञान) का भी स्मरण होता है ॥ ६३ ॥

तत्ते सम्यक् प्रवक्ष्यामि शृणु सम्यक् समाहितः ।
मनसस्तु द्विधाऽवस्था प्रकाशामर्शभेदतः ॥ ६४ ॥
बहिरर्थेषु विश्रान्तिर्या प्रकाशः स उच्यते ।
यस्तद्विचारः स्वस्मिन् वै स विमर्श उदाहृतः ॥ ६५ ॥
प्रकाशो निर्विकल्पः स्याद्वस्तूनामविभेदतः ।
विमर्शः शब्दसम्भेदाद्विभेदात् सविकल्पकः ॥ ६६ ॥
अयमेवंविध इति शब्दसम्भेदवर्जितः ।
वस्तुदर्शनरूपोऽसौ प्रकाशो निर्विकल्पकः ॥ ६७ ॥
अयमेवंविध इति वस्तुदर्शनमूलकः ।
शब्दसम्भिन्नरूपोऽसौ विचारात्माऽवभासनः ॥ ६८ ॥
आन्तरोऽभिनवोऽन्यो वा विमर्श इति कीर्त्तितः ।

अब मैं तुमसे स्पष्टतया कहता हूँ, खूब सावधान होकर सुनो। मनकी दो प्रकारकी अवस्थाएँ होती हैं—(१) प्रकाशावस्था और (२) विमर्शावस्था ॥ ६४ ॥

मनका बाह्य विषयोंकी ओरसे शान्त (संकल्पहीन) हो जाना प्रकाशावस्था है और उनका अपनेमें संकल्प होना विमर्श कहा गया है ॥ ६५ ॥

प्रकाश अवस्था निर्विकल्प होती है, क्योंकि उस समय वस्तुओंका भेद नहीं रहता। और वस्तुओंका भेद होनेके कारण शब्दोंका भी भेद रहनेके कारण विमर्शावस्था सविकल्प है ॥ ६६ ॥

'यह ऐसा है' इस प्रकारके शब्दभेदसे रहित और वस्तुतत्त्वका दर्शन करानेवाली यह प्रकाशावस्था निर्विकल्प होती है ॥ ६७ ॥

तथा वस्तुतत्त्वका दर्शन जिसके मूलमें रहता है[1] और 'यह ऐसा है' इस प्रकार शब्दभेदमय विचाररूपसे जो भासती है [वह विमर्शावस्था सविकल्प होती है] ॥ ६८ ॥

विमर्श आन्तर होता है। [अर्थात् मनपर जो बाह्यपदार्थोंका

---

१. क्योंकि प्रत्येक पदार्थकी प्रतीतिके मूलमें उसके अधिष्ठानरूपसे परमार्थतत्त्वका स्फुरण होता है; जैसे दर्पणके ज्ञानके विना प्रतिबिम्बका ज्ञान नहीं हो सकता उसी प्रकार सर्वाश्रयभूता चितिके स्फुरणके विना किसी भी वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकता।

तत्र योऽभिनवाऽऽभासः स प्रोक्तोऽनुभवात्मकः ॥ ६९ ॥
अन्यस्मृत्यनुसन्धानात्मकः संस्कारसम्भवः ।
एवं मनो द्विप्रकारशक्तियुक्तं सदा स्थितम् ॥ ७० ॥
निद्रा प्रकाशरूपाऽसौ सुषुप्तिश्चिरसंस्थिता ।
जागरामर्शबहुला चेत्यमूढदशोच्यते ॥ ७१ ॥
प्रकाशनिबिडा यस्मात् सुषुप्तिर्मूढतात्मिका ।
अतएव हि दीपादेः प्रकाशनिबिडत्वतः ॥ ७२ ॥
निश्चिता मूढता सर्वैर्विद्वद्भिरपि सर्वथा ।

प्रतिबिम्ब पड़ता है उसको आश्रय करके होता है ।] यह अभिनव और अन्य रूपसे दो प्रकारका है। इनमें जो अभिनव आभास है वह प्रत्यक्ष अनुभवरूप कहा गया है ॥ ६६ ॥

तथा अन्य जो स्मृति कहा जाता है, अनुसन्धानात्मक होता है। यह पहले अनुभव की हुई वस्तुओंके संस्कारोंसे होता है। इस प्रकार मन सर्वदा इन दो प्रकारकी शक्तियोंसे युक्त रहता है ॥ ७० ॥

यह सुषुप्तावस्था प्रकाश अर्थात् निर्विकल्प ज्ञानरूप होती है तथा चिरकाल तक रहती है तथा जाग्रत् अवस्थामें विमर्श (सविकल्प ज्ञान) की अधिकता रहती है। इसलिये यह अमूढ अवस्था कहलाती है ॥ ७१ ॥

क्योंकि सुषुप्तिमें घनीभूत प्रकाश (निर्विकल्प ज्ञान) रहता है इसलिये वह मूढतारूप है।[1] इसीसे प्रकाशकी प्रचुरता रहनेके कारण सभी विद्वानोंने दीपक आदिकी सर्वथा मूढता ही निश्चय की है। [अर्थात् प्रकाशक होनेपर भी निर्विकल्पताके कारण उन्हें जड ही माना है] ॥ ७२-७३ पू० ॥

---

१. सुषुप्तिमें घनीभूत प्रकाश अर्थात् निर्विकल्प ज्ञान रहता है—इसका तात्पर्य यह है कि उस समय विमर्श या सविकल्प ज्ञान बिलकुल नहीं रहता। इसलिये वह मूढतारूप अर्थात् जड होती है। इसी कारण दीपक तथा घट-पटादि भी जड हैं। परन्तु शुद्ध चिति केवल घनीभूत प्रकाश नहीं है अपि तु स्फुरत्-प्रकाशरूप है। यह स्फुरद्रूपता ही उसकी चितिशक्ति है। इसीको आगमशास्त्रोंमें स्पन्द या पूर्णाहन्ता कहा है। इससे सम्पन्न होनेके कारण ही वह अपने संकल्पमात्रसे दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान अपने ही स्वरूपमें दृश्य प्रपञ्च को आभासित कर देती है।

निद्रा प्रथमजा व्यक्तं महाशून्यमिहोच्यते ॥ ७३ ॥
नास्ति सामान्यपदवी सुषुप्तिस्तत्प्रकाशनम् ।
वस्तुदर्शनकालेऽपि जाग्रत्येवंविधं मनः ॥ ७४ ॥
किन्तूत्तरक्षणोद्भूतविकल्पौघैस्तिरोहितम् ।
सुषुप्तावव्यक्तशक्तिप्रकाशनिविडत्वतः ॥ ७५ ॥
मनो विलीनमित्येवं विविश्चन्ति विवेचकाः ।
वस्तुदर्शनकालेऽपि चैवं लीनं मनो भवेत् ॥ ७६ ॥
शृणु ब्रह्मन् रहस्यं ते वक्ष्यामि स्वानुभूतितः ।
यत्र मुह्यन्ति विद्वांसोऽप्यतिसूक्ष्मविवेचकाः ॥ ७७ ॥
निर्विल्पसमाधिश्च सुषुप्तिर्वस्तुदर्शनम् ।
त्रयमेतच्चैकविधं प्रकाशनिबिडत्वतः ॥ ७८ ॥

सृष्टिके समय जो सबसे पहला स्वरूपका संकोच अवभासित हुआ उसका नाम है निद्रा । उसीको अव्यक्त या महाशून्य भी कहा जाता है। वह 'नास्ति' (कुछ नहीं) इस प्रतीतिकी सामान्य भूमि है और सुषुप्तिमें उसकी उपलब्धि होती है ॥ ७३ उ०–७४ पू० ॥

जाग्रत् अवस्थामें वस्तुओंको देखनेके समय भी मन ऐसा होता है। किन्तु उसके पीछे दूसरे ही क्षणमें अनेकों विकल्पोंके प्रकट हो जानेसे वह अवस्था लुप्त हो जाती है ॥ ७४ उ०–७५ पू० ॥

किन्तु सुषुप्तावस्थामें अव्यक्तशक्तिकी घनीभूत निर्विकल्पताके कारण मन लीन रहता है—ऐसा विचारकोंका निर्णय है। वास्तवमें तो वस्तुको देखनेके समय भी मन इसी प्रकार लीन रहता है[1] ॥ ७५ उ०–७६ ॥

ब्रह्मन् ! सुनो, मैं अपने अनुभवके आधार पर यह रहस्य बताता हूँ । यहाँ अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन करनेवाले विद्वान् भी मूढ बन जाते हैं ॥७७॥

निर्विकल्प समाधि, सुषुप्ति और वस्तुदर्शन प्रकाशनिविडता (घनीभूत निर्विकल्पता) की दृष्टिसे ये तीनों एक-से ही हैं ॥ ७८ ॥

---

१. मनका स्वभाव है कि वह अपने दृश्यके अनुरूप प्रतीत होता है। सुषुप्तिमें दृश्य अव्यक्त होनेके कारण वह अव्यक्त जान पड़ता है और जाग्रत्‌में दृश्य व्यक्त रहनेके कारण व्यक्त। परन्तु जाग्रत्‌में भी जब वह एक विषयको छोड़कर दूसरे विषयपर जाता है तो दोनोंके सन्धिकालमें विषय-हीन रहनेके कारण अव्यक्त ही रहता है। यह काल बहुत अल्प होता है, इसलिये सामान्य लोग इसे ग्रहण नहीं कर पाते।

विमर्शभेदाद्भेदो हि लक्ष्यते व्यावहारिकैः।
तत्र हेतुर्भास्यभेदादित्येव प्रविनिश्चयः॥ ७९॥
समाधौ केवलचितिः सुप्तावव्यक्तमेव च।
दर्शने भिन्नभासो हि भास्यमेवं त्रिधा स्थितम्॥ ८०॥
भास्यभेदेऽपि भासस्तु केवलं निर्विकल्पकः।
अतः प्रकाशनिबिड इत्येव संप्रचक्षते॥ ८१॥
समाधिश्च सुषुप्तिश्च चिरकालभवत्वतः।
अनन्तरं स्पष्टतया सर्वैरपि विमृश्यते॥ ८२॥
क्षणिकत्वाद्दर्शनं तु स्पष्टं न हि विमृश्यते।
एवं समाधिः सुप्तिश्च क्षणिका न विमृश्यते॥ ८३॥
सुषुप्तिः क्षणिका तद्वत् समाधिरपि विद्यते।
सुषुप्तिर्लक्ष्यते सूक्ष्मदृग्भिः परिचयात् खलु॥ ८४॥

किन्तु व्यावहारिक लोगोंको विमर्शका भेद होनेके कारण इनमें भेद जान पड़ता है। इसमें निश्चित बात यह है कि इनका भेद भास्यके भेदके कारण है [स्वतः नहीं]॥ ७९॥

समाधिमें केवल शुद्ध चिति रहती है, सुषुप्तिमें अव्यक्त भी है और वस्तुदर्शनमें विभिन्न अवभास रहते हैं। इस प्रकार इन अवस्थाओंमें तीन प्रकारके भास्य हैं॥ ८०॥

परन्तु भास्योंका भेद होनेपर भी भास (दृष्टि) तो केवल निर्विकल्प ही रहता है। इसीसे उसे तीनों अवस्थाओंमें प्रकाशनिबिड ही कहा जाता है॥ ८१॥

समाधि और सुषुप्ति दीर्घकालतक रहती हैं। इसलिये पीछे सभी लोग उनकी स्पष्ट अनुभूति स्वीकार करते हैं॥ ८२॥

किन्तु पदार्थदर्शन (पदार्थदर्शनकी सन्धियोंमें रहनेवाली निर्विकल्पता) क्षणिक है; इसलिये उसका स्पष्ट परिचय नहीं होता। इसी प्रकार यदि समाधि और सुषुप्ति अवस्थाएँ भी क्षणिक होतीं तो उनका भी परिचय नहीं हो सकता था॥ ८३॥

व्यवहारमें कभी क्षणिक सुषुप्ति और समाधि भी हो जाती हैं। किन्तु दीर्घ सुषुप्तिका परिचय रहनेके कारण सूक्ष्मदर्शी क्षणिक

समाधिस्त्वपरिचयात् सूक्ष्मो न हि विमृश्यते ।
सर्वेषां प्राणिनां ब्रह्मन् व्यवहारदशास्वपि ॥ ८५ ॥
सूक्ष्माः समाधयः सन्ति चाव्युत्पत्त्या विभान्ति नो ।
जाग्रत्यविमृशिर्या स्यात् स समाधिरुदीरितः ॥ ८६ ॥
विमर्शाभावमात्रन्तु समाधिरभिधीयते ।
सुषुप्तौ दर्शने चापि समाधित्वमतः स्थितम् ॥ ८७ ॥
किन्तु मुख्यसमाधित्वमनयोर्न हि विद्यते ।
भेदामर्शनसंस्कारगर्भितत्वान्न मुख्यता ॥ ८८ ॥
दर्शनं जाग्रति भवेदविमर्शनरूपकम् ।
तथापि ते प्रवक्ष्यामि मुनिपुत्रादराच्छृणु ॥ ८९ ॥
अव्यक्तं यत् प्रथमजं नास्तिसामान्यकं हि तत् ।
नास्तीत्येव हि तद्भानमत्यन्ताभावरूपकम् ॥ ९० ॥

सुषुप्तिको तो पहचान लेते हैं। पर समाधिका परिचय है नहीं, इसलिये वस्तुदर्शनके समय जो सूक्ष्म समाधि होती है वह पहचानी नहीं जाती ॥ ८४–८५ पू० ॥

ब्रह्मन् ! व्यवहारके समय भी सभी प्राणियोंको सूक्ष्म समाधियाँ हुआ करती हैं; किन्तु परिचय न होनेके कारण वह जान नहीं पड़तीं ॥ ८५ उ०–८६ पू० ॥

जाग्रत् अवस्थामें जो विमर्श (संकल्प) शून्य स्थिति हो जाती है वह समाधि ही कही गयी है। विमर्शका अभाव ही तो समाधि कहलाता है ॥ ८६ उ०–८७ पू० ॥

अतः सुषुप्ति और वस्तुदर्शनके समय भी समाधि तो रहती ही है। किन्तु ये मुख्य समाधि नहीं मानी जातीं। इन अवस्थाओंमें भेदका उल्लेख करानेवाले संस्कार छिपे रहते हैं, इसलिये इन्हें मुख्य समाधि नहीं माना जाता ॥ ८७ उ०–८८ ॥

जाग्रत् अवस्थामें जो पदार्थ-दर्शन है वह भी अविमर्शरूप ही है। तथापि मैं इसका स्पष्टतया वर्णन करता हूँ। मुनिपुत्र ! आदरपूर्वक सुनो ॥ ८९ ॥

सबसे पहले उत्पन्न हुआ जो अव्यक्त है वह नास्ति-सामान्यरूप है। 'कुछ भी नहीं है' इस प्रकार उसका भान अत्यन्त अभावरूप ही है ॥९०॥

एषा सुषुप्तिरित्युक्ता जडशक्तिर्भवेच्चितः ।
दर्शने भासमानं च नास्त्याभासपदं यतः ॥ ९१ ॥
अतः सुषुप्तिरेव स्याज्जडदर्शनसञ्ज्ञता ।
समाधौ भासमाना या चितिः सा ब्रह्मरूपिणी ॥ ९२ ॥
भक्षिणी कालदेशानां नास्त्याभासविनाशिनी ।
सर्वथाऽस्तिमयी देवी सुषुप्तिः सा कथं भवेत् ॥ ९३ ॥
तस्मात् सुषुप्तिमात्रेण न भवेद्धि कृतार्थता ।
बोधयामास जनक इत्यष्टावक्रमुक्तिभिः ॥ ९४ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे अष्टावक्रीये
षोडशोऽध्यायः ।



इसीको सुषुप्ति कहा गया है । यह चेतनकी जडशक्ति है । क्योंकि देखनेके समय यह नास्ति (अभाव) प्रतीतिकी भूमि है, इसलिये सुषुप्ति ही जडता-ज्ञानयुक्त मानी गयी है ॥ ६१--६२ पू० ॥

किन्तु समाधिमें भासनेवाली जो चिति है वह ब्रह्मरूपिणी है । वह देश-कालकी मर्यादाको भक्षण कर जानेवाली और नास्ति-प्रतीतिका भी नाश कर देनेवाली है । अतः वह पूर्णतया सत्तास्वरूपिणी देवी सुषुप्ति कैसे हो सकती है ? ॥ ६२ उ०--६३ ॥

इसलिये भला सुषुप्तिमात्रसे कृतकृत्यता कैसे प्राप्त हो सकती है ?" इस प्रकार अनेकों प्रकारकी युक्तियोंसे राजा जनकने अष्टावक्रको बोध कराया ॥ ६४ ॥

षोडश अध्याय समाप्त ।



सप्तदशोऽध्यायः

श्रुत्वैवं जनकेनोक्तमष्टावक्रः पुनर्नृपम् ।
पप्रच्छ यत्तद्वदामि शृणु भार्गव यत्नतः ॥ १ ॥
राजन् यदुक्तं भवता व्यवहारदशास्वपि ।
सूक्ष्माः समाधयः सन्तीत्येत्रं तन्त्रे वद स्फुटम् ॥ २ ॥
दशासु कासु ते सन्ति निर्विकल्पचिदात्मकाः ।
एवं तेनाऽनुयुक्तोऽथ प्राह राजा महाशयः ॥ ३ ॥
शृणु ब्रह्मन् प्रवक्ष्यामि व्यवहारे समाधयः ।
प्रियया सम्परिष्वक्तो नव्यया प्रथमं यदा ॥ ४ ॥
तदा न वेद बाह्यं वाप्यान्तरं वा क्षणं नरः ।
तिष्ठेन्न निद्रयाऽऽक्रान्तः स समाधिरुदीरितः ॥ ५ ॥

सप्तदश अध्याय ॥ १७ ॥

जनक द्वारा साधनक्रम और स्वानुभवका निरूपण

परशुरामजी ! जनकका यह कथन सुनकर अष्टावक्रजीने राजासे पुनः जो प्रश्न किया वह बताता हूँ, सावधान होकर सुनो ॥ १ ॥

[अष्टावक्रजीने पूछा] "राजन् ! आपने जो कहा कि व्यवहारके समय भी सूक्ष्म समाधियाँ हुआ करती हैं, सो यह बात आप मुझसे स्पष्ट करके कहिये ॥ २ ॥

वे निर्विकल्प चित्स्वरूपिणी समाधियाँ किन-किन स्थितियोंमें हुआ करती हैं ?" अष्टावक्रके इस प्रकार प्रश्न करनेपर उदारचेता महाराज जनक कहने लगे—॥ ३ ॥

"ब्रह्मन् ! सुनिये, मैं व्यवहारमें होनेवाली समाधियाँ बतलाता हूँ । पुरुष जिस समय नवीन प्रियतमासे पहली बार गाढ़ आलिंगन प्राप्त करता है उस समय एक क्षणके लिये उसे बाहर या भीतरकी कुछ भी सुधि नहीं रहती और न निद्राके ही वशीभूत होता है । अतः वह समाधि ही कही जाती है ॥ ४-५ ॥

यच्चिराद्वाञ्छितं किञ्चिदलभ्यत्वेन निश्चितम्।
अकस्मात्तस्य संप्राप्तिर्यदा भवति वै मुने॥ ६॥
तदा न वेद बाह्यं वाप्यान्तरं वा क्षणं नरः।
तिष्ठेन्न निद्रयाक्रान्तः स समाधिरुदीरितः॥ ७॥
अतर्कितं व्रजन् क्वापि निर्भयो हृष्टमानसः।
अकस्माद्यदि सम्पश्येद् व्याघ्रादिं मृत्युसम्मितम्॥ ८॥
तदा न वेद बाह्यं वाप्यान्तरं वा क्षणं नरः।
तिष्ठेन्न निद्रयाक्रान्तः स समाधिरुदीरितः॥ ९॥
अतिप्रियं स्वपुत्रादि विज्ञं च गृहकर्मणि।
अरोगिणं यदाऽकस्मात् संशृणोति मृतं किल॥ १०॥
तदा न वेद बाह्यं वाप्यान्तरं वा क्षणं नरः।
तिष्ठेन्न निद्रयाक्रान्तः स समाधिरुदीरितः॥ ११॥
अथान्यथापि वक्ष्यामि समाधेः सम्भवं शृणु।

जिस वस्तुकी चिरकालसे लालसा रही हो और उसे अलभ्य समझ बैठे हों, हे मुने! उसकी जिस समय अकस्मात् प्राप्ति हो जाती है उस समय भी मनुष्यको कुछ देरतक बाहर या भीतरकी सुधि नहीं रहती और न वह निद्राके ही वशीभूत होता है। वह भी समाधि ही कही गयी है॥ ६-७॥

जिस समय मनसे किसी प्रकारकी कल्पना न हो तथा निर्भय और प्रसन्न चित्तसे कहीं जा रहा हो, उसी समय अकस्मात् यदि मार्गमें व्याघ्र आदि कोई कालके समान विकराल जीव दिखायी दे जाय, तब भी एक क्षणके लिये बाहर-भीतरकी कोई सुधि नहीं रहती और न निद्राके ही वशीभूत होता है। उसे भी समाधि ही कहा जाता है॥ ८-९॥

अपना पुत्रादि कोई अत्यन्त प्रिय हो, जो नीरोग और गृहकार्योंमें भी अत्यन्त कुशल हो, उसके विषयमें यदि अकस्मात् सुन लिया जाय कि वह मर गया, तो उस समय भी मनुष्यको एक क्षणके लिये बाहर-भीतरकी कुछ भी सुधि नहीं रहती और न वह निद्रासे ही आक्रान्त होता है। उसे भी समाधि ही कहा जाता है॥ १०-११॥

इनके सिवा समाधिकी अन्य स्थितियाँ भी बतलाता हूँ, श्रवण

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनां मध्ये सन्ति समाधयः ॥ १२ ॥
दूरे किञ्चित् पश्यतस्तु बुद्ध्या चैकाग्रया मुने ।
मनो दीर्घात्मतां याति जलूकेव तृणालिषु ॥ १३ ॥
देहे देहाभासमयं भावे भावात्मकं तथा ।
मध्ये तन्निर्विकल्पाख्यं मनो लक्षय सर्वदा ॥ १४ ॥
बहुना किमिहोक्तेन शृणु सूक्ष्मविमर्शनम् ।
व्यवहारे न कस्यापि ज्ञानमेकन्तु भासते ॥ १५ ॥
खण्डज्ञानसमूहात्मा व्यवहारोऽयमाततः ।
अत एव वर्णयन्ति तैर्थिकाः सर्व एव हि ॥ १६ ॥
आत्मानं बुद्धिमपि वा क्षणभेदविभेदितम् ।
तदन्तरक्षणौघेषु निर्विकल्पदशा स्थिता ॥ १७ ॥
कहोलात्मज जानीहि जानतां तु प्रतिक्षणम् ।
समाधिरस्ति चान्यस्य समाधिः शशशृङ्गवत् ॥ १८ ॥

करो। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके मध्यमें जो सन्धि-स्थान हैं उनमें भी समाधियाँ रहती हैं ॥ १२ ॥

मुने! जब एकाग्र चित्तसे कोई दूरकी वस्तु देखी जाती है तो घासपर चलनेवाली जोंकके समान मन भी लम्बा हो जाता है। इसी प्रकार वह शरीरमें रहते समय शरीराकार तथा अन्य किसी भावमें रहनेपर तदाकार हो जाता है। किन्तु किसी भावमें न जाकर बीचमें रहता है तो मनको सर्वदा निर्विकल्प पाओगे ॥ १३-१४ ॥

हे सूक्ष्मदर्शिन्! इस विषयमें अधिक क्या कहा जाय; सुनो। व्यवहारके समय किसीको भी सर्वदा एक ही ज्ञान तो भासता नहीं है। यह विस्तृत व्यवहार खण्ड-खण्ड ज्ञानोंका समूह ही तो है। अतः सभी मतवादी आचार्य आत्मा और बुद्धिको भी क्षण-क्षणमें भिन्न-भिन्न बताते हैं। इन समस्त क्षणोंके बीचमें जो क्षणिक अवकाश रहता है उसमें निर्विकल्प स्थिति रहती है ॥ १५-१७ ॥

अष्टावक्र! याद रखो, जिन्हें समाधिके स्वरूपका ज्ञान है उनके लिये तो प्रत्येक क्षणमें समाधि रहती है; नहीं तो दूसरे पुरुषोंके लिये तो समाधि खरगोशके सींगकी तरह है ही नहीं" ॥ १८ ॥

जनकोक्तमिति श्रुत्वा भूयः पप्रच्छ स द्विजः ।
राजन्नेवं व्यवहृतौ समाधिर्निर्विकल्पकः ॥ १९ ॥
सर्वेषामस्ति यदि चेत्तत् कुतः संसृतिर्भवेत् ।
सुषुप्तौ दर्शने चापि जडाव्यक्तविभासतः ॥ २० ॥
पुरुषार्थासाधनत्वं समाधिस्त्वविकल्पकः ।
शुद्धसंविद्विभासात्मा तद्भूयः संसृतिः कथम् ॥ २१ ॥
एतदेव हि विज्ञानमज्ञानकुलनाशनम् ।
निर्विकल्पसमाध्याख्यं यन्निःश्रेयसकारणम् ॥ २२ ॥
एतन्मे शंस राजेन्द्र सर्वसंशयनाशनम् ।
इत्यापृष्टो महीपालः प्राह तं मुनिपुङ्गवम् ॥ २३ ॥
शृणु ब्रह्मन् प्रवक्ष्यामि रहस्यं परमन्त्विदम् ।
अज्ञानात् संसृतिरियं प्रवृत्ताऽनादिकालतः ॥ २४ ॥
सुखदुःखावभासानां प्रवाहात्मतया स्थिता ।
स्वप्नवत् सन्तता सर्वैः सर्वदा ह्यनुभूयते ॥ २५ ॥

जनकका ऐसा कथन सुनकर अष्टावक्रने पुनः पूछा, "राजन् ! इस प्रकार व्यवहारमें यदि सभीको निर्विकल्प समाधि होती रहती है तो यह संसार कैसे चलता रहता है ? ॥ १९–२० पू० ॥

ज्ञानात्मक वस्तुओंके दर्शन और सुषुप्तिमें तो घटादि जड पदार्थों और अव्यक्तका भाव होता है; इसलिये वे तो मोक्षरूप पुरुषार्थके साधन नहीं हो सकते । तथापि निर्विकल्प समाधि तो शुद्ध चेतनका ही अनुभव है । फिर यह संसारचक्र कैसे चल रहा है ? ॥ २० उ०–२१ ॥

और जिसका नाम निर्विकल्प समाधि है वही अज्ञान-परम्परा-का नाश करनेवाला तथा निःश्रेयस (मोक्ष) का कारण विशुद्ध ज्ञान है । [फिर यह संसार क्यों ?] ॥ २२ ॥

राजेश्वर ! सम्पूर्ण संशयोंको नष्ट करनेवाला यह रहस्य मुझे समझाइये ।" इस प्रकार पूछे जानेपर राजाने उन मुनिश्रेष्ठसे कहा—॥२३॥

"ब्रह्मन् ! सुनिये, मैं आपको यह अत्यन्त गूढ रहस्य समझाता हूँ । यह संसार अज्ञानके कारण अनादि कालसे चला आ रहा है ॥२४॥

यह सुख-दुःखमयी प्रतीतियोंमें प्रवाहरूपसे स्थित है और सब जीव स्वप्नके समान सर्वदा निरन्तर इसका अनुभव करते हैं ॥ २५ ॥

निवृत्तिस्तस्य तु ज्ञानादेवेति प्रविभावितम् ।
तज्ज्ञानं सविकल्पं स्यादज्ञानस्य प्रबाधनम् ॥ २६ ॥
निर्विकल्पकविज्ञानादज्ञानं न निवर्त्तते ।
निर्विकल्पकविज्ञानं केनचिन्न विरुध्यते ॥ २७ ॥
निर्विकल्पकविज्ञानं सविकल्पसमाश्रयम् ।
विचित्रचित्राभासानां भित्तिवत् सुव्यवस्थितम् ॥ २८ ॥
निर्विकल्पं ज्ञानमिति केवलं ज्ञानमुच्यते ।
तत्रैव हि विकल्पानामुल्लेखात् सविकल्पकम् ॥ २९ ॥
अज्ञानं सविकल्पाख्यज्ञानमेव न चेतरत् ।
तदनेकविधं कार्यकारणात्मतया स्थितम् ॥ ३० ॥
कारणं स्वात्मपूर्णत्वाख्यातिरूपमुदीरितम् ।
चिदात्मा पूर्ण एव स्यादवच्छेदविवर्जनात् ॥ ३१ ॥
अवच्छेदनहेतूनां कालादीनां हि साधकः ।

इसकी निवृत्ति केवल ज्ञानसे ही मानी गयी है। वह अज्ञानकी निवृत्ति करनेवाला ज्ञान सविकल्प होना चाहिये ॥ २६ ॥

निर्विकल्प ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि निर्विकल्प ज्ञानका किसीसे विरोध नहीं होता ॥ २७ ॥

जिस प्रकार तरह-तरहके चित्रोंकी आश्रय भित्ति होती है उसी प्रकार निर्विकल्प विज्ञान तो सम्पूर्ण विकल्पोंके आश्रय रूपसे स्थित है ॥२८॥

निर्विकल्प ज्ञान ही 'केवल ज्ञान' (शुद्ध ज्ञान) कहा जाता है और उसीमें जब विकल्पोंका उदय होता है तब वह सविकल्प हो जाता है ॥

अज्ञान भी सविकल्प कहलानेवाला ज्ञान ही है, और कुछ नहीं। वह कार्य-कारण भावसे अनेक रूपोंमें स्थित है ॥ ३० ॥

अपने आत्माकी पूर्णताका भान न होना ही कारण अज्ञान कहा गया है। चिदात्मा तो पूर्ण ही है, क्योंकि उसकी कोई सीमा नहीं है, प्रत्युत वह तो सीमाके हेतुभूत कालादिको भी सिद्ध करनेवाला है। [अर्थात् सीमा या अवच्छेदके हेतु जो देश, काल और वस्तु हैं उनकी सत्ता तो चेतनके आश्रित ही भासती है, फिर वे उसके अवच्छेदक कैसे हो सकते हैं ?] ॥ ३१-३२ पू० ॥

तथाविधात्मनः ख्यातिरपूर्णत्वेन या स्थिता ॥ ३२ ॥
अत्राधुनास्मीतिरूपा मूलाज्ञानं हि सा भवेत् ।
तस्यैवं पल्लवप्रायं देहात्मत्वादिभासनम् ॥ ३३ ॥
अज्ञानस्य निवृत्त्यन्तं संसारो न निवर्त्तते ।
पूर्णात्मविज्ञानमृते त्वज्ञानं नातिवर्त्तते ॥ ३४ ॥
तच्च पूर्णात्मविज्ञानं द्विविधं सुव्यवस्थितम् ।
परोक्षमपरोक्षञ्च परोक्षं गुरुशास्त्रतः ॥ ३५ ॥
तत् साक्षात् पुरुषार्थस्य न कारणमिति स्थितम् ।
यादृशं ते भवेज्ज्ञानं शास्त्रश्रुतिसमुद्भवम् ॥ ३६ ॥
श्रद्धामात्राभ्युपगतं फलदं न प्रचक्षते ।
अपरोक्षं हि विज्ञानं समाधिपरिपाकजम् ॥ ३७ ॥
सप्रपञ्चाज्ञाननाशक्षमं शुभफलावहम् ।

इस प्रकारके आत्माका जो 'उस समय मैं यहाँ हूँ' इस प्रकार अपूर्णरूपसे भान होना है वही मूल (कारण) अज्ञान है । देहात्मत्वादि[1] रूपसे भासना उसीका कार्य है ॥ ३२ उ०–३३ ॥

जबतक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती तबतक संसारका अन्त नहीं होता और आत्माको पूर्णताका ज्ञान हुए बिना अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती ॥ ३४ ॥

वह आत्माकी पूर्णताका ज्ञान दो प्रकारका है—परोक्ष और अपरोक्ष । इनमें परोक्ष ज्ञान तो गुरु या शास्त्रसे होता है । परन्तु वह मोक्षरूप पुरुषार्थका साक्षात् साधन नहीं है—यह बात निश्चित है ॥ ३५–३६ पू० ॥

जैसा शास्त्र और श्रुतिसे उत्पन्न हुआ तुम्हारा ज्ञान है, जो केवल श्रद्धासे ही मान लिया गया है, वह मोक्षरूप फल देनेवाला नहीं कहा गया ॥ ३६ उ०–३७ पू० ॥

अपरोक्ष ज्ञान तो समाधिका परिपाक होने पर उत्पन्न होता है । तथा वही प्रपञ्चसहित अज्ञानका नाश करनेमें समर्थ और मोक्षरूप शुभ फल

---

१. देहके धर्म स्थूलत्व गौरत्वादिको अपनेमें आरोपित 'मैं मोटा हूँ' 'मैं गोरा' इत्यादि रूपसे भासना ।

समाधिर्ज्ञानपूर्वस्तु विज्ञानं जनयेत् खलु ॥ ३८ ॥
तस्मादज्ञानिनां नार्थः समाधौ सम्भवत्यपि ।
यथाऽविदितमाणिक्यः पश्यन् कोशगृहे मणिम् ॥ ३९ ॥
न जानाति यथान्यस्तु श्रुतज्ञातमणिः क्वचित् ।
दृष्ट्वा प्रत्यभिजानाति तत्परो मणिमञ्जसा ॥ ४० ॥
अतः परः श्रुतमपि भूयः पश्यन् मणिं क्वचित् ।
न विजानाति तदिह ब्रह्मन् सुनिपुणोऽपि सन् ॥ ४१ ॥
तथा मूढा न विन्दन्ति फलं विज्ञानसंश्रयम् ।
अज्ञातत्वात् पण्डितास्तु श्रुतज्ञानयुता अपि ॥ ४२ ॥
अतत्परत्वहेतोस्तु न विजानन्ति सर्वथा ।
यथा हि तारकां पश्यन्नपि जानाति न क्वचित् ॥ ४३ ॥
मूढः श्रुतज्ञानहीनः श्रुतज्ञानयुतोऽपि वै ।

देनेवाला होता है। जो समाधि ज्ञानपूर्वक होती है निश्चय वही अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न कर सकती है ॥ ३७ उ०-३८ ॥

अतः व्यवहारकालमें अज्ञानियोंको समाधि होते रहनेपर भी उनसे मोक्षरूप पुरुषार्थकी प्राप्ति नहीं होती। जिस प्रकार मणिके विषयमें कुछ भी न जाननेवाला पुरुष खजानेमें मणिको देखनेपर पहचान नहीं सकता, किन्तु जिसने सुनकर मणिकी जानकारी प्राप्त कर ली है और उसकी खोजमें लगा हुआ है, वह उसे देखनेपर सुगमतासे ही पहचान लेता है ॥ ३९-४० ॥

किन्तु ब्रह्मन्! जिसे उसकी खोज नहीं है उसने भले ही मणिके विषयमें सुन रखा हो और स्वयं भी बड़ा चतुर हो, तो भी मणिको देखनेपर उसे पहचान नहीं सकता ॥ ४१ ॥

उसी प्रकार अज्ञानी पुरुषोंको तो परिचय न होनेके कारण [व्यवहारमें समाधि होते रहनेपर भी] तत्त्वज्ञानसे होनेवाला फल प्राप्त नहीं होता। और जो पण्डित हैं, वे श्रवणजनित ज्ञानसे सम्पन्न होनेपर भी, उसकी खोजमें लगे न होनेके कारण उसे ठीक-ठीक नहीं जान पाते ॥ ४२-४३ पू० ॥

[यह बात ऐसी ही है] जैसे आकाशमें तारेको देखनेपर भी

पश्यन्नपि च नो वेत्ति तत्परत्वविवर्जनात् ॥ ४४ ॥
यस्तु श्रुत्वा शुक्रतारां दिगाकारादिलक्षणैः।
मया ज्ञेयं सर्वथेति तत्परो बुद्धिमान् नरः ॥ ४५ ॥
एकाग्रमानसः पश्यन् प्रत्यभिज्ञास्यति स्फुटम्।
एवमज्ञानतो मूढाश्चान्ये तात्पर्यवर्जनात् ॥ ४६ ॥
न विजानन्ति स्वात्मानं ब्रह्मन् सत्सु समाधिषु।
भिक्षामटति दुर्दैवाद् यथा वै विस्मृताकरः ॥ ४७ ॥
तस्मादेता दशाः सर्वाः समाधीनां निरर्थकाः।
अत एव शिशूनां हि सर्वदा निर्विकल्पकम् ॥ ४८ ॥
न फलं साधयेद् ब्रह्मन्नज्ञानस्यानिवृत्तितः।

अज्ञानी तो श्रवणजनित ज्ञानसे हीन होनेके कारण नहीं पहचान पाता। और जिसे श्रवणजनित ज्ञान है, उसमें उसे देखने की उत्कण्ठा न होनेके कारण, वह भले ही उसे देखता रहे परन्तु पहचान नहीं सकता ॥ ४३ उ०-४४ ॥

जिसने शुक्र तारेके विषयमें 'वह अमुक दिशामें रहता है और उसका ऐसा आकार है' इत्यादि लक्षणोंसे सुन रखा है और जिसे ऐसी उत्कण्ठा भी है कि मैं उसे अपरोक्ष रूपसे जानूँ, वह बुद्धिमान् पुरुष ही एकाग्रचित्तसे देखनेपर उसे स्पष्टरूपसे जान सकेगा [अन्य नहीं] ॥ ४५--४६ पू० ॥

ब्रह्मन् ! इसी प्रकार 'समाधियोंके होते रहनेपर भी अज्ञानी तो अज्ञानके कारण और दूसरे लोग तत्परता न होनेके कारण अपने आत्माको नहीं जान पाते, जिस प्रकार दुर्भाग्यवश घरमें गड़े खजानेका पता न होनेके कारण कोई पुरुष भीख माँगता फिरे ॥ ४६ उ०--४७ ॥

इसलिये समाधिकी ये सब दशाएँ निरर्थक ही रहती हैं। इसीसे शिशुओंको यद्यपि सर्वदा निर्विकल्प स्थिति ही रहती है तथापि उनके अज्ञानकी निवृत्ति न होनेके कारण उन्हें उसका मोक्षरूप फल प्राप्त नहीं होता ॥ ४८--४९ पू० ॥

प्रत्यभिज्ञात्मकं यत्तु ज्ञानं स्यात् सविकल्पकम् ॥ ४९ ॥
तदेव संसारमूलमज्ञानं विनिवर्त्तयेत् ।
अनेकजन्मसुकृतैः सन्तुष्टा स्वात्मदेवता ॥ ५० ॥
यदा तदा मुमुक्षत्वं नान्यदा कल्पकोटिभिः ।
चेतनत्वं जन्मवत्सु परमं दुर्लभं भवेत् ॥ ५१ ॥
सुदुर्लभं तेष्वपि च मानुषं जन्म सर्वथा ।
तत्रापि सूक्ष्मबुद्धित्वमत्यन्तं हि सुदुर्लभम् ॥ ५२ ॥
पश्य ब्रह्मन् स्थावराणां शतांशेनापि सम्मितम् ।
न दृश्यते जङ्गमं वै तेषामपि शतांशतः ॥ ५३ ॥
समं नास्ति मनुष्यत्वं तत्रापि परिभावय ।
पशुतुल्याः प्रदर्श्यन्ते मनुष्याणां हि कोटयः ॥ ५४ ॥
ये न जानन्ति सदसत् पुण्यं वा पापमेव वा ।
अन्येऽपि कोटिशो मर्त्याः प्रवृत्ताः कामनापराः ॥ ५५ ॥

जो ज्ञान प्रत्यभिज्ञात्मक[1] और सविकल्प होता है वही संसारके हेतुभूत अज्ञानकी निवृत्ति कर सकता है ॥ ४६ उ०--५० पू० ॥

जब अनेक जन्मोंमें किये हुए शुभ कर्मों द्वारा आत्मदेव प्रसन्न होते हैं तब मनुष्यको मोक्षकी इच्छा होती है, नहीं तो करोड़ों कल्पोंमें भी ऐसा सुअवसर प्राप्त नहीं होता ॥ ५० उ०--५१ पू० ॥

संसारमें जन्म लेनेवालोंमें चेतन प्राणी होना अत्यन्त कठिन है। उनमें भी मनुष्य जन्म पाना तो सभी प्रकारसे बहुत कठिन है। तथा मनुष्योंमें भी सूक्ष्मबुद्धि युक्त होना तो बहुत ही कठिन है ॥५१ उ०--५२॥

ब्रह्मन् ! देखो, स्थावरोंकी अपेक्षा जंगम (चलने-फिरनेवाले) जीव सौवें अंश भी दिखायी नहीं देते। मनुष्य उनके सौवें अंशके बराबर भी नहीं हैं। उनमें भी करोड़ों मनुष्य पशुओंके समान दिखायी देते हैं, जिन्हें सत्य-असत्य अथवा पुण्य-पापका भी कोई ज्ञान नहीं है ॥ ५३--५५ पू० ॥

उनके अतिरिक्त और भी करोड़ों मनुष्य कामनाओंके पीछे लगकर

---

१. पूर्व श्रुतका साक्षात् परिचय करानेवाला।

गतागतं रोचयन्ते पाण्डित्याभासगर्विताः।
एवंविधजनानां तु केऽप्यन्ये बुद्धिमद्विधाः ॥ ५६ ॥
मालिन्यशेषचित्तास्तेऽप्यद्वैतपदनास्तिकाः ।
भगवन्माययाच्छन्नमद्वैतं परमं पदम् ॥ ५७ ॥
कथं सर्वैः समासाद्यं मायान्धैर्मन्दभाग्यकैः।
मायान्धानां तत्पदं तु न बुद्धिमुपरोहति ॥ ५८ ॥
अन्ये दुर्भागधेयास्ते बुद्ध्यारूढमपीह ये।
वृथाभिनिविशन्ति भूयोऽपह्नुवन्ति कुकल्पनैः ॥ ५९ ॥
अहो भगवती माया पश्यन्तोऽपि महत्पदम्।
चिन्तामणिं हस्तगतं त्यजन्ति हि कुकल्पनैः ॥ ६० ॥

प्रवृत्तिमार्गमें जुटे हुए हैं। अपनी पण्डिताईके भ्रमसे गर्वित रहनेके कारण उन्हें स्वर्गादि अनित्य फलोंमें ही रुचि होती है ॥ ५५ उ०–५६ पू० ॥

इस प्रकारके लोगोंमें भी कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें बुद्धिमान् कहा जा सकता है। किन्तु उसके चित्तमें मलदोषका अंश शेष रहनेके कारण अद्वैत पदमें उनकी भी आस्था नहीं होती ॥ ५६ उ०–५७ पू० ॥

यह अद्वैत परमपद तो भगवान्‌की मायासे ढका हुआ है। अतः जो मन्दभाग्य पुरुष मायासे अन्धे रहते हैं उन सबकी इसतक कैसे पहुँच हो सकती है? इसीसे मायामुग्ध पुरुषोंकी बुद्धिमें वह पद नहीं आ सकता ॥ ५७ उ०–५८ ॥

कोई ऐसे अभागे होते हैं कि उनकी बुद्धिमें आ जानेपर भी वे वृथा आग्रहों[1]में फँस कर तरह-तरहकी कुकल्पनाएँ[2] करके उससे हाथ धो बैठते हैं ॥ ५९ ॥

अहो! भगवान्‌की माया कैसी प्रबल है कि इस महान् पदको देख लेनेपर भी तरह-तरहकी कल्पनाएँ करके इस हाथमें आयी हुई चिन्तामणिको फेंक देते हैं ॥ ६० ॥

---

१. यह दृश्य प्रपञ्च कैसे मिथ्या हो सकता है—इत्यादि आग्रहोंमें।

२. विषयके बिना तो कोई ज्ञान हो ही नहीं सकता, अतः ये घटादिविषय सत्य हैं—इत्यादि कुतर्क करके।

३. अद्वैतात्मबोध सम्पूर्ण कामनाओंकी शान्ति कर देनेके समान है। परन्तु दुराग्रह और कारण उसे काँच समझकर फेंक देते हैं।

येषां समाराधनेन तुष्टा सा स्वात्मदेवता।
ते मायया विनिर्मुक्ताः सुतर्काः श्रद्धया युताः॥ ६१॥
पराद्वये समाश्वस्ताः प्राप्नुवन्ति परं पदम्।
तत्क्रमं तेऽभिधास्यामि ब्रह्मन् संशृणु संयतः॥ ६२॥
अनन्तजन्मसुकृतैर्दैवताभक्तिराप्यते।
तया संराध्य सुचिरं तत्प्रसादात्ततः परम्॥ ६३॥
वैरस्यं भोगवृन्देषु तत्परत्वञ्च प्राप्नुयात्।
वैराग्यतत्परत्वाभ्यां श्रद्धया चापि सङ्गतः॥ ६४॥
सद्गुरुं प्राप्य तत्प्रोक्त्या वेत्त्यद्वैतं परं पदम्।
एतज्ज्ञानं परोक्षं वै ह्यस्त्यद्वैतमितीह यत्॥ ६५॥
ततो विचारयेत् सम्यगद्वैतं स्वात्मदैवतम्।
उपपाद्य सुतर्कैस्तु संशयांस्तेन नाशयेत्॥ ६६॥

जिन सत्पुरुषोंकी आराधनासे वह आत्मदेव प्रसन्न हो जाते हैं वे मायासे छूटकर शास्त्रानुसारी तर्क और श्रद्धासे सम्पन्न होते हैं तथा उस परम अद्वैत पदमें परिनिष्ठित होकर उसे प्राप्त कर लेते हैं॥ ६१-६२ पू०॥

ब्रह्मन्! मैं उस पदकी प्राप्तिका क्रम बताता हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो। अनन्त जन्मोंके पुण्य होनेपर तो इष्टदेवकी भक्ति प्राप्त होती है। उस भक्तिके द्वारा इष्टदेवकी चिरकालतक आराधना करके फिर उन्हींकी कृपासे भोगोंमें अरुचि और उस पदको प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा प्राप्त होती है॥ ६२ उ०-६४ पू०॥

वैराग्य, तत्परता और श्रद्धासे सम्पन्न होकर साधक सद्गुरुकी शरणमें जाता है और उनके उपदेशसे उस अद्वैत परमपदका ज्ञान प्राप्त करता है। यह ज्ञान परोक्ष ही होता है, क्योंकि इससे केवल इतना विश्वास हो जाता है कि 'अद्वैत है'॥ ६४ उ०-६५॥

फिर अपने अद्वैत आत्मदेवका अच्छी तरह विचार करना चाहिये और सत्तर्कोंके द्वारा उसका निश्चय करके संशयोंकी निवृत्ति करनी चाहिये॥ ६६॥

अथ निश्चितमात्माख्यतत्त्वमद्वयमादरात् ।
अनुध्यायेदापरोक्षं हठवृत्त्यापि यत्नतः ॥ ६७ ॥
ततो विकल्पविषयीकृत्य ध्यातं परं पदम् ।
संसारमूलमज्ञानं नाशयेन्नात्र संशयः ॥ ६८ ॥
पक्वध्याने निर्विकल्पे समाध्याख्ये परं पदम् ।
आसाद्य पश्चात् संस्मृत्य प्रत्यभिज्ञानवान् भवेत् ॥ ६९ ॥
सोऽद्वैतात्माऽहमस्मीति त्वपरोक्षविकल्पतः ।
संसारमूलमज्ञानं साङ्गं नाशयति द्रुतम् ॥ ७० ॥
ध्यानस्य परिपाको हि विकल्पपरिवर्जनम् ।
विकल्पो विविधख्यातिरेकधा निर्विकल्पकः ॥ ७१ ॥
अन्यानुल्लेखमात्रेण विकल्पो वर्जितो भवेत् ।
विकल्पे वर्जिते पश्चान्निर्विकल्पं स्वतः स्थितम् ॥ ७२ ॥

इस प्रकार निश्चित हुए अद्वय आत्मतत्त्वका आदरपूर्वक निरन्तर अपरोक्ष साक्षात्कार होनेतक निदिध्यासन करना चाहिये। ऐसा प्रयत्न-पूर्वक बलात्कार करता रहे ॥ ६७ ॥

फिर तो 'वह परमपद मैं ही हूँ' ऐसे विकल्प (प्रत्यभिज्ञा) को रखकर ध्यान किये जानेपर वह परमपद संसारके मूल कारण अज्ञानका नाश कर ही देगा—इसमें सन्देह नहीं ॥ ६८ ॥

निर्विकल्प समाधि रूपसे ध्यानका परिपाक होनेपर उस पदकी प्राप्ति होगी। फिर उसीका स्मरण रखते हुए 'मैं वही हूँ' ऐसी प्रत्य-भिज्ञासे युक्त रहे ॥ ६९ ॥

वह 'अद्वैत आत्मा मैं हूँ' ऐसा अपरोक्ष विकल्प रहनेसे वह तत्त्व-ज्ञान तत्काल ही संसारके मूल अज्ञानको उसके अंगोंके सहित नष्ट कर देता है ॥ ७० ॥

विकल्पका न रहना ही ध्यानका परिपाक है। विकल्प अनेक प्रकार-के ज्ञानको कहते हैं और निर्विकल्प स्थिति एकरूप होती है ॥ ७१ ॥

आत्मासे भिन्न किसी अन्य वस्तुका स्फुरण न होनेसे ही विकल्पकी निवृत्ति हो जाती है। और विकल्पके न रहनेपर फिर निर्विकल्पता स्वतः ही रह जाती है ॥ ७२ ॥

चित्रे विमृष्टे यद्वत्तु शुद्धा भित्तिर्हि संस्थिता ।
सम्पादनं शुद्धभित्तेश्चित्रसम्मार्ष्टिरेव हि ॥ ७३ ॥
एवं विकल्पस्यापोहे निर्विकल्पं मनः स्वतः ।
निर्विकल्पात्मसम्पत्तिर्विकल्पत्याग एव हि ॥ ७४ ॥
नातोऽधिकं किञ्चिदस्ति पदं प्राप्यं हि पावनम् ।
अत्र मुह्यन्ति विबुधा अपि मायामहित्वतः ॥ ७५ ॥
सुबुद्धानां क्षणेनैव पदमेतद्धि लक्षितम् ।
त्रिधाऽधिकारिणो ब्रह्मन्नुत्तमाधममध्यमाः ॥ ७६ ॥
उत्तमाः सकृदादेशकाले बुद्ध्यन्ति तत्पदम् ।
विचारो ध्यानमपि च श्रुतिकालसमं भवेत् ॥ ७७ ॥
उत्तमानां न हि क्लेशः प्राप्तौ तस्य पदस्य हि ।
अहं पुरा निदाघस्य रात्रौ ज्योत्स्नासुमण्डिते ॥ ७८ ॥
प्रियया सम्परिष्वक्तो विकसद्वाटिकाङ्गणे ।

जिस प्रकार चित्रके मिट जानेपर स्वच्छ भीत ही रह जाती है । अतः चित्रको मिटा देना ही स्वच्छ भीत तैयार करना है ॥ ७३ ॥
इसी प्रकार विकल्पके निवृत्त होनेपर मन स्वतः निर्विकल्प हो जाता है । अतः विकल्पका त्याग ही निर्विकल्प आत्माकी उपलब्धि है ॥७४॥

इससे अधिक और कोई पवित्र पद प्राप्त करने योग्य नहीं है । किन्तु मायाकी महिमासे इसमें बड़े बुद्धिमान् भी भ्रमित हो जाते हैं ॥ ७४ ॥

शुद्ध बुद्धिवाले पुरुषोंको तो एक क्षणमें ही इस पदका साक्षात्कार हो जाता है । ब्रह्मन् ! इसके अधिकारी तीन प्रकारके होते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम ॥ ७६ ॥

उत्तम तो एकबार बतलाने पर ही उस पदको समझ जाते हैं । उन्हें श्रवणके समय ही उसके विचार (मनन) और ध्यान (निदिध्यासन) भी हो जाते हैं । उस पदकी प्राप्तिमें उत्तम अधिकारियोंको कुछ भी कठिनता नहीं होती ॥ ७७–७८ पू० ॥

पुरानी बात है । गर्मीके दिन थे । रात्रिका समय था । भूतलमें चाँदनी छिटक रही थी । मैं एक हरे-भरे बगीचेके आँगनमें बहुमूल्य

परार्ध्यशयनासीनो मदिरामदघूर्णितः ॥ ७९ ॥
अश्रौषं खे सिद्धगणवचनं मधुपेशलम् ।
अद्वैतत्वाश्रितं चैव तत्काले ह्यविदं पदम् ॥ ८० ॥
विज्ञातं तद्विचारेण ध्यानेनापि तदेव हि ।
एवमर्द्धमुहूर्त्तेन ज्ञात्वा तत्पावनं पदम् ॥ ८१ ॥
मुहूर्त्तमभवं भूयस्तत्समाहितमानसः ।
परमानन्दवाराशिपरिमग्नो ह्यशेषतः ॥ ८२ ॥
अथ स्मृतिं समासाद्य विचारपरमोऽभवम् ।
अहोऽद्भुतपदं ह्येतदानन्दामृतनिर्भरम् ॥ ८३ ॥
अपूर्वमासादितं मे भूयस्तत् संविशाम्यहम् ।
नैतस्य लेशमात्रं स्यादैन्द्रादिसुखमप्यलम् ॥ ८४ ॥
आब्रह्म सुखमेतस्य लेशतोऽपि न सम्मितम् ।
अद्यावधि व्यर्थ एष कालो मे ह्यतिवाहितः ॥ ८५ ॥

सेजपर बैठा था। मेरी प्रियतमाने मुझे आलिंगित किया हुआ था और मेरे नेत्र मदिराके मदसे चंचल हो रहे थे। इसी समय मैंने आकाशमें सिद्धगणोंके मधुके समान मधुर शब्द सुने। वे अद्वैततत्त्वका निरूपण करनेवाले थे। बस, उसी समय मुझे उस परमपदका ज्ञान हो गया ॥ ७८ ३०-८० ॥

उसी समय विचार और ध्यानके द्वारा भी मैंने उसे जान लिया। इस प्रकार आधे मुहूर्त्तमें ही उस पवित्र पदको जानकर मैं एक मुहूर्त्ततक उसीमें समाहित रहा और पूर्णतया परमानन्द समुद्रमें निमग्न हो गया ॥ ८१-८२ ॥

फिर सावधान होनेपर मैं इस प्रकार विचार करने लगा—'अहो! यह पद तो बड़ा ही विचित्र है। यह तो आनन्दामृतसे लबालब भरपूर है ॥ ८३ ॥

आज मुझे यह अभूतपूर्व स्थान मिला है। मैं पुनः उसीमें प्रवेश करता हूँ। इन्द्रादि महत्पदोंके सुख तो इसके लेशमात्र भी नहीं हैं ॥ ८४ ॥

ब्रह्मलोकतकका सुख इसके कणमात्रसे भी तुलना नहीं कर सकता। आज तक तो मैंने वृथा ही अपना समय नष्ट किया ॥ ८५ ॥

अविदित्वा स्वं निधानं चिन्तामणिगणान्वितम् ।
यथा भिक्षामटति वै मुष्टिपिष्टग्रलिप्सया ॥ ८६ ॥
अहो लोकास्तथा स्वात्मानन्दाज्ञानविमोहिताः ।
बाह्यं सुखं लेशमात्रं प्राप्नुवन्ति महाश्रमैः ॥ ८७ ॥
तदलं मे वृथा बाह्यसुखलेशपरिश्रमात् ।
अनन्तानन्दसन्दोहतत्परः स्यां हि सर्वदा ॥ ८८ ॥
अलमेतेन बाह्येन व्यवहारेण मे किमु ।
पिष्टपेषणकल्पेन चोपालम्भपदेन वै ॥ ८९ ॥
तानि भोज्यानि तान्येव माल्यानि शयनानि च ।
भूषणानि विचित्राणि योषित्सम्भोगकाश्च ते ॥ ९० ॥
चिरपर्युषितप्रायाण्यपि संसेव्यतः पुनः ।
गतानुगतिकत्वान्मे जुगुप्सा न हि जायते ॥ ९१ ॥
इति निश्चित्य भूयोऽहं यावदन्तर्मुखोद्यतः ।

जैसे कोई चिन्तामणियोंसे भरे हुए अपने खजानेको न जाननेके कारण मुट्ठीभर मिट्टी प्राप्त करनेकी लालसासे भीख माँगता फिरे ॥८६॥

हाय ! ये लोग इसी प्रकार अपने आत्मानन्द को न जाननेके कारण भ्रमित हो रहे हैं और बड़ा भारी परिश्रम करनेपर लेशमात्र बाह्य सुख प्राप्त कर पाते हैं ॥ ८७ ॥

बश, अब मुझे इस बाह्य सुखलेशके लिये परिश्रम करनेकी कोई आवश्यकता नहीं हैं। मैं तो सर्वदा इस अनन्त आनन्द समूहमें ही निमग्न रहा करूँगा ॥ ८८ ॥

अब इस बाह्य व्यवहारसे भी मुझे क्या लेना है। यह पिसे हुएको पीसनेके समान और निन्दाका स्थान ही तो है ॥ ८९ ॥

नित्य वे ही भोज्य पदार्थ हैं, वे ही मालाएँ और सेजें हैं तथा वे ही तरह-तरहके आभूषण और स्त्री-सम्भोगादि हैं ॥ ९० ॥

चिरकालसे सेवन करते-करते यद्यपि ये उच्छिष्ट जैसे हो गये हैं, फिर भी इन्हींको सेवन करते रहते हैं। भेड़चालकी तरह परम्परासे ऐसा ही होता रहा है, इसलिये इनमें घृणा भी नहीं होती ॥ ९१ ॥

ऐसा निश्चय करके मैं ज्यों ही पुनः अन्तर्मुख होने लगा कि

तावदन्यो विमर्शो मां सुशुभः प्रत्युपस्थितः ॥ ९२ ॥
अहो मे चित्तमोहोऽयं किं मामेवमुपस्थितः ।
आनन्दपरिपूर्णात्मा स एवाहं स्थितोऽपि सन् ॥ ९३ ॥
भूयः किं कर्त्तुमिच्छामि प्राप्तव्यं वाऽपि किं मया ।
किमप्राप्तं मया कुत्र कदा वा प्राप्यते कथम् ॥ ९४ ॥
अप्राप्तस्यापि सम्प्राप्तिः कथं सत्या हि सम्भवेत् ।
अहोऽनन्तचिदानन्दरूपे मे स्यात् कथं क्रिया ॥ ९५ ॥
देहेन्द्रियान्तःकरणान्यपि स्वप्नसमानि वै ।
ममैव तानि सर्वाणि त्वखण्डैकचिदात्मनः ॥ ९६ ॥
तत्रैकमन्तःकरणं निरुध्यापि च किं भवेत् ।
अन्यान्यप्यनिरुद्धानि मनांसि च ममैव हि ॥ ९७ ॥
तथा चैकस्य मनसो निरोधे मम किं भवेत् ।
निरुद्धान्यनिरुद्धानि मनांसि मयि भान्त्यलम् ॥ ९८ ॥
निरोधे सर्वमनसामपि मे न निरोधनम् ।

उसी समय मेरे सामने एक दूसरा शुभ विचार उपस्थित हुआ ॥ ९२ ॥

[मैं सोचने लगा-] 'अरे ! मुझे यह कैसा मनोमोह हो गया । जो आनन्दसे परिपूर्ण आत्मतत्त्व है वही तो मैं हूँ । फिर मैं क्या करना चाहता हूँ । मुझे अब और क्या पाना है ? ऐसी कौन वस्तु है जो मुझे प्राप्त नहीं है और वह मुझे कहाँ कब और कैसे मिलेगी ? ॥९३-९४॥

जो चीज प्राप्त है ही नहीं उसकी प्राप्ति क्या कभी सच हो सकती है ? मेरा स्वरूप तो अनन्त चिदानन्द है, मेरे द्वारा क्रिया कैसे हो सकती है ? ॥ ९५ ॥

देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण भी स्वप्नके समान मिथ्या ही हैं । मैं अखण्ड चिदात्मा हूँ और ये सभी मेरे हैं ॥ ९६ ॥

फिर एक अन्तःकरणका निरोध करके भी क्या होगा । अन्य बिना निरोध किये मन भी तो मेरे ही रहेंगे ॥ ९७ ॥

इस प्रकार एक मनको रोकनेसे मुझे लाभ भी क्या ? मुझमें तो अनेकों रोके हुए और बिना रोके हुए मन भासते ही रहते हैं ॥९८॥

यदि सब मनोंका निरोध कर लिया जाय तब भी मेरा निरोध तो

महाकाशात् सुवितते कुतो मयि निरोधनम् ॥ ९९ ॥
एवं पूर्णानन्दरूपे समाधिः स्यात् कथं मयि ।
चिदानन्दप्रपूर्णस्य पूर्णस्य गगनादपि ॥ १०० ॥
मम क्रिया कथं का स्याददृयाऽपि शुभाशुभा ।
अनन्तेषु शरीरात्माभासेषु मन्महित्वतः ॥ १०१ ॥
क्रियाभासात्रभासेन तदभावेन वाऽपि किम् ।
कर्त्तव्यं वाप्यकर्त्तव्यं मम नास्त्यपि लेशतः ॥ १०२ ॥
तस्मान्निरोधने किं स्यादहमानन्दनिर्भरः ।
समाधावसमाधौ वा सत्यपूर्णस्वभावकः ॥ १०३ ॥
यस्यां क्रियायां देहोऽयं स्थितस्तत्रैव तिष्ठतु ।
इत्यहं सर्वथा स्वस्थः सुमहानन्दमन्दिरः ॥ १०४ ॥
अनस्तमितभारूपोऽहं सुपूर्णो निरञ्जनः ।
उत्तमाधिकृतस्यैवं स्थितिर्मे सम्प्रकीर्तिता ॥ १०५ ॥

होगा नहीं । मैं तो व्यापक महाकाश हूँ, मेरा निरोध कैसे होगा ? ॥९९॥

इस प्रकार पूर्णानन्दस्वरूप मेरी समाधि होगी ही कैसे ? तथा मैं तो चिदानन्दसे परिपूर्ण और आकाशसे भी अधिक व्यापक हूँ! फिर मेरे द्वारा कोई शुभ या अशुभ अद्वितीय क्रिया भी कैसे हो सकेगी ? ॥ १००--१०१ पू० ॥

अनन्त शरीर और आत्माभ्यास मेरी महिमासे भास रहे हैं। फिर किसी क्रियाभासके भासने अथवा न भासनेसे मुझे क्या प्रयोजन है ? इसलिये मेरा लेशमात्र भी न कोई कर्त्तव्य है न अकर्त्तव्य ॥ १०१ उ०--१०२ ॥

मैं तो आनन्दसे परिपूर्ण हूँ, अतः निरोध करनेसे ही मुझे क्या मिलेगा ? मेरी समाधि हो अथवा न हो मैं तो सत्य और पूर्णस्वरूप ही हूँ ॥ १०३ ॥

मेरा यह शरीर जिस क्रियामें स्थित हो उसीमें स्थित रहे। ऐसा विचारकर मैं तो सर्वदा अपने स्वरूपमें ही स्थित और परमानन्दसे परिपूर्ण रहता हूँ। मैं अलुप्तप्रकाशस्वरूप, परिपूर्ण और निर्मल हूँ ॥ १०४--१०५ पू० ॥

इस प्रकार मैंने उत्तमाधिकारी अपनी ही स्थितिका वर्णन किया।

अधमानामनेकैस्तु जन्मभिर्ज्ञानजं फलम्।
मध्यमानान्तु क्रमतः श्रवणं च विचारणम् ॥ १०६ ॥
अनुध्यानं च भवति ततो ज्ञानं प्रजायते।
विज्ञानफलसंयुक्तसमाधिर्दुर्लभो भवेत् ॥ १०७ ॥
विज्ञानफलहीनेन किं समाधिशतेन वा।
तस्माद्विज्ञानहीनैस्तैः फलं नास्ति समाधिभिः ॥ १०८ ॥
लोकेऽपि गच्छन् मार्गेषु निर्विकल्पप्रकाशितान्।
भावानविज्ञाय तेषामज्ञानं न निवर्त्तते ॥ १०९ ॥
निर्विकल्पाख्यविज्ञानं ज्ञानमात्रं निजं वपुः।
तत् सर्वदा भासमानमप्यभातविधं ननु ॥ ११० ॥
विकल्पाच्छादनादेव विकल्पानां व्यपोहने।
भासमानमेव भूयो भातकल्पमपूर्वतः ॥ १११ ॥

अधम अधिकारियोंको ज्ञानका फल अनेक जन्मोंके पश्चात् मिलता है। तथा मध्यम अधिकारियोंको क्रमशः श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने होते हैं; तब ज्ञान होता है ॥ १०५ उ०—१०७ पू० ॥

जिसका फल विज्ञान है ऐसी समाधि साधारणतया दुर्लभ ही है। और जिनसे विज्ञानरूप फल प्राप्त न हो ऐसी सैकड़ों समाधियाँ होती रहें तो भी क्या लाभ? इसीसे [व्यवहार-दशामें होनेवाली] उन विज्ञानहीन समाधियोंसे मोक्षरूप फलकी प्राप्ति नहीं होती ॥ १०७ उ०–१०८ ॥

लोकमें भी देखा जाता है कि मार्गमें चलते समय निर्विकल्प[1] मनसे अनेकों वस्तुएँ देखी जाती हैं। परन्तु उन्हें न जाननेके कारण उनके अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती ॥ १०६ ॥

निर्विकल्प ज्ञान तो विशुद्ध ज्ञानमात्र है और वह अपना स्वरूप ही है। वह सर्वदा भासते रहनेपर भी विकल्पोंसे ढका रहने के कारण ही भासित-सा नहीं होता। उन विकल्पों (विशेष कल्पनाओं) की निवृत्ति होनेपर, वह पहलेहीसे भासमान रहते हुए भी, नया-सा भासित होता है ॥ ११०–१११ ॥

---

१. उन वस्तुओंके सम्बन्धमें जिसकी कोई कल्पना नहीं है ऐसे मनसे।

ज्ञानज्ञेयाविभेदेन त्वज्ञातं ज्ञातमुच्यते ।
एवमेष भवेदात्मविज्ञानक्रम उत्तमः ॥ ११२ ॥
ब्रह्मन्नेवं श्रुतं भूयो विचार्य ज्ञातुमर्हसि ।
अथ विज्ञायात्मतत्त्वं कृतार्थस्त्वं भविष्यसि ॥ ११३ ॥
जनकेनैवमादिष्टस्त्वष्टावक्रो महामुनिः ।
पूजितस्त्वभ्यनुज्ञातो गत्वा स्वस्थानमादरात् ॥ ११४ ॥
विचारानुध्यानपूर्वं विज्ञाय परमं पदम् ।
विधूय सर्वसन्देहान् जीवन्मुक्तो भवेद् द्रुतम् ॥ ११५ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे अष्टावक्रीये
सप्तदशोऽध्यायः ।

विशुद्ध ज्ञान और उससे भासित होनेवाले ज्ञेय पदार्थका भेद न जाननेके कारण जो आत्मतत्त्व पहले अज्ञात था [उनका भेद ज्ञात होनेपर] अब वही ज्ञात कहा जाता है। इस प्रकार यही आत्मज्ञानका उत्तम क्रम है ॥ ११२ ॥

ब्रह्मन्! आपने जो यह आत्मज्ञानका क्रम सुना है इसपर बार-बार विचार करनेसे आपको भी ज्ञान हो सकता है। फिर ज्ञान प्राप्त करके आप कृतकृत्य हो जायेंगे" ॥ ११३ ॥

इस प्रकार अष्टावक्र मुनिने जनकसे उपदेश प्राप्त किया, फिर जनकने पूजा करके उन्हें विदा किया। तदनन्तर अपने स्थानपर उन्होंने आदरपूर्वक मनन और निदिध्यासन करके उस परम पदको जान लिया। उनके सभी संशय निवृत्त हो गये और उन्हें तत्काल जीवन्मुक्तपदकी प्राप्ति हो गयी ॥ ११४-११५ ॥

सप्तदश अध्याय समाप्त ।

अष्टादशोऽध्यायः

भार्गवैवं हि सा संविद्वेद्यवन्ध्या निरूपिता।
उपलब्धिदशा तस्या बहुधा संश्रुता ननु ॥ १ ॥
अव्युत्पत्त्या न जानन्ति जना मायाविमोहिताः।
सा दशा भाव्यते सूक्ष्मदृशैव नान्यथा क्वचित् ॥ २ ॥
किं बहूक्तेन ते राम शृणु सारं ब्रवीम्यहम्।
मनसा वेद्यते वेद्यं मनसोऽतो न वेद्यता ॥ ३ ॥
तथा च वेद्यनिर्मुक्तं मनोऽप्यस्तीति सम्भवेत्।
तन्मनो वेद्यनिर्मुक्तवित्तिरित्यभिधीयते ॥ ४ ॥
उपलब्धिस्वरूपत्वाद्विदितैव हि सा सदा।
अन्योपलब्ध्यपेक्षायामान्ध्यं स्यादनवस्थितेः ॥ ५ ॥

अष्टादश अध्याय ॥ १८ ॥

जनक और अष्टावक्रके संवादका शेषभाग

[श्रीदत्तात्रेयजीने कहा—] परशुराम ! इस प्रकार मैंने उस वेद्य-वस्तुविहीन शुद्ध संवित्का निरूपण किया और तुमने व्यवहारमें उसकी उपलब्धिकी अनेकों अवस्थाओंके विषयमें भी सुना ॥ १ ॥

किन्तु मायामोहित पुरुषोंको समझ न होनेके कारण उसकी पहचान नहीं होती। उस स्थितिका ज्ञान तो [अन्तर्मुख मनसे] केवल सूक्ष्मदर्शियोंको ही होता है, अन्य किसी प्रकार नहीं ॥ २ ॥

परशुराम ! अधिक कहनेसे क्या लाभ ? सुनो, मैं सार बात बतलाता हूँ। मनसे तो दृश्य पदार्थ जाने जाते हैं, इसलिये मन दृश्य नहीं है ॥ ३ ॥

परन्तु दृश्य न रहनेपर भी मन रहता है—यह भी निश्चय है। बस, वह वेद्यविहीन मन ही 'शुद्ध संवित्' कहा जाता है ॥ ४ ॥

वह ज्ञानस्वरूप है, इसलिये सर्वदा प्रकाशमान ही है। यदि उसकी उपलब्धिके लिये किसी अन्यकी अपेक्षा मानी जाय तो [उस अन्यके लिये उससे भिन्नकी और उसके लिये उससे भिन्नकी अपेक्षा होगी] इस प्रकार अनवस्था दोष उपस्थित होगा और फिर [कोई स्वयंप्रकाश तत्त्व न रहनेके कारण] सर्वत्र अन्धकार ही शेष रहेगा [अर्थात् किसी भी वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकेगा] ॥ ५ ॥

किञ्चिद्भावं हि संपश्यन्न भासि किमु भार्गव ।
न भासि चेन्न त्वमसि ततः प्रश्नस्तु ते कथम् ॥ ६ ॥
अहो स्वयं खपुष्पात्मा सन् कथं हि तमिच्छसि ।
कथं तवात्मानमहं साधयामि विभावय ॥ ७ ॥
सामान्येन विभान्तं मां न जानामि विशेषतः ।
इति चेद्राम सामान्यमेव ते रूपमव्ययम् ॥ ८ ॥
विशेषलेशरहितमेतावद्ध्येव ते वपुः ।
अहो जानन्नपि पुनरलं मुह्यसि वै वृथा ॥ ९ ॥
भासकं सर्वमपि च विशेषविषयं भवेत् ।
अतः सामान्यरूपस्त्वं विभासि स्वत एव हि ॥ १० ॥
शरीराद्यात्मना भासि चेच्छृणु प्रब्रवीमि ते ।

भृगुनन्दन ! किसी भी पदार्थको देखते समय क्या तुम्हें अपना भान नहीं होता ? यदि नहीं होता तो तुम हो ही नहीं, फिर प्रश्न किस प्रकार करते हो ? ॥ ६ ॥

अजी ! यदि तुम आकाशकुसुमके समान अलीक हो, तो फिर तुम अपनेको जानना क्यों चाहते हो ? सोचो तो, फिर मैं तुम्हारे स्वरूपको सिद्ध ही कैसे कर सकता हूँ ? ॥ ७ ॥

यदि कहो कि मैं सामान्यरूपसे तो भासता हूँ परन्तु विशेषरूपसे अपनेको नहीं जानता, तो यह सामान्य ही तो तुम्हारा अविनाशी स्वरूप है ॥ ८ ॥

जिसमें किसी प्रकारके विशेषका लेश भी नहीं है वही तुम्हारा स्वरूप है । आश्चर्य है, कि इसप्रकार अपनेको जानते हुए भी तुम व्यर्थ ही भ्रममें पड़े हुए हो ॥ ९ ॥

सबको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान भी विशेषविषयक होता है ।[1] अतः तुम तो केवल सामान्यरूप हो और स्वयं ही प्रकाशमान हो ॥ १० ॥

यदि कहो कि मैं शरीरादिरूपसे भासता हूँ, तो सुनो मैं बतलाता

---

१. घट-पट आदि विषयोंको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान उन अपने भास्य विषयोंके द्वारा निरूपित होता है, इसलिये घटज्ञान-पटज्ञान आदि रूपसे वह विशेष-विषयक कहा जाता है । स्वरूपभूत शुद्ध ज्ञान तो विषयविवर्जित है । अतः वह ज्ञानसामान्य है और ज्ञानमात्र होनेके कारण स्वयंप्रकाश ही है ।

शरीरात्मतया भासि सङ्कल्पेनैव नान्यथा ॥ ११ ॥
विभावय सूक्ष्मदृशा सङ्कल्पेऽन्यस्य देहतः।
भाति किं तव देहत्वं देहस्तच्चापि ते भवेत् ॥ १२ ॥
एवं सङ्कल्प्यते यद्यच्छरीरं तत्तदेव हि।
तेन सर्वमयस्त्वं स्याः कथं देहात्ममात्रकः ॥ १३ ॥
तस्माद् दृश्यं तव वपुर्न हि स्याद्व्यभिचारतः।
तस्माद् दृङ्मात्ररूपोऽसि न दृग् दृश्या कदाचन ॥ १४ ॥
सा स्वप्रभा दृश्यरूपविशेषलेशवर्जिता।
देहदेशकालभेदचित्रवैचित्र्यचित्रिता ॥ १५ ॥
तस्मात् सङ्कल्पमात्रस्य वर्जनात् परतः स्थितम्।
शेषं शुद्धचिते रूपं स्वात्मानमुपलक्षय ॥ १६ ॥

हूँ। शरीरादि रूपसे तो तुम शरीरादिका संकल्प होनेपर ही भासते हो, स्वतः नहीं ॥ ११॥

सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करो, जब तुम्हें देहसे भिन्न किसी अन्य वस्तुका संकल्प होता है तब क्या तुम्हें अपनी देहरूपता भासती है? [यदि शरीरके साथ सम्बन्ध भासनेके कारण ही तुम शरीरको अपना स्वरूप मानते हो] तब तो सम्बन्ध होनेके कारण वे अन्य पदार्थ भी तुम्हारे शरीर सिद्ध होंगे ॥ १२ ॥

इस प्रकार तो तुम्हारे द्वारा जिस-जिसका संकल्प होगा वही तुम्हारा शरीर सिद्ध होगा। इस तरह तो तुम सर्वस्वरूप हो जाओगे, फिर केवल एक शरीरमात्र कैसे रहोगे? ॥ १३ ॥

अतः कोई भी दृश्य तुम्हारा स्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि वह परिवर्तनशील होगा। इसलिये तुम ज्ञानमात्र हो ज्ञानके विषय कभी नहीं ॥ १४ ॥

वह स्वरूपभूत ज्ञान स्वयंप्रकाश है, उसमें ज्ञेयरूप विशेषका लेश भी नहीं है तथा [सबका आश्रय होनेके कारण] वह देह, देश और कालभेद रूप चित्रकी विचित्रतासे अंकित है ॥ १५ ॥

अतः संकल्पमात्रके त्यागने पर जो सबसे अतीत शुद्ध चेतनका स्वरूप शेष रह जाता है उसीको तुम अपना आत्मा जानो ॥ १६ ॥

एवं सकृल्लक्षिते तु यत् स्थितं तदलक्षणात् ।
अज्ञानं सर्वसंसारकारणं तद्विलीयते ॥ १७ ॥
न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले ।
सङ्कल्पवर्जनाच्छुद्धस्वरूपस्य प्रथैव सः ॥ १८ ॥
स स्वरूपात्मकत्वात्तु नाऽप्राप्तः स्यात् कदाचन ।
केवलं मोहमात्रस्य निरासेन कृतार्थता ॥ १९ ॥
अन्यो मोक्षो न सम्भाव्यः कृतकत्वाद्विनाश्यते ।
स्वरूपादतिरिक्तश्चेच्छशशृङ्गसमो हि सः ॥ २० ॥
स्वरूपं सर्वतः पूर्णमन्यो मोक्षः क्व सम्भवेत् ।
स्वरूपे सम्भवन् मोक्षो दर्पणप्रतिबिम्बवत् ॥ २१ ॥
लोकेऽपि बन्धविगमादृते मोक्षो न भावितः ।
विगमोऽभाव एव स्यात् सत्यो भावात्मकः कथम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार जब एक बार उसे लख लिया जाता है तो उसमें जो देहादि भासते हैं उनपर दृष्टि न रहनेके कारण सम्पूर्ण संसारका कारण जो अज्ञान है वह लीन हो जाता है ॥ १७ ॥

मोक्ष न आकाशके ऊपर है, न पाताल या भूतलमें है। बस, संकल्पत्यागके द्वारा जो शुद्धस्वरूपमें स्थिति है वही 'मोक्ष' है ॥ १८ ॥

वह स्वरूपभूत ही है, इसलिये कभी अप्राप्त भी नहीं है। केवल मोहमात्रका त्याग होनेपर ही कृतकृत्यता हो जाती है ॥ १९ ॥

इसके सिवा कोई और मोक्ष होना सम्भव नहीं है, क्योंकि वह कृतक (क्रियासाध्य) होनेके कारण नष्ट हो जायगा। और यदि वह स्वरूपसे भिन्न हुआ तो खरगोशके सींगोंके समान अलीक ही होगा ॥ २० ॥

अपना स्वरूप तो सभी ओर परिपूर्ण है, फिर उससे भिन्न कोई अन्य मोक्ष कहाँ हो सकता है ? यदि उसे स्वरूपमें ही माना जाय तब तो वह दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान उससे अभिन्न ही होगा ॥२१॥

लोकमें भी बन्धनकी निवृत्तिके सिवा मोक्ष और कुछ नहीं माना गया। और 'निवृत्ति' अभावरूप ही होती है, अतः अभावात्मक बन्धनिवृत्ति सत्य (भावरूप) कैसे हो सकती है ? ॥ २२ ॥

भावाभावात्मकं वस्तु न हि सम्भवति क्वचित्।
तथा च स्वाप्नभावाश्च भावाभावोभयात्मकाः ॥ २३ ॥
सत्याः स्युर्बाधहेतोस्ते त्वसत्या इति चेच्छृणु।
बाधोऽभावप्रत्ययः स्यात् प्रत्ययाभावकालिकः ॥ २४ ॥
यस्यैवं बाधयोगः स्यात् सोऽसत्यो न हि चेतरः।
अस्ति सर्वस्य दृश्यस्य बाधोऽप्रत्ययकालिकः ॥ २५ ॥
तस्मादसत्यमेव स्यात् भावाभावात्मना स्थितम्।
यस्याभावस्पर्शलेशः कदाचित् कुत्रचिन्नहि ॥ २६ ॥
एवंविधन्तु चित्तत्त्वं सत्यं सर्वात्मना स्थितम्।
तस्माद्विभिन्नमोक्षस्तु न सत्यः स्यात् कथञ्चन ॥ २७ ॥
मोक्षः पूर्णस्वरूपस्य सकृत् प्रथनमुच्यते।
चेत्यवर्जनमात्रेण चितिः पूर्णा प्रकीर्त्तिता ॥ २८ ॥
चेत्याभासनमेवास्याश्चितेः सङ्कोचनं भवेत्।

किसी भी वस्तुका भावाभावात्मक (सत्य और असत्य उभयरूप) होना तो कभी सम्भव ही नहीं है। यदि कहो कि स्वप्नके पदार्थ तो भावाभाव उभयरूप ही हैं, क्योंकि उपलब्ध होनेके कारण वे सत्य हैं और जाग्रत्कालमें बाधित हो जानेके कारण असत्य भी हैं, तो सुनो—॥ २३–२४ पू० ॥

पदार्थकी प्रतीति न होनेके समय जो उसकी अभावात्मिका प्रतीति होती है उसका नाम बाध है। जिसका इस प्रकार बाधसे सम्बन्ध रहता है वह पदार्थ असत्य होता है, अन्य नहीं ॥ २४ उ०–२५ पू० ॥

यह अप्रतीतिकालिक बाध सभी दृश्यवर्गका होता है, अतः भावाभावात्मक रूपसे स्थित सारा दृश्य असत्य ही है ॥ २५ उ०–२६ पू० ॥

किन्तु जिसे कभी किसी अवस्थामें अभावका लेशमात्र भी स्पर्श नहीं होता ऐसा चेतनतत्त्व तो सब प्रकार सत्य ही है। उससे भिन्न जो मोक्ष होगा वह किसी प्रकार सत्य नहीं हो सकता ॥ २६ उ०–२७ ॥

उस पूर्णस्वरूपका निरन्तर स्फुरण ही मोक्ष कहा जाता है। चेत्य पदार्थोंके त्यागमात्रसे चेतन पूर्ण कहा जाता है ॥ २८ ॥

चेत्य पदार्थोंका भासना ही चेतनका संकुचित होना है। जब

चेत्याभाने चितिः पूर्णा परिच्छेदविवर्जनात् ॥ २९ ॥
कालादिभिः परिच्छेदो यदि तस्या निरूप्यते ।
अचेतितः परिच्छेदश्चेतितो वा भवेद्वद ॥ ३० ॥
अचेतने ह्यसिद्धः स्याच्चेतने सैव व्यापिका ।
लोके कालपरिच्छिन्नो भावो यः कोऽपि भावितः ॥ ३१ ॥
भावकालौ परिच्छेद्यपरिच्छेदकतां गतौ ।
चिता व्याप्तौ भवेतां वै यदा तर्हि तथाविधौ ॥ ३२ ॥
अव्याप्तौ तु चिता यर्हि कथं सिद्ध्येत् परिच्छिदिः ।
चितेर्बहिर्यदा चेत्यमस्ति तत् स्यात् परिच्छिदिः ॥ ३३ ॥
चितेर्बहिश्चेत्यसिद्धिः सर्वथा नोपपद्यते ।

चेत्यका भान न रहे तो परिच्छेद न रहनेके कारण चेतन परिपूर्ण ही है ॥ २६ ॥

यदि कोई कहे कि कालादिके द्वारा उसका परिच्छेद हो सकता है, तो बताओ कि वह परिच्छेद चेतनसे अप्रकाशित होगा अथवा प्रकाशित ? ॥ ३० ॥

यदि वह चेतनसे अप्रकाशित होगा तब तो उसकी सिद्धि ही नहीं हो सकती और यदि प्रकाशित होगा तो वह व्यापक चेतन ही होगा। लोकमें जो भी पदार्थ कालपरिच्छिन्न माना जाता है उसमें उस पदार्थ और कालका परिच्छेद्य-परिच्छेदकरूप सम्बन्ध रहता है। किन्तु वे पदार्थ और काल दोनों ही चेतनसे व्याप्त रहते हैं तभी वे उस रूपमें भासते हैं ॥ ३१-३२ ॥

यदि वे चेतनसे व्याप्त न हों तो उनका परिच्छेद भी कैसे सिद्ध होगा[१]। [तथापि चेतन तो व्यापक और अद्वितीय है,] क्योंकि उसका परिच्छेद तो तभी हो सकता है यदि उससे बाहर कोई चेत्य पदार्थ हो ॥ ३३ ॥

किन्तु चेतनसे बाहर तो चेत्यकी सत्ता किसी प्रकार सिद्ध नहीं

---

१. 'चेतनसे व्याप्त न होने' का अर्थ है चेतनसे प्रकाशित न होना। जो वस्तु, भाव या सम्बन्ध चेतनसे प्रकाशित न हो उसका भान किसे होगा और किसीको भी भान न होनेपर उसकी सत्ता कैसे सिद्ध होगी ?

यो बहिः स कथं सिद्ध्येच्चितिसम्बन्धवर्जितः ॥ ३४ ॥
सम्बन्धोऽपि नैकदेशः स्यादसिद्धस्तथेतरः ।
तत्सम्बन्धांशमात्रस्य भानादन्यन्न सिद्ध्यति ॥ ३५ ॥
अतो बहिः पदार्थोऽपि चितिनिर्मग्न इष्यताम् ।
एवं च सर्वात्मनैव मग्नं चेत्यमपीष्यताम् ॥ ३६ ॥
कथं स्वान्तर्विनिर्मग्नं स्वपरिच्छेदकं भवेत् ।
चेत्यमेवंविधं राम विचारय सुयुक्तितः ॥ ३७ ॥
चितेरन्तर्भासमानं प्रतिबिम्बात्मकं भवेत् ।
न भावोदरगोऽभावो भवन् लोके सुदृश्यते ॥ ३८ ॥
भावानां स्याद्धि साङ्कर्यं तथा चेद्राम सर्वतः ।
बहिः पदार्थस्ते प्रोक्तो भ्रममूलो हि सर्वथा ॥ ३९ ॥
तदाश्रयाणां भावानां कथं स्यात् सत्यता वद ।
चितिस्वरूपः स्वात्मैव तत्तद्भावात्मना सदा ॥ ४० ॥

हो सकती; क्योंकि चेतनसे सम्बन्ध न रखकर जो पदार्थ उससे बाहर होगा उसकी सिद्धि कैसे होगी ? ॥ ३४ ॥

वह चेत्य और चेतनका सम्बन्ध भी एक देशमें नहीं माना जा सकता। यदि ऐसा माना जाय तो चेत्यके अन्य अंशकी सिद्धि नहीं हो सकती। उस सम्बन्धित अंशमात्रका भान होनेसे ही अन्य अंश तो सिद्ध नहीं हो जाता ॥ ३५ ॥

अतः बाह्य पदार्थोंको भी चेतनमें डूबे हुए समझो। इस प्रकार चेत्यवर्गको भी सर्वथा चेतनके गर्भमें ही अनुभव करो ॥ ३६ ॥

जो चेत्य अपनेमें ही निमग्न है वह अपना ही परिच्छेदक कैसे हो सकता है ? हे परशुराम ! इस प्रकार युक्तिपूर्वक विचार करो ॥३७॥

जो वस्तु चेतनके भीतर भासती है वह प्रतिबिम्बरूप ही हो सकती है, क्योंकि लोकमें किसी एक पदार्थके भीतर रहनेवाला दूसरा पदार्थ देखा नहीं जाता ॥ ३८ ॥

परशुराम ! यदि ऐसा माना जायगा तब तो सर्वत्र पदार्थोंका घोटाला हो जायगा। यह बात पहले कही ही जा चुकी है कि बाह्य पदार्थ सर्वथा भ्रममूलक हैं। तो बताओ, उस बाह्याभासके आश्रित रहनेवाली वस्तुओंकी सत्यता कैसे सिद्ध हो सकती है ? ॥३९-४० पू०॥

भासते स्वाच्छन्द्यशक्त्या नाधिकं विद्यते क्वचित्।
इति वाक्यं समाकर्ण्य पुनः पप्रच्छ भार्गवः ॥ ४१ ॥
भगवन् भवता प्रोक्तं दुर्घटं प्रतिभाति मे।
शुद्धा चितिर्विचित्रैका भासते इत्यसम्भवात् ॥ ४२ ॥
चितिश्चेत्यमिति द्वेधा वस्तु सर्वैर्विभावितम्।
तत्र चेत्यं चिता भास्यं स्वप्रभा चितिरस्तु वै ॥ ४३ ॥
यथा लोकभातमपि वस्तु तद्भिन्नमस्ति वै।
एवं चिता भासितं तु चेत्यमस्तु पृथग्विधम् ॥ ४४ ॥
चेत्यं चिदात्मकमिति नानुभूतिं समारुहेत्।
अथ च प्रागभिहितं जनकेन महात्मना ॥ ४५ ॥
सङ्कल्पवर्जनादेव निर्विकल्पं मनो भवेत्।
तदेव निर्विकल्पं स्याज्ज्ञानं संसारनाशनम् ॥ ४६ ॥

अतः चेतनस्वरूप अपना आत्मा ही अपनी स्वातन्त्र्यशक्तिके द्वारा उस-उस वस्तुके रूपमें सदा भास रहा है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है ॥ ४० उ०–४१ पू० ॥

दत्तात्रेयजीका यह उपदेश सुनकर परशुरामजीने फिर पूछा—"भगवन्! आप जो कुछ बता रहे हैं वह तो मुझे असम्भव-सी बात जान पड़ती है। एक शुद्ध चेतन ही अनेक रूपमें भास रहा है—ऐसा तो हो नहीं सकता ॥ ४१ उ०–४२ ॥

चेतन और चेत्य—ये तो सभीने दो तत्त्व माने हैं। इनमें चेत्य चेतनसे भासित होता है, अतः चेतनका स्वयंप्रकाश होना तो ठीक है ॥ ४३ ॥

लोकमें जिस प्रकार भासित होनेवाली वस्तु भासकसे भिन्न होती है वैसे ही चेतनसे भासित चेत्यका उससे पृथक् होना भी उचित ही है। किन्तु चेत्य चेतनस्वरूप है—यह बात तो अनुभवमें नहीं आती ॥ ४४–४५ पू० ॥

इसके सिवा महात्मा जनकने जो पहले कहा कि संकल्प त्याग देनेसे ही मन निर्विकल्प हो जाता है। यही संसारकी निवृत्ति करनेवाला निर्विकल्प ज्ञान है और यही आत्माका भी स्वरूप है—

तदेव ह्यात्मनो रूपमित्युक्तं तत् कथं भवेत्।
आत्मनो हि मनः प्रोक्तं करणं ज्ञानकर्मणि ॥ ४७ ॥
मनो यद्यात्मनो न स्याद्विशिष्येत जडात् कथम्।
मनो जडाद्विशेषः स्यादात्मनो भगवन्ननु ॥ ४८ ॥
मनसैव हि बन्धः स्यान्मोक्षो वाऽप्यात्मनः स्फुटम्।
सविकल्पं मनो बन्धो मोक्षः स्यान्निर्विकल्पकम् ॥ ४९ ॥
तत् कथं मन एवात्मा करणं हि मनः स्मृतम्।
निर्विकल्पस्य संसिद्धावपि द्वैतं तु शिष्यते ॥ ५० ॥
अथापि लोके दृष्टोऽस्ति यस्य भ्रान्तिरसन् हि सः।
न हि भ्रान्तिरसत्या स्यात्तदद्वैतं कथं भवेत् ॥ ५१ ॥
अर्थक्रिया न क्वचिच्च दृष्टा सत्येन वस्तुना।

सो ऐसा कैसे हो सकता है, क्योंकि ज्ञानरूप क्रियामें मन तो आत्माका करण कहा गया है ॥ ४५ उ०-४७ ॥

यदि आत्माके पास मन न हो तो जडवर्गसे उसका अन्तर कैसे होगा? भगवन्! आत्माका जो जडवर्गसे भेद है उसका कारण मन ही तो है ॥ ४८ ॥

तथा यह भी स्पष्ट है कि मनके कारण ही आत्माके बन्धन और मोक्ष होते हैं। सविकल्प मन ही आत्माका बन्धन है और निर्विकल्प ही उसका मोक्ष है ॥ ४६ ॥

ऐसी अवस्था में मन ही आत्मा कैसे हो सकता है? मन तो उसका करण ही माना गया है। अतः निर्विकल्प मन मोक्षमें कारण हो भी तो भी [आत्मा और मन-यह] द्वैत तो रहता ही है ॥ ५० ॥

लोकमें यह भी देखा गया है कि जिस वस्तुकी भ्रान्ति होती है वही असत्य होती है। स्वयं भ्रान्ति तो असत्य नहीं होती[1]। ऐसी अवस्थामें द्वैतका अभाव कैसे हो सकता है ॥ ५१ ॥

जो वस्तु असत्य होती है उसके द्वारा कभी व्यवहार होता भी

---

१. तात्पर्य यह कि जैसे रज्जुमें सर्पकी भ्रान्ति होती है तो उसमें सर्प ही असत्य होता है, भ्रान्ति होने की घटना तो असत्य नहीं होती। अतः द्वैतका सर्वथा अभाव तो नहीं हुआ।

सर्वं हि जागतं वस्तु स्थिरमर्थक्रियाकरम् ॥ ५२ ॥
तदसत्यं कथं ब्रूहि यतोऽद्वैतं प्रसिद्ध्यति ।
सर्वं च भ्रान्तिविज्ञानं भ्रान्त्यभ्रान्तिभिदा कथम् ॥ ५३ ॥
भ्रान्तिः सर्वसमा वापि कथं स्याद् ब्रूहि मे गुरो ।
सन्देह एष विरतो हृदि मे परिवर्त्तते ॥ ५४ ॥
इत्येवं प्रश्नमाकर्ण्य दत्तात्रेयः समस्तवित् ।
साधुप्रश्नप्रहृष्टात्मा प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ ५५ ॥
राम साधु त्वया पृष्टं प्रोक्तप्रायमिदं पुनः ।
यावन्न मनसस्तोषस्तावद् भूयो विशोधयेत् ॥ ५६ ॥
गुरुर्वापि कथं ब्रूयादपृष्टस्तन्मनोगतम् ।
प्राणिनां हि बुद्धिभेदात्तर्कः पृथगवस्थितः ॥ ५७ ॥
अपृष्ट्वा स्वस्वाऽभिमतं कः सन्देहाद्विमुच्यते ।

नहीं देखा गया। किन्तु संसारके सब पदार्थ तो स्थिर हैं और उनके द्वारा व्यवहार भी चल रहा है ॥ ५२ ॥

बताइये, वे असत्य कैसे हो सकते हैं, जिससे कि अद्वैतकी सिद्धि हो। यदि सारा ज्ञान भ्रान्तिरूप है तो इसमें भ्रान्ति और अभ्रान्तिका भेद भी कैसे होगा ? ॥ ५३ ॥

साथ ही, गुरुदेव ! यह भी बताइये कि यह भ्रान्ति सबको समान रूपसे क्यों भासती है ? मेरे हृदयमें यह बड़ा भारी सन्देह चक्कर काट रहा है" ॥ ५४ ॥

ऐसा प्रश्न सुनकर सर्वज्ञ दत्तात्रेयजीको इस सुन्दर प्रश्नके कारण बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने कहना आरम्भ किया—॥ ५५ ॥

"परशुराम ! तुमने सुन्दर प्रश्न किया। ये बातें प्रायः कही जा चुकी हैं। तथापि जबतक अपने मनको सन्तोष न हो तबतक बार-बार इनपर विचार करना ही चाहिये ॥ ५६ ॥

यदि पूछा न जाय तो गुरु भी शिष्यके मनमें छिपे सन्देहके विषयमें किस प्रकार कह सकते हैं। प्राणियोंकी बुद्धियाँ अनेक प्रकार की हैं, अतः उनके समाधानके लिये युक्तियाँ भी अलग-अलग हैं ॥ ५७ ॥

अतः अपने-अपने आशयके विषयमें प्रश्न किये बिना भला कौन

प्रष्टुर्विद्या हि सुदृढा प्रश्नो बीजं निरूपणे ॥ ५८ ॥
अप्रष्टुर्नैव विद्या स्यात् पृष्ट्वा विद्यात्ततो गुरुम् ।
चितिरेकैव वैचित्र्याद्भासते इति सम्भवेत् ॥ ५९ ॥
एकरूपो यथाऽऽदर्शः प्रतिबिम्बादनेकधा ।
पश्य स्वाप्नविकल्पादौ मन एकं हि केवलम् ॥ ६० ॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यात्मवैचित्र्येण विभाति हि ।
एवं शुद्धैव सा संविद्विचित्राकारभासिनी ॥ ६१ ॥
चितिश्चेत्यमिति द्वेधा स्वप्नेऽपि हि विभासते ।
आलोकमन्तरा त्वन्धो भावं जानाति वै ननु ॥ ६२ ॥
अन्धस्याभासमानश्च रूपं भाति स्मृतौ किल ।
नैवं चितेरभाने किं कदा कुत्र विभासते ॥ ६३ ॥

सन्देहसे छूट सकता है ? विद्या तो पूछनेवालेकी ही पक्की होती है, वास्तवमें प्रश्न ही निरूपणका बीज है। जो प्रश्न नहीं करता उसे विद्या (ज्ञान) प्राप्त नहीं होती, अतः प्रश्न करके ही गुरुदेवसे विद्या प्राप्त करनी चाहिये ॥ ५८-५९ पू० ॥

एक ही चैतन्य अनेकरूपोंमें भास रहा है—यह बात इसी प्रकार सम्भव है जैसे दर्पण एकरूप होनेपर भी प्रतिबिम्बके कारण अनेकरूप जान पड़ता है ॥ ५९ उ०-६० पू० ॥

देखो, स्वप्न और मनोराज्य आदिमें केवल एक ही मन द्रष्टा; दर्शन और दृश्य आदि अनेक रूपोंमें भासता ही है। इसी प्रकार वह संवित् शुद्ध होनेपर भी अनेक रूपोंमें भासनेवाली है। स्वप्नमें भी चिति और चेत्य-ये दो भेद भासते ही हैं। [यदि यह द्वैत स्वप्नमें मिथ्या है तो जाग्रत्में क्यों नहीं है ?] ॥ ६० उ०-६२ पू० ॥

[तुमने कहा कि प्रकाश और घटादिके समान भासक और भास्य दोनोंहीकी सत्ता है, सो यह बात नहीं है, क्योंकि घटादि तो नेत्र या प्रकाश न होनेपर भी अन्य साधनोंसे भास जाते हैं; जैसे—] अन्धा आदमी प्रकाश न होनेपर भी वस्तुओंको स्पर्शादिके द्वारा जान ही लेता है तथा अन्धे आदमीको रूपका भान न होनेपर भी स्मृतिमें उसका भान होता ही है; किन्तु चेतनके विषयमें ऐसी बात नहीं है, चेतनका भान न होनेपर भला कब किसीको कहीं किसी वस्तुका भान हुआ है ? ॥ ६२ उ०-६३ ॥

यथाऽऽदर्शं विना किञ्चित् प्रतिबिम्बं न भाति वै।
आदर्शान्नातिरिक्तोऽतः प्रतिबिम्बो भवेद्यथा ॥ ६४ ॥
एवं चितिमृते किञ्चिदतिरिक्तं न विद्यते।
अतएव मनोऽप्यन्यत् सर्वथा नास्ति वै चितेः ॥ ६५ ॥
यथा स्वप्ने मनस्तद्वज्जाग्रत्यपि मनो न हि।
कल्पितं कार्यसंसिद्ध्यै करणं केवलं मनः ॥ ६६ ॥
यथा स्वाप्नः कुठारः स्यात् करणं तरुछेदने।
राम क्रियाऽसत्यरूपा सत्यं तत् करणं कथम् ॥ ६७ ॥
असता नरशृङ्गेण कः कदा सुविदारितः।
तस्मान्नास्ति मनो राम चासत्कार्यस्य कारणम् ॥ ६८ ॥
स्वप्ने दृशिः क्रिया कार्यं कारणं मन उच्यते।
यथा तथा सर्वदापि मनो नास्ति क्रियाकरम् ॥ ६९ ॥

जिस प्रकार दर्पणके बिना कोई भी प्रतिबिम्ब नहीं भासता और इसीसे जैसे दर्पणसे भिन्न प्रतिबिम्ब है ही नहीं, इसी प्रकार चेतनके बिना और चेतनसे भिन्न कुछ भी नहीं है। अतः मन भी चेतनसे भिन्न बिलकुल नहीं है ॥ ६४–६५ ॥

जैसे स्वप्नमें [स्वाप्न पदार्थोंसे भिन्न] मन नहीं है उसी प्रकार जाग्रत्में भी मनकी पृथक् सत्ता नहीं है। स्वप्नके समान जाग्रत्में भी कार्यनिर्वाहके लिये करणरूपसे मन की कल्पना हो जाती है ॥६६॥

जिस प्रकार स्वप्नमें पेड़ काटनेके लिये स्वप्नकी ही कुल्हाड़ी होती है [वैसे ही मन भी कल्पित ही होता है]। परशुराम ! यदि स्वप्नकी क्रिया असत्य है तो उसका साधन ही कैसे सत्य हो सकता है ॥ ६७ ॥

मनुष्यके सींग होता ही नहीं। फिर उस अलीक नरशृंगसे कोई कब विदीर्ण हो सकता है। अतः परशुराम ! स्वप्नमें असत्य कार्यका कारण मन है ही नहीं ॥ ६८ ॥

स्वप्नमें जैसे दृक्शक्ति ही क्रियारूप कार्य और उसका कारण मन कही जाती है उसी प्रकार सर्वदा ही जाग्रत् कालमें भी क्रिया करनेवाला मन वास्तवमें नहीं है ॥ ६९ ॥

चिदात्मा केवलः स्वच्छः स्वाच्छन्द्यान्मन आदिकम् ।
परिकल्प्य व्यवहरेत् दृश्यद्रष्ट्रादिभेदतः ॥ ७० ॥
क्वचित् क्वचित् केवलं तु निर्विकल्पात्मना स्थितः ।
शृणु भार्गव चित्तत्त्वं परिपूर्णमपि स्वयम् ॥ ७१ ॥
नाकाशतुल्यं चैतन्यात् स्वप्रकाशमतः स्थितम् ।
आकाशश्च चिदात्मा च न विलक्षणतां गतौ ॥ ७२ ॥
पूर्णः सूक्ष्मो निर्मलश्चाजोऽनन्तोऽपि निराकृतिः ।
सर्वाधारोऽप्यसङ्गात्मा सर्वान्तरबहिर्भवः ॥ ७३ ॥
विशेषस्तत्र चैतन्यमाकाशे तन्न विद्यते ।
वस्तुतश्चैतन्यपूर्ण आत्मैवाकाश उच्यते ॥ ७४ ॥
नह्यात्माकाशयोर्भेदो लेशतोऽपि हि विद्यते ।
य आकाशः स आत्मैव यश्चात्माऽऽकाश एव सः ॥ ७५ ॥
अज्ञाः पश्यन्त्यात्मरूपमाकाशमिति वै भ्रमात् ।

केवल शुद्ध चिदात्मा ही अपने स्वातन्त्र्यसे मन आदिकी कल्पना करके कभी तो द्रष्टा और दृश्य आदि भेदरूपसे व्यवहार करता है और कभी केवल निर्विकल्प रूपसे स्थित रहता है ॥ ७०-७१ पू० ॥

भृगुनन्दन ! सुनो, चित्तत्त्व स्वयं परिपूर्ण होनेके कारण आकाश के समान नहीं है। इसीसे वह स्वयंप्रकाश भी है। [आकाशकी तरह जड नहीं है।] इसके सिवा आकाश और चिदात्मामें कोई और भेद नहीं है ॥ ७१ उ०-७२ ॥

आकाशकी तरह चिदात्मा भी परिपूर्ण, सूक्ष्म, निर्मल, अजन्मा, अनन्त, निराकार, सबका आधार, असङ्ग और सबके भीतर-बाहर रहनेवाला है। उसमें विशेषता केवल चैतन्यकी ही है, आकाशमें यह गुण नहीं है। वास्तवमें तो चैतन्यसे पूर्ण आकाश ही 'आत्मा' कहा जाता है ॥ ७३-७४ ॥

आकाश और आत्माका और कोई लेशमात्र भी अन्तर नहीं है। जो आकाश है वही आत्मा है और जो आत्मा है वही आकाश है ॥ ७५ ॥

अज्ञानी लोग भ्रमवश आत्माके स्वरूपको ही आकाशरूपमें देखते हैं;

सौरालोकं यथोलूकस्तमोमात्रं प्रपश्यति ॥ ७६ ॥
आकाशमेव विज्ञास्तु पश्यन्त्यात्मचिदात्मकम् ।
परा चितिः परेशानी स्वच्छस्वातन्त्र्यवैभवात् ॥ ७७ ॥
अवभासयदात्मानं परिच्छिन्नमनेकधा ।
यथा राम स्वमात्मानं स्वप्ने बहुविधं पृथक् ॥ ७८ ॥
मनुष्यादिविभेदेन भासयत्येवमेव हि ।
अनेकधावभासोऽपि परिच्छिन्नदृशैव हि ॥ ७९ ॥
स्वयं स्वदृष्ट्या पूर्णात्मरूपिण्येव परा चितिः ।
ऐन्द्रजालिक एकोऽपि स्वमात्मानमनेकधा ॥ ८० ॥
भासयंस्तत्र द्रष्टृणां स्वदृष्ट्या भासयेत् स्वयम् ।
एक एव निर्विकार एवं सा परमा चितिः ॥ ८१ ॥
शुद्धैकरूपभासापि परिच्छिन्ना ह्यनेकधा ।
परिच्छिन्नस्वरूपाणां भासयेन्मायया वृता ॥ ८२ ॥

जैसे उल्लू सूर्यके प्रकाशको ही अन्धकाररूपमें देखा करते हैं ॥ ७६ ॥

ज्ञानी पुरुष तो आकाशको ही चेतन आत्माके रूपमें देखते हैं। भगवती पराचिति अपने निर्दोष स्वातन्त्र्यके बलसे अपने स्वरूपको ही अनेक प्रकारसे परिच्छिन्न रूपोंमें प्रकट करती है, जिस प्रकार कि परशुरामजी ! स्वप्नावस्थामें वह मनुष्यादि अनेकों रूपोंमें स्वयं ही भासित हुआ करती है ॥ ७७-७६ पू० ॥

उसका यह अनेकरूपसे भासना भी परिच्छिन्न दृष्टिसे ही है। स्वयं अपनी दृष्टिमें तो वह पराचिति परिपूर्ण आत्मस्वरूपिणी ही है ॥ ७६ उ०-८० पू० ॥

जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक (जादूगर) अकेला होनेपर भी अपनेको दर्शकोंके प्रति अनेकों रूपोंमें आभासित करनेपर भी अपनी दृष्टिसे तो स्वयं अकेला ही रहता है ॥ ८० उ०--८१ पू० ॥

इसी प्रकार वह पराचिति एक और निर्विकार ही है तथा [अपनी दृष्टिमें] शुद्ध एकरूपमें ही भासती भी है, तथापि मायासे आवृत होनेपर वह परिच्छिन्न होकर अनेकों परिच्छिन्न रूपोंको भासित करने लगती है ॥ ८१ उ०--८२ ॥

मायावरणमप्येतत् परिच्छिन्नदृशो भवेत्।
यथैन्द्रजालिको मायावृतश्चान्यदृशो भवेत् ॥ ८३ ॥
मायापरचितोऽत्यन्तं स्वातन्त्र्यमतिदुर्घटम्।
लोकेऽपि योगिनोऽन्ये च मान्त्रिका ऐन्द्रजालिकाः॥ ८४ ॥
आच्छादितं स्वस्वातन्त्र्यं प्राप्य किञ्चित् सुयुक्तितः।
दुर्घटं घटयन्त्येव ततो नैतद्विचित्रितम् ॥ ८५ ॥
एवं परचितेः स्वच्छस्वातन्त्र्यात् स्वात्मनो वपुः।
अनेकधा परिच्छिन्नं भासितं भृगुनन्दन ॥ ८६ ॥
परिच्छेदोऽभिमानस्य त्वेकदेशे सुविभ्रमः।
साऽप्यपूर्णत्वविख्यातिर्याऽविद्या परिगीयते ॥ ८७ ॥
अत्र मुह्यन्ति बहवस्तार्किकाः पण्डिता अपि।
स्वात्मानमनुदाहृत्य बहिर्दृष्टितया स्थितेः ॥ ८८ ॥

उसका यह मायारूप आवरण भी परिच्छिन्न दृष्टिवालोंके लिये ही है, जैसे ऐन्द्रजालिक दूसरोंकी दृष्टिमें ही मायासे आवृत होता है ॥ ८३ ॥

पराचितिका परमस्वातन्त्र्य ही माया है। यह अत्यन्त दुर्घट है।[1] लोकमें भी योगी लोग तथा दूसरे मान्त्रिक आदि थोड़ा-सा संकुचित सामर्थ्य पाकर किसी युक्तिसे न होनेवाली बातें करके दिखा ही देते हैं। अतः पराचितिके लिये यह कोई विचित्र बात नहीं है ॥ ८४--८५ ॥

परशुरामजी! इस प्रकार पराचितिके निर्मल स्वातन्त्र्यके कारण अपना ही स्वरूप अनेक प्रकारसे परिच्छिन्न होकर भासने लगा है ॥८६॥

अभिमानका किसी एक देशमें टिक जाना ही 'परिच्छेद' है। वही अपूर्णत्वबुद्धि भी है, जिसे 'अविद्या' नामसे कहा जाता है ॥८७॥

अपने आत्माका अनुसन्धान न करने तथा बाह्य दृष्टिसे स्थित रहनेके कारण इस विषयमें अनेकों तार्किकों और पण्डितोंको भी भ्रम हो जाता है ॥ ८८ ॥

---

१. अर्थात् असम्भव बातोंको भी सम्भव कर देनेवाला है।

गुरूपदिष्टं यत् किञ्चित् सद्वाप्यसदपीतरत् ।
अनुदाहृत्य चात्मानं यावन्न ह्यवलोकयेत् ॥ ८९ ॥
तावन्न फलमाप्नोति परोक्षात्मतया श्रुतेः ।
अतो मयोक्तं राम त्वं सम्पश्यात्मनि सद्दृशा ॥ ९० ॥
चितिर्या परमा देवी सर्वसामान्यरूपिणी ।
सा प्रकाशमयी यस्माज्जडव्यावृत्तरूपिणी ॥ ९१ ॥
अतः स्वात्मनि विश्रान्तिस्त्वहन्ता पररूपिणी ।
जडाश्चिदात्मविश्रान्ताश्चिदात्मनि विभासतः ॥ ९२ ॥
न स्वरूपे स्वतो भान्ति तस्मान्न स्वात्मविश्रमः ।
चितेस्तु केवलं स्वस्मिन्ननन्यापेक्षया सदा ॥ ९३ ॥
भासमानत्वतः स्वस्मिन् विश्रान्तिरुपपद्यते ।
पूर्णाहन्ता परा सेयं या जडेषु न विद्यते ॥ ९४ ॥

गुरुदेवने सत्, असत् अथवा किसी अन्यरूपसे जो कुछ बतलाया है उसे जबतक आत्मानुसंधान करते हुए नहीं देखा जायगा तबतक केवल परोक्षरूपसे सुन लेनेसे ही मोक्ष रूप फलकी प्राप्ति नहीं होगी। इसलिये परशुराम! मैंने जो कुछ कहा है उसे तुम अन्तर्मुखी दृष्टिसे अच्छीतरह अनुभव करो ॥ ८९–९० ॥

सम्पूर्ण पदार्थोंके विशेष अंशोंको त्यागकर उनमें सामान्यरूपसे भासनेवाली परमा देवी जो चिति है वही प्रकाशस्वरूपा है क्योंकि उसके स्वरूपमें जडताका सर्वथा निषेध है ॥ ९१ ॥

अतः वह स्वस्वरूपमें विश्रान्तिस्वरूपा है तथा पराहन्तारूपिणी है। जड पदार्थ उस चित्स्वरूपामें ही विश्रान्त हैं, चिदात्माके आश्रयसे ही उनका भान होता है ॥ ९२ ॥

वे अपने स्वरूपमें स्वयं प्रकाशित नहीं होते, इसलिये उनकी अपनेमें ही विश्रान्ति (स्थिति) नहीं है। केवल शुद्ध चितिकी ही अपनेमें विश्रान्ति होनी सम्भव है, क्योंकि वह किसी अन्यकी अपेक्षा न करके सर्वदा अपने स्वरूपमें ही प्रकाशमान है। यही श्रेष्ठ पूर्णाहन्ता है, जो कि जड पदार्थोंमें नहीं है ॥ ९३–९४ ॥

व्यावृत्तिः स्पर्शहीनेयं परिच्छेदविवर्जनात् ।
सर्वमस्यां यतः संस्थमादर्शे नगरं यथा ॥ ९५ ॥
व्यावृत्तिर्वा परिच्छेदः कथं केन हि सम्भवेत् ।
एवं पूर्णस्वरूपायाः पूर्णं यत्स्फुरणं स्थितम् ॥ ९६ ॥
तदेव स्वात्मविश्रान्तिः पूर्णाहन्ता च कथ्यते ।
अखण्डैकरसं ह्येतदेतावद्राम वै भवेत् ॥ ९७ ॥
निरूपणे बहुविधमिव तत् प्रतिभासते ।
एतावदेव स्वातन्त्र्यं यतः शक्तिर्हि तन्मयी ॥ ९८ ॥
प्रकाशस्तेजसो यद्वदौष्ण्यं चैवापृथक् स्थितम् ।
एवं स्वातन्त्र्यविश्रान्तिसहितैकरसात्मिका ॥ ९९ ॥
इयमेव हि मायाख्या शक्तिः परमदुर्घटा ।
आदर्शवद्यत्स्वरूपे चिदेकरसरूपिणी ॥ १०० ॥

[इसमें अन्य सभीका अभाव है] इसलिये यह व्यावृत्ति सब प्रकारके परिच्छेदसे शून्य होनेके कारण भेदके स्पर्शमें रहित है; क्योंकि दर्पणमें प्रतिबिम्बित नगरके समान सब कुछ इसीमें भास रहा है ॥ ९५ ॥

फिर इसकी व्यावृत्ति या परिच्छेद किसीके द्वारा कैसे हो सकते हैं। इस प्रकार इस पूर्णस्वरूपाका जो पूर्णरूपसे स्फुरित होना है वही स्वात्मविश्रान्ति या पूर्णाहन्ता कही जाती है। परशुराम ! ऐसी यह चिति सचमुच अखण्ड एकरस ही है ॥ ९६–९७ ॥

केवल निरूपण (चर्चा) के समय ही वह अनेक रूप-सी भासने लगती है । यही उसका स्वातन्त्र्य है और वास्तवमें तो उसका वह परमस्वातन्त्र्यरूप सामर्थ्य भी तद्रूप ही है, [उससे भिन्न नहीं] ॥ ९८ ॥

जिस प्रकार अग्निमें प्रकाश और उष्णता उससे अभिन्न ही रहते हैं उसी प्रकार इन स्वातन्त्र्य और विश्रान्तिके सहित वह एकरसरूपा ही है ॥ ९९ ॥

यही असम्भवको भी सम्भव कर देनेवाली माया नामकी शक्ति है, जो दर्पणकी तरह अपने स्वरूपमें एकरस चित्स्वरूपिणी रहते हुए

सत्यप्यनेकवैचित्र्याभासनेन विभासते ।
तथा भासनकालेऽपि स्वरूपादनिवर्त्तनम् ॥ १०१ ॥
परिच्छेदावभासो यः सोऽनात्माभास उच्यते ।
साऽविद्या जडशक्तिः सा शून्यं प्रकृतिरेव च ॥ १०२ ॥
अत्यन्ताभाव आकाशस्तमः प्रथमसर्गकः ।
सर्वं तदेव संप्रोक्तं परिच्छेदनमादिमम् ॥ १०३ ॥
राम यः परिपूर्णात्मा विश्रमो वै समास्थितः ।
तस्यैकदेशताभ्रान्तिकृतमाकाशभासनम् ॥ १०४ ॥
अत आत्मप्रदेशो य आत्माभिमतिवर्जितः ।
आकाशः स हि सम्प्रोक्तः स हि संसारकारणम् ॥ १०५ ॥
एष एव भवेद्भेदः पशुदृष्ट्यैकगोचरः ।
राम सूक्ष्मदृशा पश्य य आकाशस्त्वयेक्ष्यते ॥ १०६ ॥
तत्रत्यजीवराशीनामात्मा चैतन्यमेव सः ।
यथान्यदेहेष्वाकाशो भासते यः सदा तव ॥ १०७ ॥

ही अनेकों विचित्र आभासोंके रूपमें भासने लगती है। और इस प्रकार भासनेके समय भी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होती ॥१००-१०१॥

इसमें जो परिच्छेदोंकी प्रतीति होती है वही अनात्माभास कही जाती है। तथा वही अविद्या, जडशक्ति, शून्य और प्रकृति भी कहलाती है ॥ १०२ ॥

उसका वह प्रथम परिच्छेद ही अत्यन्ताभाव, आकाश, तप और प्रथम सर्ग कहा जाता है ॥ १०३ ॥

परशुराम ! इसकी जो पूर्णाहन्तारूप विश्रान्ति है उसीमें एक-देशताकी भ्रान्ति होनेसे आकाशका भान होने लगता है ॥ १०४ ॥

अतः आत्माका जो प्रदेश आत्माभिमान (अहंभाव) से रहित है वही आकाश कहा जाता है और वही संसारका कारण है ॥ १०५ ॥

यह आकाश ही अज्ञानियोंकी दृष्टिसे दिखायी देनेवाला भेद है। [और भेद ही संसारका मूल है, इसीसे इसे संसारका कारण कहा है।] परशुराम ! तुम सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करो। तुम जो आकाश देखते हो वही तो उसमें रहनेवाले जीवसमूहका चैतन्य आत्मा है ॥ १०६-१०७ पू० ॥

स एव तेषामात्मा स्याच्चिदानन्दघनात्मकः।
एवं स्वकल्पिताकाशग्रस्तं यच्चिद्वपुः स्थितम् ॥ १०८ ॥
तदेव मन इत्युक्तमात्मैव न हि चेतरत्।
तत्रावरणमुख्यत्वात् प्रमाणं मन उच्यते ॥ १०९ ॥
आवृतप्राधान्यतस्तु प्रमाता जीव उच्यते।
एवमाकाशावृतोऽपि चिदात्मा भूय एव तु ॥ ११० ॥
आकाशे कोमलेऽत्यन्तशिथिले निर्घनेऽमले।
कठिनश्लिष्टघनतामालिन्यानां प्रकल्पनैः ॥ १११ ॥
भूतान्याभास्य देहात्मा देहेनापि समावृतः।
कुम्भोदरगतो दीप उदरं व्याप्य भासते ॥ ११२ ॥
एवमेष शरीरान्तरवभासनमात्रकः।
आस्ते गूढप्रदीपात्मा तदन्तर्मात्रभासनः ॥ ११३ ॥

जिस प्रकार दूसरोंके शरीरोंमें जो आकाश प्रतीत होता है वही उनका चिदानन्दघनस्वरूप आत्मा है और वही सर्वदा तुम्हारा भी आत्मा है ॥ १०७ उ०–१०८ पू० ॥

इस प्रकार जो चैतन्यस्वरूप हमारे कल्पित आकाशसे व्याप्त है वही 'मन' कहा गया है और वही आत्मा भी है, कोई अन्य नहीं ॥ १०८ उ०–१०९ पू० ॥

आवरण करनेवाली जडशक्तिकी प्रधानतासे उसे प्रमाणरूप मन कहते हैं और आवृत होनेवाली चित्शक्तिके प्राधान्यसे वही प्रमाता जीव कहा जाता है ॥ १०९ उ०–११० पू० ॥

इस प्रकार आकाशसे आवृत हुआ भी चिदात्मा फिर पञ्चभूतोंसे आवृत हो जाता है। आकाश अत्यन्त कोमल, शिथिल, विरल और निर्मल है; किन्तु उसमें कठिनता, संश्लेष, सघनता और मलिनता-की कल्पनासे पञ्चभूत प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार देहसे आवृत होकर यह देहात्मा घड़ेके भीतर रखे हुए दीपककी तरह शरीरके भीतर व्याप्त होकर प्रकाशित होने लगता है ॥ ११० उ०–११२ ॥

इस प्रकार यह आत्मा शरीरके भीतरी भागको ही प्रकाशित करता है, जैसे घड़ेके भीतर रखा हुआ दीपक उसके भीतरी भागको प्रकाशित किया करता है ॥ ११३ ॥

दीपप्रभा घटच्छिद्राद्यथा निर्याति वै बहिः ।
एवमक्षद्वारमुखाद् भूयो निर्याति वै चितिः ॥ ११४ ॥
निर्याणं तु चितेर्नास्ति पूर्णत्वादक्रियत्वतः ।
स्वात्मावरणमाकाशं स्फूर्तिशक्तिश्चिदात्मनः ॥ ११५ ॥
यावन्निवारयेत्तावन्निर्याणं प्रविभासते ।
मनोव्यापार एष स्यात् स्फूर्त्त्यापहतिरावृतेः ॥ ११६ ॥
तस्माद्राम मनो नान्यदात्मैव मन उच्यते ।
चला चितिर्मनोनाम्नी निश्चलात्मस्वरूपिणी ॥ ११७ ॥
आवृत्त्यभिहतिः स्फूर्त्त्या चलनं राम वै चितेः ।
एतदेव विकल्पः स्याद्विकल्पपरिवर्जने ॥ ११८ ॥
निर्विकल्पं पूर्णरूपं विज्ञानं मुक्तिनामकम् ।
राम त्यजात्र सन्देहं विकल्पस्य विवर्जने ॥ ११९ ॥
अप्यावरणदोषः स्यादिति नास्त्येव चावृतिः ।
आवृतिर्न हि सत्यास्ति यतः स्वेनैव कल्पिता ॥ १२० ॥

जिस प्रकार घड़ेके छिद्रोंमें होकर दीपकका प्रकाश बाहर निकलता रहता है, उसी प्रकार फिर यह चिदात्मा इन्द्रियद्वारोंसे होकर बाहर निकलने लगता है ॥ ११४ ॥

चेतन पूर्ण और अक्रिय है, इसलिये उसका कहीं आना-जाना नहीं हो सकता। किन्तु जब चिदात्माकी चेतनशक्ति अपने आवरण आकाशको अलग करती है तो उसका निकलना भासने लगता है। चेतनके द्वारा यह आवरणकी निवृत्ति ही मनका व्यापार है ॥ ११५–११६ ॥

इसलिये परशुराम! मन कोई अन्य पदार्थ नहीं है, आत्मा ही मन कहा जाता है। चलायमान चेतनका नाम मन है और निश्चल चेतन आत्मस्वरूप है ॥ ११७ ॥

चितिशक्तिके स्फुरणद्वारा आवरणका हटना ही चेतनका चलन है। यही विकल्प है। विकल्पका त्याग होनेपर जो निर्विकल्प पूर्ण विज्ञान रहता है उसीका नाम मुक्ति है ॥ ११८–११९ पू० ॥

परशुराम! तुम यह सन्देह त्याग दो कि विकल्पका त्याग होनेपर भी आवरणदोष फिर हो सकता है; क्योंकि आवरण तो है ही नहीं

यथा मनोरथे बद्धः केन चिच्छत्रुणा स्वयम्।
ताड्यमानस्तर्ज्यमानो यावत् सङ्कल्पवर्जनम् ॥ १२१ ॥
कुर्यात्तावत्ताडनं वा तर्जनं वापि लीयते।
किं तत्र शिष्यते बन्धस्तथात्रापि विभावय ॥ १२२ ॥
अनादिकालाद्रामात्र बन्धो नास्त्येव कस्यचित्।
जडात्मभ्रान्तिमुत्सृज्य कोऽयं बन्धो विचारय ॥ १२३ ॥
एष एव महाबन्धो बन्धसत्यत्वनिश्चयः।
मृषा भीतस्य बालस्य यक्षग्रह इव स्थितः ॥ १२४ ॥
यावद्बन्धभ्रान्तिमेनां नोत्सृजेद् बुद्धिमानपि।
न तावत् संसृतेर्मुक्तो भवेत् क्वापि महोद्यमैः ॥ १२५ ॥
कोऽयं बन्धः कथं वा स्यान्निर्मलस्य चिदात्मनः।
प्रतिबिम्बात्मकैः स्वात्मादर्शान्तःप्रविभावितैः ॥ १२६ ॥
बन्धो यदि तदादर्शप्रतिबिम्बाग्निरादहेत्।

आवरण वास्तविक नहीं है, क्योंकि वह तो अपना ही कल्पना किया हुआ है ॥ ११६ उ०–१२० ॥

जिस प्रकार कोई मनोराज्य करे कि उसे किसी शत्रुने बाँध लिया है, वह मारता है और धमका रहा है। किन्तु जैसे ही वह उस संकल्पको त्यागता है उसके वे ताडन और तर्जन भी लीन हो जाते हैं। क्या वहाँ कोई बन्धन बच रहता है? वैसी ही बात यहाँ समझो ॥ १२१–१२२ ॥

परशुराम! इस संसारमें अनादिकालसे किसीका कोई बन्धन नहीं है। इस जडस्वरूपा भ्रान्तिको त्यागकर विचार करो कि वास्तवमें बन्धन है क्या? ॥ १२३ ॥

बन्धनकी सत्यता समझना—यही सबसे बड़ा बन्धन है। वह झूठमूठ हौआसे डरे हुए बालकके भयके समान बना हुआ है ॥ १२४ ॥

बुद्धिमान् पुरुष भी जबतक इस भ्रान्तिको नहीं त्यागेगा, तब तक महान् प्रयत्न करनेपर भी वह संसारसे कभी मुक्त नहीं होगा ॥ १२५ ॥

यह बन्धन है क्या! निर्मल चिदात्माको यह हो भी कैसे सकता है? यदि अपने आत्मारूप दर्पणमें भासनेवाले प्रतिबिम्बात्मक पदार्थोंसे इसे बन्धन हो सकता है तब तो दर्पणके प्रतिबिम्बमें प्रतीत होनेवाले

बन्धस्य सत्यताबुद्धिर्मनसोऽस्तित्वनिश्चयः ॥ १२७ ॥
एतद्द्वयमृते नास्ति बन्धः कस्यापि कुत्रचित् ।
यावदेतद्द्वयमलं सद्विचारमहाजलैः ॥ १२८ ॥
नोन्मार्जितं तावदिह तस्य संसारनाशनम् ।
अहं वा ब्रह्मदेवो वा विष्णुर्वापि च शङ्करः ॥ १२९ ॥
विद्यात्मिका वा त्रिपुरा नैव शक्ताः कथञ्चन ।
तस्माद्राम द्वयञ्चैतत् परित्यज्य सुखी भव ॥ १३० ॥
तस्माद्राम निर्विकल्परूपे मनसि संस्थिते ।
आत्ममात्रत्वतस्तस्य द्वैतं न परिशिष्यते ॥ १३१ ॥
इदं तदितिरूपेण भासनान्यन्मनो नहि ।
इदमादिपरित्यागे मनसात्मैव शिष्यते ॥ १३२ ॥
रज्जुसर्पपरिभ्रान्तिः सत्याभिमतवस्तुनि ।
रज्जुरूपे हि सर्पस्य भासिनीति विनिश्चयः ॥ १३३ ॥

अग्निसे भी पदार्थोंका दाह हो जाना चाहिये ॥ १२६–१२७ पू० ॥

'बन्धनको सत्य समझना' और 'मनकी सत्ता स्वीकार करना' इन दो को छोड़कर कहीं किसीके लिये और कोई बन्धन नहीं है ॥ १२७ उ०–१२८ पू० ॥

जबतक सद्विचाररूप महान् जलसे इन दो मलोंका मार्जन नहीं होगा तबतक मैं, ब्रह्मा, विष्णु, शंकर अथवा विद्यास्वरूपिणी स्वयं देवी त्रिपुरा भी किसी प्रकार उसके संसार की निवृत्ति नहीं कर सकते। इसलिये परशुराम! तुम इन दोनोंको त्यागकर सुखी हो जाओ ॥ १२८ उ०–१३० ॥

अतः परशुराम! यद्यपि समाधिमें निर्विकल्परूपमें मन रहता है, तथापि उस समय वह आत्ममात्र ही तो है, इसलिये द्वैत नहीं रहता॥१३१॥

'यह' 'वह' इत्यादि रूपसे भासनेके सिवा मन और कुछ नहीं है। जब मनसे 'यह' 'वह' इत्यादिका त्याग हो गया तब तो आत्मा ही रह जाता है ॥ १३२ ॥

रज्जुमें भासित होनेवाली सर्पकी भ्रान्ति व्यवहारमें सत्य मानी हुई वस्तुमें होती है। अतः उसके विषयमें यह निश्चय होता है कि वह रज्जुके रूपमें सर्पकी प्रतीति कराने वाली है ॥ १३३ ॥

तत्र सर्पस्य बाधोऽपि रज्ज्वालम्बनहेतुतः ।
चिद्रूपादात्मनोऽन्यत्तु रज्जुज्ञानं स्थितं भवेत् ॥ १३४ ॥
सापि रज्जुश्चिति यदा स्वप्नदृष्टान्तकल्पिता ।
रज्जुबाधे हि तज्ज्ञानं कथं शिष्येत् किमाश्रयम् ॥ १३५ ॥
तस्माद् दृश्यस्य बाधे तु तज्ज्ञानं केवला हि दृक् ।
चिदात्मानतिरिक्तत्वाद् द्वैतं तेन कथं भवेत् ॥ १३६ ॥
अर्थक्रिया हि संदृष्टा स्वप्नवस्तुषु सुस्थिरा ।
स्वाप्नवस्तु स्थिरमिति स्वप्ने सर्वैर्विभावितम् ॥ १३७ ॥
एतावानेव भेदः स्यात् स्वप्नजाग्रद्विभासयोः ।
जाग्रति स्वप्नमिथ्यात्वनिश्चयो भवति ध्रुवम् ॥ १३८ ॥
स्वप्ने न जायते जाग्रन्मिथ्यात्वस्य विनिर्णयः ।
नैतावतैव सत्यत्वं जाग्रद्व्यवहृतेर्भवेत् ॥ १३९ ॥

उसमें सर्पका तो बाध हो जाता है, क्योंकि उसका आलम्बन तो रज्जु ही होती है। किन्तु उस समय भी चिद्रूप आत्मासे रज्जुका ज्ञान भिन्न ही रहता है, [उसका बाध नहीं होता] ॥ १३४ ॥

पर जब स्वप्नके दृष्टान्तसे वह रज्जु भी चेतनमें कल्पित मानी जाय, तब रज्जुका बाध होनेपर उसका ज्ञान किस प्रकार और किसके आश्रयसे शेष रहेगा ? ॥ १३५ ॥

अतः दृश्य जगत्का बाध होनेपर उसका ज्ञान केवल चिन्मात्र ही रहता है। वह चिदात्मासे भिन्न है ही नहीं, फिर द्वैत कैसे रह सकता है ? ॥ १३६ ॥

[यदि कार्यका निर्वाह करनेवाली और स्थिर जान पड़नेके कारण व्यावहारिक वस्तुओंको सत्य मानो, तब तो] स्वप्नकी वस्तुओंमें भी स्थिर कार्यनिर्वाहकता देखी जाती है। स्वप्नमें स्वप्नके पदार्थ भी सबको स्थिर ही जान पड़ते हैं ॥ १३७ ॥

स्वप्न और जाग्रत्की प्रतीतियोंमें केवल इतना ही भेद है कि जाग्रत्कालमें स्वप्नका मिथ्यात्व-निश्चय तो अवश्य हो जाता है, किन्तु स्वप्नमें जाग्रत्का मिथ्यात्व निश्चय नहीं होता। इतनेसे ही जाग्रत्कालके व्यवहारकी सत्यता तो सिद्ध हो नहीं सकती ॥१३८-१३९॥

यथा जाग्रति वस्तूनां स्थिरतार्थक्रियापि च ।
दृश्यते किं तथा स्वप्ने दृश्यते न हि वा वद ॥ १४० ॥
न स्वप्ने जागरा भावाः स्वाप्ना वा नैव जागरे ।
अर्थक्रियाकरा वापि स्थिरा वा भान्ति तत्समम् ॥ १४१ ॥
विभावय सूक्ष्मदृशा को भेदोऽतीतस्वप्नयोः ।
पश्यैन्द्रजालिककृते स्थैर्यमर्थक्रियामपि ॥ १४२ ॥
किं तावतैव तत् सत्यमैन्द्रजालिकनिर्मितम् ।
सत्यासत्यविभागो वै प्राकृतैर्विदितो न हि ॥ १४३ ॥
अतएव मोहितास्ते प्रोचुः सत्यं हि जागतम् ।
कदाप्यभावासंस्पृष्टं सत्यं राम प्रचक्षते ॥ १४४ ॥
अभावः स्यादभानाद्धै त्वभानं न चितेः क्वचित् ।
अभानमचितामस्ति ह्यनेकत्वावभासतः ॥ १४५ ॥

जाग्रत्कालमें जिस प्रकार वस्तुओंकी स्थिरता और कार्यनिर्वाहकता देखी जाती है, बताओ, क्या स्वप्नमें स्वप्नके पदार्थोंकी वैसी नहीं देखी जाती ? ॥ १४० ॥

हाँ, स्वप्नमें जाग्रत्के पदार्थ और जाग्रत्में स्वप्नके पदार्थ न तो कार्यनिर्वाहक जान पड़ते हैं और न स्थिर ही। सो, यह बात दोनों अवस्थाओंमें समान ही है ॥ १४१ ॥

तुम सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करो कि जाग्रत्की बीती हुई घटनाओंमें और स्वप्नमें क्या भेद है ? देखो, जाग्रदवस्थामें ऐन्द्रजालिककी बनायी हुई वस्तुओंमें स्थिरता भी रहती है और कार्यनिर्वाहकता भी। तो क्या इतनेसे ही उसकी बनायी हुई वे वस्तुएँ सत्य हो जाती हैं ? ॥ १४२-१४३ पू० ॥

यह सत्य और असत्यका भेद साधारण पुरुषोंको मालूम नहीं है। इसीसे वे मोहवश कहते हैं कि जगत्के पदार्थ सत्य हैं ॥१४३ उ०-१४४ पू०॥

परशुराम ! सत्य तो वह है जिसे कभी अभावका स्पर्श नहीं होता। और अभाव तब होता है जब भान न हो। तो चितिका अभाव कभी नहीं होता। और अभाव तो अचेतन दृश्य पदार्थोंका ही होता है, क्योंकि उनमें अनेकता भासती है ॥ १४४ उ०-१४५ ॥

परस्पराभावभासा अचिद्भावा हि सर्वथा।
चिदभानं कदा कुत्र स्याद्राम प्रविचारय ॥ १४६ ॥
यदा चितिर्न भायाद्वै तदा भायात् कथं वद।
न भायाद्वा कथं भायादभाने यदि तद्द्वयोः ॥ १४७ ॥
राम भायादेव चितिस्तस्मात् सत्यैव सा चितिः।
राम सत्यासत्यभेदं शृणु संक्षेपतो ब्रुवे। १४८ ॥
अन्यानपेक्षभासं स्यात् सत्यमन्यदसत्यकम्।
अन्यथा रज्जुसर्पाद्यमपि सत्यं भवेन्ननु ॥ १४९ ॥
बाधो ह्यभावविज्ञानं तद्भावेऽपि हि सम्भवेत्।

दृश्य पदार्थ सर्वथा अन्योन्याभावपूर्वक[1] ही भासते हैं। किन्तु परशुराम! विचार तो करो—भला, चेतनका अभाव कब और कहाँ हो सकता है? ॥ १४६ ॥

जब चेतनका भान न होगा तब उस 'तब' (काल) का भी भान कैसे होगा? यदि कहो कि नहीं होगा, तो उन काल और चेतन दोनोंका अभान होनेपर उस अभानका भी भान कैसे होगा? [क्योंकि काल और चेतनके अभानका भान भी तो चेतनके ही प्रकाशमें हो सकता है।] ॥ १४७ ॥

अतः परशुराम! चेतन तो भासता ही रहता है, इसलिये वही सत्य है। राम! सत्य और असत्यका भेद संक्षेपसे सुनो, मैं बताता हूँ ॥ १४८ ॥

जो दूसरेकी अपेक्षाके बिना भासे वह सत्य, अन्य सब असत्य। नहीं तो रज्जुमें कल्पित सर्पादि भी सत्य मानने होंगे[2] ॥ १४९ ॥

[यदि बाध और अबाधको ही सत्यासत्यका निर्णय करनेमें हेतु मानें तो—] 'बाध' कहते हैं अभावानुभूति को। यह भावमें भी हो

---

१. जैसे घट और पट दो भिन्न पदार्थ हैं, इनका भान परस्पर एक-दूसरेके अभावपूर्वक ही होगा। अर्थात् घटाभावके बिना पटका और पटाभावके बिना घटका भान नहीं हो सकता।

२. यदि सत्य और असत्यका ऐसा लक्षण न करके यह मानें कि जिसका बाध या अभाव हो जाय वह असत्य और जिसका बाध या अभाव न हो वह सत्य—तो प्रतीतिकालमें तो रज्जुमें कल्पित सर्पका भी न अभाव होता है और न बाध, इसलिये उसे भी सत्य ही मानना होगा। अतः सबसे निर्दोष लक्षण वही है जो यहाँ किया गया है।

अभावे भावविज्ञानमपि सम्भवति स्फुटम् ॥ १५० ॥
ततो न बाधितं सत्यमसत्यं बाधितं भवेत् ।
इति पक्षो न युक्तः स्यात् सर्वथा व्यभिचारतः ॥ १५१ ॥
चितोऽभाने न किञ्चित् स्यान्न स्यात्तदपि सर्वथा ।
तस्माद्यश्चिन्न भातीति वदेत् तार्किकसत्खरः ॥ १५२ ॥
स ब्रूयान्नाहमस्मीति तत्र केन किमुच्यते ।
यस्यात्मनि स्यात् सन्देहो भानाभावेन सर्वदा ॥ १५३ ॥
सोऽन्येषां नाशयेन्मोहं निपुणैस्तर्कगुम्फनैः ।
तदा गण्डशिलाप्येषाऽप्यन्यमोहं विनाशयेत् ॥ १५४ ॥
तस्मादर्थक्रियाभासमात्रेण न हि सत्यता ।
सर्वमेव हि विज्ञानं भ्रान्तिरेव न संशयः ॥ १५५ ॥

सकती है। और अभावमें भी स्पष्टतया भावरूपताकी अनुभूति हो जाती है[1] ॥ १५० ॥

इसलिये अबाधित सत्य होता है और बाधित असत्य—यह पक्ष बिलकुल ठीक नहीं है, क्योंकि इसका व्यभिचार भी देखा जाता है ॥ १५१ ॥

यदि चेतनका भान न हो तब तो कुछ भी नहीं रहेगा। यहाँ तक कि 'कुछ नहीं है' का भी भान नहीं होगा। इसलिये जो मूर्ख-तार्किक कहता है कि चेतन नहीं भासता वह तो मानो कहता है कि 'मैं नहीं हूँ'। ऐसी अवस्थामें किसके द्वारा क्या कहा जा रहा है ॥ १५२–१५३ पू० ॥

अतः जिसे भान न होनेके कारण सर्वदा अपने अस्तित्वमें ही सन्देह हो, वह तो कुशल तर्कके गुम्फन द्वारा [अर्थात् शास्त्ररचना करके] अवश्य दूसरोंके अज्ञानको नष्ट कर देगा ! [अर्थात् उसके कथन द्वारा दूसरोंका अज्ञान कभी निवृत्त नहीं हो सकता।] ऐसी अवस्थामें तो शायद यह पत्थरकी शिला भी दूसरोंका अज्ञान नष्ट कर दे ॥ १५३ उ०–१५४ ॥

इसलिये जिसमें कार्यनिर्वाहकता प्रतीत हो उसकी इतने ही से

---

१. कई बार ऐसी भ्रान्ति हो जाती है कि जो वस्तु मौजूद है उसके न होनेका ज्ञान होता है और जो नहीं है उसके होनेका अतः यह पक्ष निर्विवाद नहीं है।

अपरेयं महाभ्रान्तिस्तेष्वभ्रान्तत्वनिश्चयः ।
यथा हि बाधविज्ञानात् पूर्वं भ्रान्तिर्भवेत्तथा ॥ १५६ ॥
सर्वजागृतविज्ञानमभ्रान्तिरिव हि स्थितम् ।
यथा च रजतज्ञानं शुक्तिज्ञानाद् भ्रमात्मकम् ॥ १५७ ॥
एवं चिदात्मविज्ञानात् सर्वं ज्ञानं भ्रमात्मकम् ।
नभोनीलभ्रमः सर्वसमानो भासते तथा ॥ १५८ ॥
जागतो भ्रम एष स्यात् सर्वेषां दोषहेतुतः ।
अभ्रान्तिशुद्धविज्ञानं यच्चिदात्मतया स्थितम् ॥ १५९ ॥
एवमेतत्त्वया पृष्टं प्रोक्तं युक्त्यनुसङ्गतम् ।
सन्देहमत्र सन्त्यज्य राम प्रोक्तं विनिश्चिनु ॥ १६० ॥
कथं मुक्ते व्यवहृतिरिति पृष्टं पुरा तु यत् ।
तत्ते प्रवक्ष्यामि राम शृणु सम्यक् समाहितः ॥ १६१ ॥

सत्यता सिद्ध नहीं हो जाती। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकारके सब ज्ञान भ्रममात्र ही हैं। तथा उन्हें भ्रम न मानना—यह दूसरी बहुत बड़ी भ्रान्ति है ॥ १५५–१५६ पू० ॥

जिस प्रकार कोई भी भ्रान्ति उसका बाध अनुभव होनेसे पहले सत्य ही जान पड़ती है उसी प्रकार जाग्रत्कालका सारा ज्ञान अभ्रान्ति-सा ही जान पड़ता है ॥ १५६ उ०–१५७ पू० ॥

किन्तु जिस प्रकार शुक्तिका परिचय हो जानेपर उसमें अध्यस्त चाँदीकी प्रतीति भ्रमरूप जान पड़ती है, उसी प्रकार चेतन आत्माका ज्ञान होनेपर अन्य सभी ज्ञान भ्रमरूप निश्चय होते हैं ॥ १५७ उ०–१५८ पू० ॥

जिस प्रकार आकाशकी नीलताका भ्रम सबको समानरूपसे भासता है उसी प्रकार अविद्यारूप दोषके कारण जाग्रत्कालका भ्रम सभीको समानरूपसे हो रहा है। अभ्रान्ति तो शुद्ध विज्ञान ही है जो चेतन आत्मारूपसे स्थित है ॥ १५८ उ०–१५९ ॥

परशुराम! इस प्रकार तुम्हारे प्रश्नके विषयमें मैंने युक्तिपूर्वक उत्तर दे दिया। तुम इस विषयमें सन्देह त्यागकर जैसा कहा गया है वैसा ही निश्चय करो ॥ १६० ॥

तुमने पहले (पन्द्रहवें अध्यायके आरम्भमें) पूछा था कि मुक्ति हो जानेपर भी व्यवहार कैसे होता है! उसका उत्तर देता हूँ! परशुराम! खूब सावधान होकर सुनो ॥ १६१ ॥

मुक्ता हि ज्ञानिनो लोके ह्युत्तमाधममध्यमाः ।
प्रारब्धोपनतैर्भोगैः खिद्यमानाः क्षणे क्षणे ॥ १६२ ॥
स्वरूपज्ञास्तु ये राम ते मन्दज्ञानिनः स्मृताः ।
ये तु प्रारब्धसंप्राप्तान् भुञ्जाना अपि नो विदुः ॥ १६३ ॥
मधुक्षीबा रसमिव मध्यास्ते ज्ञानिनः स्मृताः ।
ये तु प्रारब्धकोटीनां फलैरपि विचित्रितैः ॥ १६४ ॥
न स्वस्थितेः प्रच्यवन्ते नोद्विजन्त्यापदां गणैः ।
न विस्मयन्ति चाश्चर्यैर्न हृष्यन्ति महासुखैः ॥ १६५ ॥
अन्तःशान्ता बहिर्लोकसमास्ते ज्ञानिषूत्तमाः ।
एवं बुद्धिविभेदेन ज्ञानपाकविभेदतः ॥ १६६ ॥
प्रारब्धशेषमाहात्म्याद्व्यवहारा विचित्रिताः ।
मधुमत्तादिवत्तेषां व्यवहारोऽपि सम्भवेत् ॥ १६७ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे अष्टादशोऽध्यायः ।

लोकमें मुक्त हुए ज्ञानी पुरुष तीन प्रकारके हैं—उत्तम, अधम और मध्यम। जो लोग प्रारब्धवश प्राप्त हुए भोगोंसे क्षण-क्षणमें खिन्न होते रहते हैं, किन्तु जिन्हें स्वरूपका ज्ञान होता है, वे मन्द ज्ञानी माने जाते हैं ॥ १६२-१६३ पू० ॥

जिन्हें प्रारब्धसे प्राप्त हुए भोगोंको भोगते हुए भी, मदिरोन्मत्तके समान निरन्तर समाहित रहनेके कारण, उन भोगोंका कुछ पता नहीं चलता, वे मध्यम ज्ञानी माने गये हैं ॥ १६३ उ०-१६४ पू० ॥

किन्तु जो करोड़ों प्रारब्धोंके तरह-तरहके फल-भोग प्राप्त होनेपर भी अपनी स्वरूपस्थितिसे च्युत नहीं होते, अनेकों आपत्तियाँ आने-पर भी खिन्न नहीं होते, बड़े-बड़े आश्चर्योंसे भी जिन्हें विस्मय नहीं होता और महान् सुखोंकी प्राप्ति होनेपर भी हर्ष नहीं होता, इस प्रकार जो भीतरसे शान्त और ऊपरसे अन्य लोगोंके समान रहते हैं, वे ज्ञानियोंमें उत्तम माने गये हैं ॥ १६४ उ०-१६६ पू० ॥

इस प्रकार बुद्धिके भेदसे, ज्ञानकी परिपक्वताके भेदसे और शेष प्रारब्धके प्रभावसे ज्ञानियोंके व्यवहार भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। तथापि मदोन्मत्तादिके समान उनके द्वारा व्यवहार भी अवश्य हो सकता है ॥ १६६ उ०-१६७ ॥

अष्टादश अध्याय समाप्त ।

एकोनविंशोऽध्यायः

इति दत्तात्रेयमुखाच्छ्रुत्वा भार्गवनन्दनः ।
भूयः पप्रच्छ मुक्तानां व्यवहारक्रमं क्रमात् ॥ १ ॥
भगवन् भूय एतन्मे विस्तरेण निरूपय ।
यथा बुद्धिविभेदेन ज्ञानपाकविचित्रता ॥ २ ॥
ज्ञानन्त्वेकविधं स्वात्ममात्रभानात्मकं ननु ।
उपेयश्च तदेव स्याद्यन्मोक्षस्तत्प्रथात्मकः ॥ ३ ॥
तत् कथं बुद्धिभेदेन पाकभेदसमाश्रयम् ।
साधनान्यपि भिद्यन्तेऽथवा नेति तदीरय ॥ ४ ॥
इति पृष्टः पुनस्तेन दत्तात्रेयो दयानिधिः ।
विस्तरेण तमेवार्थं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ ५ ॥

एकोनविंश अध्याय ॥ १९ ॥

ज्ञानियोंकी स्थितियोंके भेद

श्रीदत्तात्रेयजीके मुखसे यह सब सुनकर भृगुनन्दन परशुरामने उनसे क्रमशः मुक्तपुरुषोंकी व्यवहारपद्धतिके विषयमें पुनः प्रश्न किया ॥ १ ॥

भगवन्! आप कृपा करके यह बात मुझे विस्तारपूर्वक फिर समझाइये कि बुद्धिभेदके कारण ज्ञानियोंके ज्ञानकी परिपक्वतामें कैसे अन्तर रह जाता है ॥ २ ॥

यह तो निश्चय है कि केवल अपने आत्माका भानरूप ज्ञान तो सबको एक-सा ही होता है। तथा उस ज्ञानकी स्थितिरूप जो मोक्ष है वही सबका लक्ष्य भी है ॥ ३ ॥

फिर बुद्धिभेदके कारण उसकी परिपक्वतामें रहनेवाला अन्तर क्यों? क्या उनके साधनोंमें भी कोई भेद रहता है या नहीं—यह सब बताइये ॥ ४ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर दयानिधि भगवान् दत्तात्रेयने उसी बातको पुनः विस्तारपूर्वक कहना आरम्भ किया ॥ ५ ॥

शृणु राम प्रवक्ष्यामि रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।
साधने न विभेदोऽस्ति ज्ञानं न चित्रसाधनम् ॥ ६ ॥
तारतम्यात् साधनानां फलप्राप्तिर्विभेदिता ।
पूर्णे तु साधने ज्ञानमनायासेन सिद्ध्यति ॥ ७ ॥
अपूर्तितारतम्येन त्वयासापेक्षणाद्भवेत् ।
वस्तुतः साधनं किञ्चिज्ज्ञानेनैवोपयुज्यते ॥ ८ ॥
ज्ञानं क्वचिन्नैव साध्यं सिद्धत्वात्तु स्वभावतः ।
चैतन्यमेव विज्ञानं तत् सदा स्वप्रकाशकम् ॥ ९ ॥
तत्र का साधनापेक्षा नित्याभानस्वरूपके ।
चैतन्यं निहितं चित्तकरण्डेऽतिसुनिर्मले ॥ १० ॥
अनन्तवासनापङ्कमग्नं नैवोपलक्ष्यते ।
निरोधसलिलैः सम्यग् वासनापङ्कमार्जने ॥ ११ ॥

परशुराम ! सुनो, मैं यह उत्तम रहस्य तुम्हें सुनाता हूँ । ज्ञानके साधनोंमें कोई भेद नहीं रहता । ज्ञान विभिन्न साधनोंवाला नहीं है ॥ ६ ॥

किन्तु साधनोंकी न्यूनाधिकता रहनेके कारण उनकी फलप्राप्तिमें अन्तर रहता है । साधन की पूर्णता होनेपर तो सहजहीमें ज्ञान प्राप्त हो जाता है । और अपूर्णता रहनेपर उसकी न्यूनाधिकताके अनुसार प्रयास करनेकी आवश्यकता पड़ती है ॥ ७-८ पू० ॥

वास्तवमें तो ज्ञानप्राप्तिके लिये साधनकी कोई आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि ज्ञान स्वभावसे ही सिद्ध होनेके कारण किसी साधनसे प्राप्त होनेवाला नहीं है ॥ ८ उ०-९ पू० ॥

चैतन्य ही तो ज्ञान है और वह सदा ही स्वयंप्रकाश है । अतः उस नित्यप्रकाशस्वरूपकी उपलब्धिके लिये साधनकी क्या आवश्यकता है ? ॥ ९ उ०-१० पू० ॥

यह चैतन्य चित्तरूप स्फटिकमणिकी अत्यन्त स्वच्छ पिटारीमें रखा हुआ है । किन्तु अनन्तवासनाओंकी कीचड़में फँसा होनेके कारण दिखायी नहीं देता ॥ १० उ०-११ पू० ॥

अतः चित्तनिरोधरूप जलसे उस वासनाओंके कीचड़को धोना

विचारशितयन्त्रेण यत्नाचितकरण्डके ।
चिरात् संघटिते राम सुयुक्त्योद्घाटिते ततः ॥ १२ ॥
भासमानं तु मणिवच्चैतन्यमुपलभ्यते ।
राम तस्माद् वासनानां निरासे साधनं स्मृतम् ॥ १३ ॥
वासनाल्प्याधिक्यभावाद् बुद्धिस्तु विविधा भवेत् ।
यस्य यावद् वासनौघो बुद्धिमाच्छाद्य संस्थितः ॥ १४ ॥
साधनापेक्षणं तस्य तावदेव भृगूद्वह ।
वासना विविधाः प्रोक्तास्तत्र मुख्या वदामि ते ॥ १५ ॥
अपराधकर्मकामभेदेन त्रिविधा हि सा ।
अश्रद्धैवापराधः स्यान्मुख्यः स्वात्मविनाशनः ॥ १६ ॥
विपरीतग्रहश्चापि ह्यपराधस्तु पौरुषः ।
प्रायः कलासु कुशला अपराधवशान्ननु ॥ १७ ॥
सतसङ्गशास्त्रयोगैश्च परं तत्त्वं हि नो विदुः ।

पड़ता है। यह चित्तपेटिका बहुत दिनोंसे बन्द पड़ी हुई है। इसे विचाररूप तीक्ष्ण यन्त्रके द्वारा बड़ी युक्तिसे खोलना पड़ता है। तब वह चैतन्य मणिके समान दमकता हुआ दिखायी देने लगता है। इस प्रकार परशुरामजी ! साधनका उपयोग तो वासनाओंकी निवृत्तिमें ही माना गया है ॥ ११ उ०–१३ ॥

वासनाओंकी न्यूनता और अधिकताके कारण बुद्धि अनेक प्रकारकी होती है। जिसकी बुद्धिको जितने वासनाजालने ढक रखा है, परशुराम ! उसको उतने ही साधनकी अपेक्षा होती है ॥ १४–१५ पू० ॥

वासनाएँ अनेक प्रकारकी कही गयी हैं। उनमेंसे मुख्य तुम्हें बताता हूँ। वे अपराधवासना, कर्मवासना और कामवासना भेदसे तीन प्रकारकी हैं ॥ १५ उ०–१६ पू० ॥

वेद-शास्त्रादिमें श्रद्धा न होना ही अपना नाश करनेवाला मुख्य अपराध है। तथा पुरुष (आत्मा) सम्बन्धी विपरीत धारणा होनी दूसरा अपराध है ॥ १६ उ०–१७ पू० ॥

प्रायः जो लोग अनेक कलाओंमें कुशल हैं वे भी इन अपराधोंके कारण संतसमागम और शास्त्रावलोकनके अवसर प्राप्त होनेपर भी उस परमतत्त्वको नहीं जान पाते ॥ १७ उ०–१८ पू० ॥

निर्विशेषं परं तत्त्वं नास्ति नैव च सम्भवेत् ॥ १८ ॥
अस्ति तन्नैव विज्ञातुं शक्यते केनचित् क्वचित् ।
ज्ञात्वापि परमं तत्त्वं नैव तत्त्वं परं भवेत् ॥ १९ ॥
एतज्ज्ञानात् कथं मोक्ष इत्यादि बहुधा स्थितः ।
विपरीतग्रहो वापि चैतत्संशय एव वा ॥ २० ॥
अपराधः पौरुषस्तु वासनाद्या प्रकीर्त्तिता ।
शास्त्रविद्यासु कुशलाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २१ ॥
अनया विहता राम संसृतिं समुपागताः ।
पुरा दुष्कृतसंस्कारवशाद् बुद्धौ तु यत् स्थितम् ॥ २२ ॥
मालिन्यमुपदेशस्य ग्रहणप्रतिबन्धकम् ।
येनाचार्यैः सम्यगुक्तमपि नो गृह्यते खलु ॥ २३ ॥
सा कर्मवासना प्रोक्ता दुर्जेयापि निरोधतः ।
कामः कर्त्तव्यशेषः स्यादनन्तो बहुशाखकः ॥ २४ ॥

[उनकी ऐसी धारणा रहती है—] 'कोई निर्विशेष परमतत्त्व है ही नहीं और न उसका होना सम्भव ही है। यदि वह हो भी तो किसीको उसका कभी ज्ञान नहीं हो सकता। यदि कोई जान भी ले तो सन्देह होने लगता है कि यह परमतत्त्व होना सम्भव नहीं है; इसके ज्ञानसे मोक्ष कैसे हो सकता है?' इस प्रकार विपरीत ग्रह अनेक प्रकारसे रहता है। अथवा इसीको संशय भी कह सकते हैं ॥ १८ उ०–२० ॥

यह पुरुषसम्बन्धी अपराध पहली वासना कही गयी है। परशुराम! इसके मारे हुए सैकड़ों-हजारों शास्त्रविद्यामें कुशल पुरुष भी संसार-चक्रमें पड़े रहते हैं ॥ २१–२२ पू० ॥

पूर्व दुष्कर्मोंके संस्कारोंके कारण बुद्धिमें जो मलिनता आ जाती है वह उपदेशको ग्रहण करने में रुकावट डालनेवाली होती है, जिसके कारण गुरुदेवके द्वारा बहुत समझानेपर भी बात समझमें नहीं आती। उसको 'कर्मवासना' कहा है। इसे चित्तनिरोधके द्वारा भी जीतना कठिन है ॥ २२ उ०–२४ पू० ॥

'मेरा यह कर्त्तव्य है' इत्यादि प्रकारसे कर्त्तव्यशेष रहनेका संकल्प 'कामवासना' है। यह अनन्त और अनेकों शाखाओंवाली है।

रामाम्भोधौ तरङ्गाणां संख्यां कुर्याद्धि कश्चन ।
पार्थिवानामणूनां वा तथा तारागणस्य वा ॥ २५ ॥
एकस्यापि हि कामानां संख्यातुं नैव शक्यते ।
इयं राम तृतीया ते संप्रोक्ता कामवासना ॥ २६ ॥
आकाशादपि विस्तीर्णा ह्यचला भूधरादपि ।
आशापिशाची प्रोक्तेयं राम या कामवासना ॥ २७ ॥
अनयैव हि सर्वोऽयं लोक उन्मत्तवत् स्थितः ।
येन दन्दह्यमानोऽयं लोक आक्रन्दते तदा ॥ २८ ॥
केऽपि लोके धन्यतमा महामन्त्रसमाश्रयात् ।
विनिर्मुक्तास्तया भान्ति नराः सर्वाङ्गशीतलाः ॥ २९ ॥
एताभिस्तिसृभी राम वासनाभिर्यतो मनः ।
समाक्रान्तमतो नूनं तत्त्वं नावभासते ॥ ३० ॥
अतः सर्वसाधनस्य वासनानाशनं फलम् ।

परशुराम ! कोई पुरुष समुद्रकी तरंगोंकी गणना तो कर सकता है, पृथ्वीके कणोंको भी गिन सकता है और तारागणकी गिनती भी कर सकता है; किन्तु किसी एक पुरुषकी भी कामनाओंको गिनना सम्भव नहीं है । परशुराम ! यह तुमसे तीसरी कामवासनाका वर्णन किया ॥ २४ उ०--२६ ॥

परशुराम ! यह कामवासना ही आशापिशाची भी कही जाती है । यह आकाशसे भी विस्तीर्ण और पर्वतसे भी अधिक अविचल है ॥२७॥

इसीके कारण यह सारा लोक उन्मत्त-सा हो रहा है और इसीसे दग्ध होकर यह सर्वदा चीत्कार करता रहता है ॥ २८ ॥

इस संसारमें कोई अत्यन्त बड़भागी पुरुष ही परवैराग्यरूप महामन्त्रका आश्रय लेकर इससे मुक्त होते हैं और फिर सर्वाङ्ग शीतल होकर सुशोभित होते हैं ॥ २९ ॥

परशुराम ! क्योंकि मन इन तीन वासनाओंसे आक्रान्त है, इसीसे इसे वह परमतत्त्व प्रकाशित नहीं होता ॥ ३० ॥

अतः सब साधनोंका फल वासनाओंका नाश ही है । इनमें

तत्राद्या ह्यपराधत्वनिश्चयाद्विनिवर्त्तते ॥ ३१ ॥
द्वितीया जन्मनैकेन निवर्त्तेतापि जन्मभिः ।
ऐश्वरेण प्रसादेन नान्यथा कोटियुक्तिभिः ॥ ३२ ॥
तृतीया विनिवर्त्तेत वैराग्यादिसुसाधनैः ।
दोषदृष्ट्यैव वैराग्यं भवेन्नैवाऽन्यथा क्वचित् ॥ ३३ ॥
प्रोक्तानां वासनानां वै स्वल्पानल्पत्विभेदतः ।
तस्याश्चाल्पानल्पभावापेक्षा भवति भार्गव ॥ ३४ ॥
तत्राद्यं सर्वमूलं स्यान्मुमुक्षुत्वं न चेतरत् ।
मुमुक्षामन्तरा यत्तु श्रवणं मननादिकम् ॥ ३५ ॥
न मुख्यफलसंयुक्तं केवलं शिल्पवद्भवेत् ।
न शिल्पज्ञानमात्रेण प्राप्यते परमं पदम् ॥ ३६ ॥
मुमुक्षामन्तरा यैस्तु श्रुतं सम्यग् विचारितम् ।
शवालङ्कारवत् सर्वं तेषां व्यर्थं भवेत् खलु ॥ ३७ ॥

पहली अपराधवासना तो अश्रद्धा आदिमें अपराधत्वका निश्चय होनेसे निवृत्त होती है ॥ ३१ ॥

दूसरी कर्मवासना एक या अनेक जन्मोंमें केवल ईश्वरकी कृपासे ही छूट सकती है, और तो करोड़ों युक्तियोंसे भी नहीं छूट सकती ॥३२॥

तीसरी कामवासना वैराग्यादि साधनोंसे दूर हो सकती है। वैराग्य विषयोंमें दोषदृष्टि होनेपर ही होता है, और किसी प्रकार नहीं ॥ ३३ ॥

परशुराम! उपर्युक्त वासनाओंकी अल्पता अथवा अधिकताके भेदके अनुसार उनकी निवृत्तिके लिये भी अल्प या अधिक भावकी अपेक्षा होती है ॥ ३४ ॥

इनमें भी सबका मूल और आदि कारण मुमुक्षुता है, कोई और नहीं। मुमुक्षुताके बिना जो श्रवण-मनन इत्यादि होते हैं उनसे मुख्य फल तत्त्वज्ञान नहीं मिलता, वे केवल कलामात्र रह जाते हैं और केवल कलामात्रका ज्ञान होनेसे परमपदकी प्राप्ति हो नहीं सकती ॥ ३५–३६ ॥

मुमुक्षुताके बिना जिन्होंने जो कुछ भी श्रवण या मनन किया होता है वह तो केवल मुर्देके शृंगारके समान उनके लिये व्यर्थ ही होता है ॥ ३७ ॥

व्यर्था सापि भवेन्मन्दा मुमुक्षा राम सर्वथा।
यथा फलश्रुतेरिच्छा सामान्या न फलावहा॥ ३८॥
फलश्रुत्युत्तरोद्भूता नेच्छा कर्मफलावहा।
फलश्रुत्या कस्य नाम न स्यात् सा जीवधर्मिणः॥ ३९॥
तस्मादापातरूपाया मुमुक्षाया न वै फलम्।
यथा मुमुक्षा तीव्रा स्यात्तथा तस्याचिरं फलम्॥ ४०॥
मुमुक्षा या मुख्यतमा सा साधनगणेष्वलम्।
प्रवृत्तिमुत्पादयेद्वै सा हि तत्परतोच्यते॥ ४१॥
यथा सुदग्धसर्वाङ्गो न शीतान्यदपेक्षते।
तथा यदा विमुक्त्यन्यन्नापेक्षेत हि सर्वथा॥ ४२॥
सा मुमुक्षा भवेत्तीव्रा समर्था फलसाधने।
एषा विमुक्तेरन्यत्र दोषदृष्ट्यैव जायते॥ ४३॥

परशुराम! वह मुमुक्षुता भी यदि मन्द हो तो सर्वथा व्यर्थ ही होती है, जिस प्रकार केवल फल सुनकर होनेवाली इच्छा सामान्य ही होती है, उससे फलकी प्राप्ति नहीं होती॥ ३८॥

फल सुननेके पश्चात् उत्पन्न हुई इच्छा कर्मका फल देनेवाली नहीं होती। ऐसा कौन जीवधर्मी है जिसे फल सुनकर इच्छा उत्पन्न न हो॥ ३९॥

इसलिये जो अकस्मात् (किसी कारणविशेषसे) उत्पन्न हो जाती है उस मुमुक्षुता का फल नहीं होता। मुमुक्षा जितनी तीव्र होगी उतना ही शीघ्र उसका फल प्राप्त होगा॥ ४०॥

जो तीव्रतम मुमुक्षा है वह तो अकेली ही सम्पूर्ण साधनोंमें प्रवृत्ति उत्पन्न कर देती है। उसीको तत्परता भी कहते हैं॥ ४१॥

जिसके सब अंगोंमें अत्यन्त दाह हो रहा हो वह पुरुष जैसे शीतके सिवा किसी अन्य वस्तुकी इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार जब मुक्तिके सिवा और किसी प्रकारकी इच्छा न रहे तब वह तीव्र मुमुक्षा होती है वही मुक्तिरूप फल प्राप्त करानेमें समर्थ है। ऐसी मुमुक्षा मुक्तिके सिवा और सभीमें दोषदृष्टि होनेपर ही उत्पन्न होती है॥ ४२-४३॥

तीव्रवैराग्यमुखतः क्रमेण तीव्रतामियात् ।
दोषदृष्ट्या हि वैराग्यं विषयप्रीतिनाशनम् ॥ ४४ ॥
वैराग्येण मुमुक्षुत्वं तीव्रं तत्परतोदयम् ।
तत्परत्वं साधनेषु प्रवृत्तिरतितीव्रता ॥ ४५ ॥
अतितीव्रप्रवृत्त्यैव द्रुतं फलमवाप्नुयात् ।
इति दत्तात्रेयवचो निशम्य भार्गवः पुनः ॥ ४६ ॥
पप्रच्छ सन्दिग्धमनाः संशयं सुमहत्तरम् ।
भगवन् भवता प्रोक्तं सत्सङ्गो मूलकारणम् ॥ ४७ ॥
ईश्वरानुग्रहश्चापि दोषदृष्टिरपीति च ।
किमादिकारणं मुख्यं तत्प्राप्तिर्वा कथं भवेत् ॥ ४८ ॥
न हि निष्कारणं किञ्चिद्भवेदिति हि निश्चयः ।
तत् कथं स्याद्विना हेतोरेतन्मे वद विस्तरात् ॥ ४९ ॥
इति पृष्टः प्राह रामं दत्तात्रेयो दयानिधिः ।

तीव्र वैराग्यादिके क्रमसे मुमुक्षुतामें तीव्रता आती है। विषयोंमें दोषदृष्टि होनेसे ही उनकी आसक्तिको नष्ट करनेवाला वैराग्य उत्पन्न होता है ॥ ४४ ॥

वैराग्यसे तत्परताकी प्राप्ति करानेवाली तीव्र मुमुक्षुता होती है। और साधनोंमें प्रवृत्त होनेकी अत्यन्त तीव्रता ही तत्परता है तथा अत्यन्त तीव्र प्रवृत्ति होनेपर ही फलकी शीघ्र प्राप्ति होती ॥४५–४६ पू०॥

श्रीदत्तात्रेयजीके ये वचन सुनकर परशुरामजीके मनमें सन्देह हो गया। अतः उन्होंने पुनः यह महान् संशय प्रकट करते हुए पूछा—॥ ४६ उ०–४७ पू० ॥

"भगवन्! पहले आपने सत्संगको ही मूलकारण बतलाया था। फिर ईश्वरकी कृपा और विषयोंमें दोषदृष्टिका भी वर्णन किया। इनमें मुख्य और आदि कारण कौन सा है और उसकी प्राप्ति भी कैसे होती है, क्योंकि यह तो निश्चय है कि कोई भी बात अकारण ही नहीं होती; फिर वह (मुक्तिका मूलकारण) भी बिना किसी निमित्तके कैसे हो जायगा? अतः आप उसका विस्तारसे वर्णन कीजिये" ॥ ४७ उ०–४९ ॥

ऐसा प्रश्न होनेपर दयानिधि दत्तात्रेयजी परशुरामसे कहने

भार्गव शृणु ते वक्ष्ये श्रेयसः परमोद्भवम् ॥ ५० ॥
परा सा या चितिर्देवी स्वस्वातन्त्र्यस्य वैभवात्।
स्वात्मन्येव जगच्चित्रं दर्पणप्रतिबिम्बवत् ॥ ५१ ॥
सैव हैरण्यगर्भाख्यां तनुमास्थाय वै परा।
अनाद्यज्ञानसञ्छन्नजीवानां हितकाम्यया ॥ ५२ ॥
उन्मेषयदागमाब्धिं सर्वकामप्रपूरणम् ।
तत्र जीवाः स्वभावेन विचित्रकामवासनाः ॥ ५३ ॥
कथं तेषां शुभं भूयादेवं चिन्तापरायणः।
असृजत् काम्यकर्माणि फलचित्राणि सर्वशः ॥ ५४ ॥
सदसद्वापि हि जनः करोत्येव स्वभावतः।
तथा च केनापि कर्मपरिपाकवशेन तु ॥ ५५ ॥
भ्रमन् योनिविभेदेषु मानुष्यमुपसङ्गतः।
कामनावशतः काम्ये कर्मण्यभिमुखो भवेत् ॥ ५६ ॥

लगे—"भृगुनन्दन! सुनो, मैं तुम्हें निःश्रेयसका प्रधान साधन बतलाता हूँ ॥ ५० ॥

जो पराचितिदेवी अपने स्वान्त्र्यके प्रभावसे दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान अपनेमें ही इस जगत्रूप चित्रको भासित कर देती है उसीने हिरण्यगर्भसंज्ञक शरीर धारण कर अनादि अज्ञानसे आवृत जीवोंके हितकी कामनासे सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले आगम-शास्त्ररूप समुद्रको प्रकट किया ॥ ५१--५३ पू० ॥

संसारमें जीव तो स्वभावसे ही अनेकों प्रकारकी कामना एवं वासनाओंवाले हैं। अतः उनका किस प्रकार शुभ हो—ऐसा चिन्तन करते हुए उसने अनेक फल देनेवाले सम्पूर्ण काम्य कर्मों की रचना की ॥ ५३ उ०--५४ ॥

मनुष्य स्वभावसे ही शुभ या अशुभ कर्म तो करता ही रहता है। तथा अनेकों योनियोंमें भटकता हुआ किसी कार्यविशेषके फलोन्मुख होनेपर मनुष्य-शरीर प्राप्त करता है। तब कामनाओंके अधीन होकर वह काम्य कर्मोंकी ओर प्रवृत्त होता है ॥ ५५--५६ ॥

कामनाया विशेषेण यदेश्वरपरो भवेत् ।
तदैश्वराणि शास्त्राणि प्रसङ्गादवलोकयेत् ॥ ५७ ॥
काम्यकर्मफलश्रुत्या प्रवृत्तः काम्यकर्मणि ।
विहतस्तत्फलाप्राप्त्या वैगुण्यात् सूक्ष्मकर्मणः ॥ ५८ ॥
कर्त्तव्यजिज्ञासयैव कश्चित् स पुरुषं व्रजेत् ।
तत्प्रसङ्गवशात् क्वापि माहात्म्यं शृणुयात् क्वचित् ॥ ५९ ॥
महेश्वरस्य च ततः प्राक्पुण्यपरिपाकतः ।
तस्य प्रसादने भूयात् प्रवृत्तिरपि भार्गव ॥ ६० ॥
तस्मात् प्राक्पुण्यपाकेन सत्सङ्गमभिगम्य तु ।
प्राप्नोति श्रेयःसोपानपंक्तिमत्यन्तदुर्लभाम् ॥ ६१ ॥
प्रायः सत्सङ्गमूलैव श्रेयःप्राप्तिरुदीरिता ।
क्वचिदुत्कृष्टपुण्येन चोत्कृष्टतपसापि वा ॥ ६२ ॥

[मेरी कामनापूर्त्तिमें विघ्न न हो—ऐसी] विशेष कामनासे ही जब वह ईश्वरपरायण होता है तब प्रसंगवश उसे ईश्वरसम्बन्धी शास्त्र देखने पड़ते हैं ॥ ५७ ॥

काम्य कर्मोंके फल सुनकर वह काम्य कर्मोंमें प्रवृत्त होता है। किन्तु किसी कर्मांगमें त्रुटि आजानेके कारण जब उसकी फलप्राप्तिमें विघ्न पड़ता है तो अपना कर्त्तव्य जाननेकी इच्छासे वह किसी सत्पुरुषके पास जाता है ॥ ५८-५९ पू० ॥

उसी प्रसंगसे कभी अपना पूर्व पुण्य उदय होनेपर वह उन महापुरुषके मुखसे भगवान् महेश्वरका माहात्म्य श्रवण करता है। और परशुरामजी ! उन महेश्वरकी कृपासे ही माहात्म्य-वर्णनमें उन महापुरुषकी प्रवृत्ति भी होती है ॥ ५९ उ०-६० ॥

अतः पूर्व पुण्योंका उदय होनेपर ही वह सत्संगमें जाकर निःश्रेयस (मुक्तिपद) की अत्यन्त दुर्लभ सोपानपरम्परा (सीढ़ी अर्थात् साधन-पद्धति) प्राप्त करता है ॥ ६१ ॥

इस प्रकार निःश्रेयसप्राप्तिका मूलकारण प्रायः सत्संग ही कहा गया है। कभी महान् पुण्य अथवा उत्तम तपके द्वारा आकाशसे

श्रेयः प्राप्नोति सहसा ह्याकाशफलपातवत् ।
तस्मात् कारणवैचित्र्याच्छ्रेयःप्राप्तिविचित्रता ॥ ६३ ॥
तथा च बुद्धिभेदेन वासनातारतम्यतः ।
साधनानां तारतम्याद्विचित्रा ज्ञानिनां स्थितिः ॥ ६४ ॥
स्वभावाद्यस्य वै बुद्धेर्वासना विरला भवेत् ।
तस्याल्पसाधनेनैव ज्ञानसिद्धिर्भवेदलम् ॥ ६५ ॥
यस्य स्वभावात् संशुद्धं वासना न हि लेशतः ।
तस्य स्वल्पनिमित्तेन भवेज्ज्ञानं महत्तरम् ॥ ६६ ॥
यस्य स्वभावादत्यन्तवासनानिबिडं मनः ।
तस्य ज्ञानं जातमपि समाच्छादितकल्पकम् ॥ ६७ ॥
तेनैव साधितं भूयश्चिरादभ्येति पूर्णताम् ।
अत एव ज्ञानिनां तु दृश्यते विविधा स्थितिः ॥ ६८ ॥
चित्तपाकविभेदेन स्थितिभेदो भृगूद्वह ।

गिरे हुए फलके समान अकस्मात् भी परमपदकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ६२–६३ पू० ॥

अतः कारणोंकी विभिन्नता होनेसे निःश्रेयसकी प्राप्तिमें भी भेद रहता है। इसी प्रकार बुद्धियोंके भेद, वासनाओंकी न्यूनाधिकता और साधनोंके तारतम्यसे भी ज्ञानियोंकी स्थिति अनेक प्रकारकी होती है ॥ ६३ उ०–६४ ॥

जिसकी बुद्धिमें स्वभावसे ही वासनाओंकी कमी होती है उसे थोड़े-से साधनसे ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है ॥ ६५ ॥

जिसका मन स्वभावसे ही शुद्ध है और लेशमात्र भी वासना नहीं है उसे किसी थोड़े-से निमित्तसे ही महान् ज्ञान हो जाता है ॥६६॥

जिसका मन स्वभावसे ही वासनाओंसे अत्यन्त भरपूर है उसे ज्ञान हो भी जाय तो भी ढका-सा रहता है ॥ ६७ ॥

वही जब बहुत साधन करता है तो बहुत काल व्यतीत होनेपर उसका ज्ञान पूर्ण होता है। इसीसे ज्ञानियोंकी अनेक प्रकारकी स्थिति देखी जाती है ॥ ६८ ॥

भृगुनन्दन ! यह स्थितिका भेद चित्तशुद्धिका भेद रहनेके कारण

तस्माद् बुद्धौ वासनाभिस्त्वावृत्तेस्तारतम्यतः ॥ ६९ ॥
ज्ञानं भिन्नं लक्ष्यते हि स्थितिभेदस्तथा भवेत् ।
राम पश्य स्थितेर्भेदं ज्ञानिनां तु परस्परम् ॥ ७० ॥
ब्रह्मविष्णुमहेशानां स्वभावज्ञानिनस्तु ते ।
तेषां पश्य स्थितेर्भेदं स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ७१ ॥
नैषां ज्ञानस्य मालिन्यं वक्तुं शक्यं कथञ्चन ।
स्वभावगुणमाहात्म्यं भिन्नमेव तथापि हि ॥ ७२ ॥
यथा ज्ञानिशरीरं तु गौरं न श्यामतां व्रजेत् ।
एवं चित्तस्वभावोऽपि नान्यभावं प्रपद्यते ॥ ७३ ॥
अस्मान् राम तथा पश्य ज्ञानिनोऽत्रिसुतान् स्थितान् ।
दुर्वाससं चन्द्रमसं माञ्च भिन्नस्थितिं गतम् ॥ ७४ ॥
क्रोधिनं कामिनं त्यक्तसर्वलिङ्गपरिग्रहम् ।

होता है। अतः वासनाओंके कारण बुद्धिमें आवरणकी न्यूनाधिकता रहनेके कारण भिन्न-भिन्न कोटिका ज्ञान देखा जाता है और इसीसे स्थितिमें भी भेद रहता है ॥ ६६--७० पू० ॥

परशुराम ! तुम ज्ञानियोंकी पारस्परिक स्थितियोंका भेद तो देखो—ब्रह्मा, विष्णु और महादेव ये तीनों स्वभावसे ही ज्ञानी हैं; किन्तु देखो, अपने स्वभावसिद्ध गुणोंके कारण उनकी स्थितियोंमें कितना भेद है ॥ ७० उ०–७१ ॥

इनके ज्ञानमें किसी भी प्रकार मलिनता तो बतायी नहीं जा सकती। तथापि स्वाभाविक गुणोंका प्रभाव तो अलग ही होता है ॥ ७२ ॥

जिस प्रकार किसी ज्ञानीका गोरा शरीर साँवला नहीं हो सकता इसी प्रकार उसके चित्तका स्वभाव भी नहीं बदल सकता ॥ ७३ ॥

परशुराम ! तुम हम ही को देखो। महर्षि अत्रिके हम तीनों पुत्र ज्ञानी हैं। किन्तु दुर्वासा, चन्द्रमा और मेरी स्थितियोंमें बड़ा अन्तर है ॥ ७४ ॥

दुर्वासा क्रोधी है, चन्द्रमा कामी है और मैं सब प्रकारके लिंग

वसिष्ठं पश्य कर्मिष्ठं सनकादींश्च न्यासिनः ॥ ७५ ॥
नारदं भक्तिसंमग्नं कवयन्तञ्च भार्गवम् ।
दैत्यपक्षसंश्रयिणं गुरुं देवसमाश्रयम् ॥ ७६ ॥
वाग्मिनञ्च व्यासमपि शास्त्रनिर्माणतत्परम् ।
जनकं पश्य राजानं भरतं त्यागिनं तथा ॥ ७७ ॥
भिन्नस्थितीन् स्वभावेन ज्ञानिनः पश्य चापरान् ।
रहस्यं ते प्रवक्ष्यामि शृणु भार्गवनन्दन ॥ ७८ ॥
विविधा या वासनोक्ता द्वितीया तत्र या भवेत् ।
कर्मजा मूढतारूपा सा सर्वेभ्यो महत्तरा ॥ ७९ ॥
येषां तल्लेशकश्चित्ते नास्ति मेधाविनस्तु ते ।
अपराधविहीनानां तेषां कामादिवासनाः ॥ ८० ॥
अभ्यासेनाविलीनाश्च ज्ञानस्याप्रतिबन्धिकाः ।

और संगका त्याग किये हुए हूँ। वसिष्ठको देखो, वे बड़े कर्मकाण्डी और सनकादिक संन्यासी हैं ॥ ७५ ॥

नारदजी भक्तिभावमें लीन रहते हैं, शुक्राचार्य दैत्योंका पक्ष लेकर कविता करनेमें लगे रहते हैं और बृहस्पतिजी देवताओंका पक्ष लेने वाले हैं ॥ ७६ ॥

व्यासजी बड़े वादकुशल हैं और शास्त्ररचनामें तत्पर रहते हैं। जनकको देखो, वे राजा हैं और भरत राज्यका त्याग करनेवाले हैं ॥७७॥

इसी प्रकार तुम और भी अनेकों भिन्न स्थितिवाले ज्ञानियोंको देख सकते हो। भृगुनन्दन! इसमें जो रहस्य है, वह मैं तुम्हें बताता हूँ, श्रवण करो ॥ ७८ ॥

मैंने ऊपर जो तीन प्रकारकी वासनाएँ बतलायी हैं उनमें दूसरी कर्मवासना, जिसका स्वरूप मूढता ही है, सबसे बढ़कर है ॥ ७९ ॥

जिनके चित्तमें उसका लेशमात्र भी नहीं होता वे लोग बुद्धिमान् होते हैं। [अपने निमित्त कर्मका अभाव होनेके कारण] उनमें अपराधवासना भी नहीं होती। ऐसी स्थितिमें यदि अभ्यासके द्वारा उनकी कामवासना सर्वथा निवृत्त न भी हो तो भी वह ज्ञानकी प्रतिबन्धिका नहीं रहती ॥ ८०-८१ पू० ॥

ततो वैराग्यादिकं तु न तेषामुपयुज्यते ॥ ८१ ॥
न वा भूयोऽपि मननं समाधिश्चोपयुज्यते ।
सकृच्छ्रवणमात्रेण मननं ध्यानमेव च ॥ ८२ ॥
तत्काल ईषत् संप्राप्य ज्ञातासन्दिग्धतत्पदाः ।
भवन्ति जीवन्मुक्तास्ते जनकप्रमुखा इव ॥ ८३ ॥
विपरीताभ्यासवशान्नैव तैः क्षपिताः खलु ।
कामादिवासनाः सम्यक् सूक्ष्मा निर्मलबुद्धिभिः ॥ ८४ ॥
अतस्तैस्तत्पदे ज्ञाते चापि पूर्वस्थितास्तु ताः ।
कामादिवासनाः प्राग्वत् प्रवर्त्तन्ते निरन्तरम् ॥ ८५ ॥
न ताभिरीषद्वा बुद्धेस्तेषां लेपो भवेत् क्वचित् ।
विद्वद्भिस्ते हि संप्रोक्ता मुक्ताश्च बहुमानसाः ॥ ८६ ॥
राम कर्मवासनाभिरतिमूढं तु यन्मनः ।
तस्य ज्ञानं नैव भवेच्छिवोदितमपि क्वचित् ॥ ८७ ॥
दृढापराधयुक्तानामपि न स्यात् कथञ्चन ।

फिर उन्हें वैराग्यादि साधनोंकी भी विशेष आवश्यकता नहीं रहती और न पुनः पुनः मनन या समाधिकी ही अपेक्षा रहती है। एकबार श्रवण करनेपर ही तत्काल उसका कुछ मनन और निदिध्यासन भी हो जाता है। और वे निःसंदेह होकर उस परमपदको जान लेते हैं तथा जनकादिकी तरह जीवन्मुक्त हो जाते हैं ॥ ८१ उ०--८३ ॥

उनकी बुद्धि बहुत सूक्ष्म और निर्मल रहती है, इसलिये अपनी कामादिवासनाओंको उन्होंने उनके विपरीत अभ्यास करके क्षीण नहीं किया ॥ ८४ ॥

इसलिये उस परमपदको जान लेनेपर भी वे पहले हीसे विद्यमान कामादि वासनाएँ उसमें पहले हीकी तरह बराबर नहीं रहती हैं ॥८५॥

उनसे उसकी बुद्धि कभी लेशमात्र भी लिप्त नहीं होती। विद्वान् लोग उन्हें मुक्त और बहुमानस कहते हैं ॥ ८६ ॥

परशुराम ! जिनका मन कर्मवासनाके कारण अत्यन्त मूढ हो गया है उसे साक्षात् शंकरजी उपदेश करें तब भी कभी ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार सुदृढ अपराध-वासनावालोंको भी कभी ज्ञान नहीं होता ॥ ८७--८८ पू० ॥

यस्यापराधरूपापि कर्मरूपापि वासना ॥ ८८ ॥
स्वल्पा कामात्मकाश्चापि बहुलास्तस्य भार्गव।
बहुलश्रवणैस्तद्वन्मननैश्च समाधिभिः ॥ ८९ ॥
चिरकालेन विज्ञानं बहुक्लेशेन जायते।
तस्य व्यवहृतिः स्वल्पा तत्राभ्यासप्रकर्षतः ॥ ९० ॥
मनो यदि भवेन्नष्टप्रायं निर्वासनं ततः।
ज्ञानिनस्त्वीदृशाः प्रोक्ता मध्यमा नष्टमानसाः ॥ ९१ ॥
तेषामेव तु केषाञ्चिदभ्यासस्याप्रकर्षतः।
वासनाविरलं यस्मादनष्टं मानसं भवेत् ॥ ९२ ॥
समनस्कास्तु ते प्रोक्ता मन्दज्ञानयुतास्तु वै।
केवलज्ञानिनस्त्वेते जीवन्मुक्तास्तथेतरे ॥ ९३ ॥
केवलज्ञानिनो दृष्टदुःखभाजो भवन्ति हि।
प्रारब्धतन्त्रास्ते प्रोक्ता देहान्ते मुक्तिभागिनः ॥ ९४ ॥
ये नष्टमानसाः प्रोक्तास्तैः प्रारब्धं पराकृतम्।

जिसमें अपराध और कर्मरूप वासनाएँ कम हैं किन्तु कामवासना अधिक है, परशुराम ! उसे बहुत श्रवण, मनन और समाधिका अभ्यास करनेपर चिरकालमें बड़ी कठिनतासे ज्ञान होता है ॥८८ उ०-९० पू०॥

उसका व्यवहार बहुत कम रहता है। अभ्यासकी अधिकतासे जब उसका मन नष्टप्राय हो जाता है तो वह वासनाशून्य हो जाता है। ऐसे ज्ञानी मध्यम कोटिके होते हैं और 'नष्टमानस' कहलाते हैं ॥ ९० उ०-९१ ॥

उनमेंसे ही किन्हीं-किन्हींमें अभ्यासकी अधिकता न होनेके कारण कुछ वासनाएँ रह जाती हैं, क्योंकि उनका मन नष्ट नहीं होता ॥९२॥

वे 'समनस्क' कहे जाते हैं और मन्द ज्ञानवान् होते हैं। ये केवल ज्ञानी हैं, अन्य (उत्तम और मध्यम कोटिके) ज्ञानी जीवन्मुक्त होते हैं ॥ ९३ ॥

केवल ज्ञानियोंको दृष्ट दुःख भोगने पड़ते हैं। वे प्रारब्धके अधीन रहते हैं और उन्हें देह त्याग करनेपर मुक्ति मिलती है ॥ ९४ ॥

जो नष्टमानस ज्ञानी कहे गये हैं उन्होंने तो प्रारब्धको परास्त

मनोभूमौ तु प्रारब्धबीजं भोगाङ्कुरं भवेत् ॥ ९५ ॥
मनोभूमेरभावेन तत् प्रारब्धं तु कालतः ।
कुसूलस्थं बीजमिव विनश्येन्नष्टशक्तिकम् ॥ ९६ ॥
यथात्यन्तसुमेधावी युगपद्दश पञ्च च ।
कार्याणि कुरुते क्वापि भवेदस्खलितोऽपि च ॥ ९७ ॥
भूय एवंविधा दृष्टाः क्रियानैपुण्यसंश्रयाः ।
यथा गच्छन् वदन् कुर्वन् युगपल्लक्ष्यते जनः ॥ ९८ ॥
तत्र चैकेन मनसा कथं स्यात् त्रिविधा क्रिया ।
अध्येतॄणां बहूनाञ्च युगपल्लक्षयेद् गुरुः ॥ ९९ ॥
अपभ्रंशानुचरितं वर्णभेदव्यवस्थितम् ।
राम यस्ते हतः शत्रुरर्ज्जुनो हैहयाधिपः ॥ १०० ॥
सहस्रबाहुर्युगपद् हेतिभिर्बहुभिः पृथक् ।
अयुध्यदस्खलन् क्वापि मेधावी दृष्ट एव ते ॥ १०१ ॥

कर दिया होता है। मनकी भूमिपर ही प्रारब्धरूप बीजसे भोगरूप अङ्कुर उत्पन्न होता है। किन्तु इनकी मनरूप भूमि रहती नहीं, इसलिये इनका प्रारब्ध खत्तीमें भरे हुए बीजकी तरह कालक्रमसे शक्तिहीन हो जानेके कारण नष्ट हो जाता है ॥ ९५–९६ ॥

[अब बहुमानस ज्ञानियोंका वर्णन करते हैं—] जिस प्रकार कोई अत्यन्त बुद्धिमान् पुरुष एकसाथ दस-पाँच काम करता है और उनमें कोई त्रुटि भी नहीं आने देता, इसी प्रकार ज्ञानियोंमें भी क्रियाकौशलसे सम्पन्न ऐसे अनेकों महापुरुष देखे जाते हैं ॥ ९७–९८ पू० ॥

जिस प्रकार एक ही आदमी एकसाथ चलता, बोलता और हाथोंसे काम करता देखा जाता है। यहाँ एक ही मनसे एक साथ तीन कार्य कैसे हो सकते हैं ? ॥ ९८ उ०–९९ पू० ॥

अध्यापक वर्णभेदमें रहनेवाले विद्यार्थियोंके अशुद्ध उच्चारण और अनुच्चारण को एक-साथ ही देख लेता है ॥ ९९ उ०–१०० पू० ॥

परशुराम ! तुमने जिस हैहयराज सहस्रार्जुन नामके शत्रुका वध किया था वह अलग-अलग अनेकों शस्त्रोंसे एकसाथ ही युद्ध करता था और ऐसा बुद्धिमान् था कि इसमें कभी चूक नहीं पड़ती थी। यह सब तुमने देखा ही था ॥ १०० उ०–१०१ ॥

तेषां मनो बहुविधं भूत्वा तत्तत्क्रमानुगम्।
यथाकार्यं बहुविधं साधयेत्तद्वदेव हि ॥ १०२ ॥
उत्तमज्ञानिनामात्मदृष्टिर्बाह्यगतापि च।
अविरुद्धा सर्वदा स्याद्येषां ते बहुमानसाः ॥ १०३ ॥
तत्प्रारब्धं मनोभूमौ भवेदङ्कुरितं पृथक्।
भवेज्ज्ञानाग्निना दग्धं भूतं भूतं पुनः पुनः ॥ १०४ ॥
प्रारब्धबीजाङ्कुरः स्यात् सुखदुःखसमागमः।
तद्विमर्शः फलं प्रोक्तं कुतो दग्धाङ्कुरे फलम् ॥ १०५ ॥
आहृतैरनुसन्धानैस्तेषां व्यवहृतिर्भवेत्।
यथा प्रौढो हि बालेन सह खेलन् हि दृश्यते ॥ १०६ ॥
हृष्टो विषण्णश्च शिलागजादीनां विनाशने।
एवं हृष्यन्ति सीदन्ति कार्येषु बहुमानसाः ॥ १०७ ॥
यथाऽन्यकार्यसक्तस्य हर्षोद्वेगौ न चान्तरौ।

इन सबका मन जैसे अनेकरूप होकर अनेक प्रकारके कार्योंको उन-उनके क्रमानुसार सम्पन्न करता है, वैसे ही जिन उत्तम ज्ञानियों-की आत्मदृष्टिमें बाहर जानेपर भी कभी कोई अन्तर नहीं पड़ता वे 'बहुमानस' कहलाते हैं ॥ १०२–१०३ ॥

उनका अलग-अलग प्रारब्ध जैसे-जैसे उनकी मनोभूमिमें अंकुरित होता है वैसे-वैसे ही वह पुनः पुनः ज्ञानाग्निसे दग्ध हो जाता है ॥१०४॥

प्रारब्धरूप बीजका अंकुर है सुख-दुःखकी प्राप्ति और उसका फल है सुख-दुःखपर विचार करना। किन्तु जब अंकुर ही जल गया तो फल कहाँसे होगा ? ॥ १०५ ॥

केवल स्वभावसिद्ध अनुसन्धानके द्वारा ही उनका व्यवहार चलता है। जैसे कोई-कोई प्रौढ पुरुष बच्चोंके साथ खेलते समय पत्थर-के हाथी आदि किसी खिलौनेके फूट जानेपर प्रसन्न या उदास होता देखा जाता है उसी प्रकार ये बहुमानस ज्ञानी भी व्यवहारमें हर्षित और दुःखित होते देखे जाते हैं ॥ १०६–१०७ ॥

जिस प्रकार किसी अन्य कार्यमें लगे हुए पुरुषको ऊपर हीसे

एवं तेषां व्यवहृतौ समा सर्वत्र संस्थितिः ॥ १०८ ॥
मेधाविनां ज्ञानिनां तु वासनानाशहेतवे ।
विरुद्धवासनाभ्यासनिरोधादेरभावतः ॥ १०९॥
अनुवृत्तिर्भवेत् पूर्ववासनाऽनाशहेतुतः ।
अतः केचित् कर्मनिष्ठाः कामिनः क्रोधिनोऽपरे ॥ ११० ॥
उत्तमज्ञानिनो भान्ति विविधाचारतत्पराः ।
समनस्कस्तत्र यो वै मन्दज्ञानी निरूपितः ॥ १११ ॥
तेनापि वेद्यमखिलमसत्यत्वेन निश्चितम् ।
स्वरूपवित्तौ नो किञ्चिद्भासते हि समाधिषु ॥ ११२ ॥
समाधिर्वै स्वरूपस्य विमर्शो नान्य उच्यते ।
निर्विकल्पस्वरूपं तु सर्वाश्रयतया सदा ॥ ११३ ॥
स्फुरत्येव हि सर्वेषां तदस्फूर्त्तौ न किञ्चन ।

हर्ष-शोक होते हैं, अन्तःकरणसे नहीं, उसी प्रकार तरह-तरहका व्यवहार करते समय भी उनकी स्थिति सर्वत्र समान होती है ॥ १०८ ॥

ये बुद्धिमान् ज्ञानी अपनी वासनाओंके नाशके लिये विरुद्ध वासनाओंका अभ्यास अथवा मनोनिरोध आदि नहीं करते । अतः पूर्ववासनाओंका नाश न होनेके कारण कभी-कभी उनमेंसे किसीकी अनुवृत्ति हो जाती है । इसीसे इन उत्तम ज्ञानियोंमेंसे कोई कर्मनिष्ठ, कोई कामी और कोई क्रोधी इस प्रकार तरह-तरहके आचरणवाले देखे जाते हैं ॥ १०९–१११ पू० ॥

ऊपर जिस समनस्क मन्द ज्ञानीका वर्णन किया उसने भी सम्पूर्ण दृश्यका असत्यत्व तो निश्चय कर लिया होता है तथा स्वरूपानुसन्धान और समाधिके समय उसे अन्य कुछ भासता भी नहीं है, [किन्तु अन्य अवस्थाओंमें उसे हर्ष-विषादादि हो जाते हैं] ॥ १११ उ०–११२ ॥

वास्तवमें तो स्वरूपका अनुसन्धान ही समाधि कहा जाता है, और कुछ नहीं । एक निर्विकल्पस्वरूप आत्मा ही सर्वदा सबके आश्रयरूपसे स्फुरित हो रहा है । वह स्फुरित न हो तो कुछ भी

तथा विकल्पविकलं स्फुरेत् प्रोक्तदशासु च ॥ ११४ ॥
तावता न हि सर्वेषां समाधिः स्याद्धि भार्गव ।
ये तद्विमर्शसंयुक्ताः स तेषामेव संस्मृतः ॥ ११५ ॥
व्यवहारपरा वित्तिरपि वेद्यविवर्जिता ।
विदितं नाभसं नैल्यं यथा भूयोऽवलोकने ॥ ११६ ॥
असत्यत्वेन विज्ञातं न वित्तिस्तेन संयुता ।
अन्यथा नैव भेदः स्यात्तत्त्वातत्त्वविभासयोः ॥ ११७ ॥
तथाऽसत्यगृहीतस्य वेद्यस्य न हि वेदने ।
सम्बन्धः कुत्र चिद्वा स्याज्ज्ञानिनामत एव हि ॥ ११८ ॥
वेद्यहीना भवेद्वित्तिर्बाधितस्य विभासनात् ।
अमनस्कस्य सुतरां यतः सा चोन्मनी दशा ॥ ११९ ॥
मनो वै निश्चलं यत्र तदुक्तं चोन्मनी दशा ।

नहीं रह सकता । तथा उपर्युक्त विभिन्न ज्ञानोंकी अन्तराल अवस्थाओंमें वही निर्विकल्परूपसे स्फुरित होता है ॥ ११३-११४ ॥

परशुराम ! किन्तु इतने हीसे सबको समाधिकी प्राप्ति नहीं हो जाती । जो आत्मानुसन्धानपूर्वक अभ्यास करते हैं उन्हें ही समाधिकी प्राप्ति मानी गयी है ॥ ११५ ॥

तत्त्वज्ञ महापुरुषोंकी दृष्टिमें तो व्यवहारके समय भी चेतन चेत्यवर्गसे रहित ही है । जिसे आकाशकी नीलिमाके असत्यत्व-का ज्ञान हो गया है उसे दिखाई देनेपर भी वह असत्य ही जान पड़ती है । उसी प्रकार ज्ञानियोंकी दृष्टिमें चेतन दृश्यशून्य है । यदि ऐसा न हो तो ज्ञानी और अज्ञानीके दृश्य दर्शनमें कोई भेद ही न रहे ॥ ११६-११७ ॥

दृश्यवर्गको इस प्रकार असत्यरूपसे ग्रहण कर लेनेपर उसका भास होनेपर भी ज्ञानियोंका उसके साथ कहीं कोई सम्बन्ध नहीं होता । इसीसे बाधित दृश्यका भान होनेपर भी उत्तम ज्ञानियोंकी दृष्टिमें चिच्छक्ति सर्वदा दृश्यहीन ही है । तथा जो अन्यमनस्क ज्ञानी हैं उन्हें तो दृश्यका भान ही नहीं होता क्योंकि उनकी तो उन्मनी अवस्था रहती है ॥ ११८-११९ ॥

जहाँ मन निश्चित हो जाता है उसे उन्मनी दशा कहते हैं और

मनसश्चलनं तत् स्यात् सत्यवेद्यस्य सङ्गतिः ॥ १२० ॥
उत्तमज्ञानिनश्चैते दशे युगपदास्थिते ।
स सर्वदा व्युत्थितश्च समाधिस्थश्च भार्गव ॥ १२१ ॥
तस्मात्तस्यापि वेद्येन रहिता वित्तिरास्थिता ।
एवमेतद्धि संप्रोक्तं पृष्टं यद्यत् पुरा त्वया ॥ १२२ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे ज्ञानिस्थिति-
विभेदकथनमेकोनविंशोऽध्यायः ।

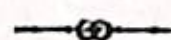


जब उसका सत्य रूपसे गृहीत दृश्यके साथ सम्बन्ध रहता है तो वही उसका चलन है ॥ १२० ॥

उत्तम ज्ञानीमें ये दोनों अवस्थाएँ एक साथ रहती हैं । परशुराम ! वह सर्वदा ही व्युत्थित रहता है और सर्वदा ही समाधिस्थ ॥ १२१ ॥

अतः उनकी दृष्टिमें भी चेतन सर्वदा चेत्यशून्य ही है। इस प्रकार तुमने पहले जो प्रश्न किया था वह सब निरूपण कर दिया ॥ १२२ ॥

एकोनविंश अध्याय समाप्त ।



विंशोऽध्यायः

अत्र ते वर्त्तयिष्यामि पुरा वृत्तं शृणुष्व तत् ।
पुरा ब्रह्मसभामध्ये सत्यलोकेऽतिपावने ॥ १ ॥
ज्ञानप्रसङ्गः समभूत् सूक्ष्मात् सूक्ष्मविमर्शनम् ।
सनकाद्या वसिष्ठश्च पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥ २ ॥
भृगुरत्रिरङ्गिराश्च प्रचेता नारदस्तथा ।
च्यवनो वामदेवश्च विश्वामित्रोऽथ गौतमः ॥ ३ ॥
शुक्रः पराशरो व्यासः कण्वः काश्यप एव च ।
दक्षः सुमन्तुः शङ्खश्च लिखितो देवलोऽपि च ॥ ४ ॥
एवमन्ये ऋषिगणा राजर्षिप्रवरा अपि ।
सर्वे समुदितास्तत्र ब्रह्मसत्रे महत्तरे ॥ ५ ॥
मीमांसां चक्रुरत्युच्चैः सूक्ष्मात् सूक्ष्मनिरूपणैः ।
ब्रह्माणं तत्र पप्रच्छुर्ऋषयः सर्व एव ते ॥ ६ ॥
भगवन् ज्ञानिनो लोके वयं ज्ञातपरावराः ।

विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

श्रीत्रिपुरादेवीका आविर्भाव और उपदेश

[श्रीदत्तात्रेयजी बोले-] अब मैं तुम्हें एक प्राचीन वृत्तान्त सुनाता हूँ, सुनो। पूर्वकालकी बात है परम पवित्र सत्यलोकमें ब्रह्माजीकी सभामें ज्ञानचर्चा चली। उसमें सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म विचार हुआ ॥ १–२ पू० ॥

उस महती ज्ञानगोष्ठीमें सनकादि, वसिष्ठ, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, अत्रि, अंगिरा, प्रचेता, नारद, च्यवन, वामदेव, विश्वामित्र, गौतम, शुक्राचार्य, पराशर, व्यास, कण्व, कश्यप, दक्ष, सुमन्तु, शंख, लिखित, देवल तथा और भी अनेकों महर्षि एवं राजर्षिगण एकत्रित हुए। और सूक्ष्म निरूपण करते हुए वह बड़ी गहरी मीमांसा करने लगे। तब उन सभी ऋषियोंने ब्रह्माजीसे पूछा—॥ २ उ०–६ ॥

"भगवन्! लोकमें हम लोग ज्ञानी माने जाते हैं और कार्य-

तेषां नो विविधा भाति स्थितिः प्रकृतिभेदतः ॥ ७ ॥
केचित् सदा समाधिस्थाः केचिन्मीमांसने रताः ।
अपरे भक्तिनिर्मग्नाश्चान्ये कर्मसमाश्रयाः ॥ ८ ॥
व्यवहारपरास्त्वेके बहिर्मुखनरा इव ।
तेषु श्रेयान् हि कतम एतन्नो वक्तुमर्हसि ॥ ९ ॥
स्वस्वपक्षं वयं विद्मः श्रेयांसमिति वै विधे ।
इति पृष्टोऽवदद् ब्रह्मा मत्वाऽनाश्वस्तमानसान् ॥ १० ॥
मुनीन्द्रा नाहमप्येतद्वेद्मि सर्वात्मना ततः ।
जानीयादिममर्थन्तु सर्वज्ञः परमेश्वरः ॥ ११ ॥
तत्र यामोऽर्थं संप्रष्टुमित्युक्त्वा तत्र तैर्ययौ ।
सङ्गम्य देवदेवेशं विष्णुं नाभिसमागतः ॥ १२ ॥
पप्रच्छ ऋषिमुख्यानां प्रश्नं तं लोकसृड् विधिः ।

कारण सभी तत्त्वोंके जाननेवाले हैं। किन्तु स्वभावभेदसे हम सबकी स्थितियाँ तरह-तरहकी हैं ॥ ७ ॥

हममें से कोई सर्वदा समाधिमें मग्न रहते हैं, कोई विचारमें लगे रहते हैं, कोई भक्तिभावमें लीन रहते हैं और कोई कर्ममें निष्ठा रखने वाले हैं ॥ ८ ॥

कोई बहिर्मुख पुरुषोंकी तरह व्यवहारमें लगे रहते हैं। इन सबमें श्रेष्ठ कौन है—यह हमें बतलानेकी कृपा करें। ब्रह्मन्! हम लोग तो अपने-अपने पक्षको ही सबसे श्रेष्ठ मानते हैं ॥ ९--१० पू० ॥

मुनियों द्वारा इस प्रकार पूछे जानेपर ब्रह्माजीने यह सोचकर कि इनके चित्तमें मेरे प्रति ठीक-ठीक श्रद्धा नहीं है, उनसे, कहा, "मुनीन्द्रो! यह बात पूरी तरहसे मैं भी नहीं जानता। भगवान् महेश्वर सर्वज्ञ हैं, वे इस विषयमें जानते होंगे ॥ १० उ०--११ ॥

चलो, उनसे पूछनेके लिये वहाँ चलें।" ऐसा कहकर वे उन सबको लेकर वहाँ गये। भगवान् विष्णु भी वहीं पधारे हुए थे। अतः उनके सहित श्रीमहादेवजीसे मिलकर लोकस्रष्टा श्रीब्रह्माजीने मुनिश्रेष्ठोंका प्रश्न पूछा ॥ १२--१३ पू० ॥

प्रश्नं निशम्य च ज्ञात्वा विष्णुर्विधिमनोगतम् ॥ १३ ॥
मत्वाऽनाश्वस्तमनसा ऋषीन् देवो व्यचिन्तयत् ।
किञ्चिदुक्तं मयाऽत्रापि व्यर्थमेव भवेन्न तु ॥ १४ ॥
स्वपक्षत्वेन जानीयुर्ऋषयः श्रद्धया युताः ।
इति मत्वा प्रत्युवाच देवदेवो महेश्वरः ॥ १५ ॥
शृणुध्वं मुनयो नाऽहमप्येतद्वेद्मि सुस्फुटम् ।
अतो विद्यां भगवतीं ध्यायामः परमेश्वरीम् ॥ १६ ॥
तत्प्रसादान्निगूढार्थमपि विद्मस्ततः परम् ।
इत्युक्त्वा मुनयः सर्वे विधिविष्णुशिवैः सह ॥ १७ ॥
दध्युर्विद्यां महेशानीं त्रिपुरां चिच्छरीरिणीम् ।
एवं सर्वैरभिध्याता त्रिपुरा चिच्छरीरिणी ॥ १८ ॥
आविरासीच्चिदाकाशमयी शब्दमयी परा ।
अभवन्मेघगम्भीरनिःस्वनो गगनाङ्गणे ॥ १९ ॥
वदन्त्वृषिगणाः किं वो ध्याता तद् द्रुतमीहितम् ।

प्रश्न सुनकर श्रीमहादेवजी विष्णु और ब्रह्माजी के मनका आशय समझ गये और ऋषियोंके चित्तमें अश्रद्धा देखकर सोचने लगे कि इस विषयमें यदि मैं भी कुछ कहूंगा तो वह व्यर्थ ही होगी। ऋषियों-को श्रद्धा तो है नहीं, इसलिये उसे ये मेरे अपने ही पक्षकी बात मानेंगे ॥ १३ उ०--१५ पू० ॥

ऐसा सोचकर देवाधिदेव श्रीमहादेवजी बोले—"मुनिगण ! सुनिये, मैं भी यह बात स्पष्टतया नहीं जानता। इसलिये हम सब मिलकर परमेश्वरी भगवती विद्यादेवीका ध्यान करें। फिर तो उनकी कृपासे हम अत्यन्त गूढ़ रहस्यको भी जान सकते हैं" ॥ १५ उ०--१७ पू० ॥

महादेवजीके ऐसा कहनेपर ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजीके सहित सभी मुनिगण चित्शरीरिणी महेश्वरी त्रिपुरादेवीका ध्यान करने लगे। इस प्रकार सबके द्वारा ध्यान किये जाने पर चित्स्वरूपिणी त्रिपुरा, जो चिदाकाशमयी और शब्दस्वरूपा हैं, प्रकट हो गयीं ॥ १७ उ०--१९ पू० ॥

तब आकाशमण्डलमें उनका यह मेघगम्भीर स्वर गूंज उठा— "ऋषियो ! बतलाओ, तुमने किसलिये मेरा ध्यान किया ? शीघ्र ही

मत्पराणां हि केषाञ्चिन्न हीयेताऽभिवाञ्छितम् ॥ २० ॥
इति श्रुत्वा परां वाणीं प्रणेमुर्मुनिपुङ्गवाः ।
ब्रह्मादयोऽपि तदनु तुष्टुवुर्विविधैः स्तवैः ॥ २१ ॥
अथ प्रोचुर्ऋषिगणा विद्यां तां त्रिपुरेश्वरीम् ।
नमस्तुभ्यं महेशानि श्रीविद्ये त्रिपुरेश्वरि ॥ २२ ॥
अशेषोत्पादयित्री त्वं स्थापयित्री निजात्मनि ।
विलापयित्री सर्वस्य परमेश्वरि ते नमः ॥ २३ ॥
अनूतना सर्वदाऽसि यतो नास्ति जनिस्तव ।
नवात्मिका सदा त्वं वै यतो नास्ति जरा तव ॥ २४ ॥
सर्वासि सर्वसारासि सर्वज्ञा सर्वहर्षिणी ।
असर्वाऽसर्वगाऽसाराऽसर्वज्ञाऽसर्वहर्षिणी ॥ २५ ॥
देवि भूयो नमस्तुभ्यं पुरस्तात् पृष्ठतोऽपि च ।
अधस्तादूर्ध्वतः पार्श्वे सर्वतस्ते नमो नमः ॥ २६ ॥

अपना अभीष्ट प्रकट करो। मेरे भक्तोंकी कोई भी इच्छा कभी विफल नहीं होती" ॥ १९ उ०-२० ॥

यह परा वाणी सुनकर सभी मुनिश्रेष्ठोंने प्रणाम किया और उनके ब्रह्मादिकने भी प्रणाम करके अनेकों स्तोत्रों द्वारा उनकी स्तुति की ॥ २१ ॥

फिर ऋषियोंने उन त्रिपुरेश्वरी विद्यादेवीसे कहा, "महेश्वरि ! श्रीविद्ये ! त्रिपुरेश्वरि ! आपको नमस्कार है ॥ २२ ॥

आप अपने ही में सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति स्थिति और लय करनेवाली हैं। परमेश्वरि ! आपको नमस्कार है ॥ २३ ॥

आप सर्वदा पुरातन हैं, क्योंकि आपका जन्म नहीं होता और सदा ही नवीना हैं, क्योंकि कभी आपकी वृद्धावस्था नहीं होती ॥ २४ ॥

आप सर्व हैं, सबकी सारभूता हैं, सर्वज्ञा हैं और सबको हर्षित करनेवाली हैं। [किन्तु आपके स्वरूपमें सर्व तो है ही नहीं, इसलिये] आप सर्वशून्या हैं, असर्वगता हैं, असारा हैं, असर्वज्ञा हैं और न सर्वको हर्षित करनेवाली हैं ॥ २५ ॥

देवि ! आपको पुनः नमस्कार है। आपको आगेसे, पीछेसे, नीचेसे, ऊपरसे, इधर-उधरसे और सभी ओरसे पुनः पुनः नमस्कार है ॥ २६ ॥

ब्रूहि यत्तेऽपरं रूपमैश्वर्यं ज्ञानमेव च।
फलं तस्माद्धनं मुख्यं साधकं सिद्धमेव च॥ २७॥
सिद्धेस्तु परमां काष्ठां सिद्धेषूत्तममेव च।
देव्येतत् क्रमतो ब्रूहि भूयस्तुभ्यं नमो नमः॥ २८॥
इत्यापृष्टा महाविद्या प्रवक्तुमुपचक्रमे।
दयमाना ऋषिगणे स्पष्टार्थं परमं वचः॥ २९॥
शृणुध्वमृषयः सर्वे प्रवक्ष्यामि क्रमेण तत्।
अमृतं ह्यगमाम्भोधेः समुद्धृत्य ददामि वः॥ ३०॥
यत्र सर्वं जगदिदं दर्पणप्रतिबिम्बवत्।
उत्पन्नञ्च स्थितं लीनं सर्वेषां भासते सदा॥ ३१॥
यदेव जगदाकारं भासतेऽविदितात्मनाम्।
यद्योगिनां निर्विकल्पं विभात्यात्मनि केवलम्॥ ३२॥
गम्भीरस्तिमिताम्भोधिरिव निश्चलभासनम्।
यत् सुभक्तैरतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात्॥ ३३॥
स्वभावस्थं स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वोदयं पदम्।

आपका जो पर और अपर रूप है, जो ऐश्वर्य और ज्ञान है, उसका जो फल और मुख्य साधन है, जो साधक और सिद्ध हैं, जो सिद्धिकी पराकाष्ठा है और सिद्धोंमें जो श्रेष्ठ हैं—उन सबका क्रमशः वर्णन कीजिये। आपको पुनः अनेकों बार नमस्कार है"॥ २७-२८॥

ऋषियों द्वारा इसप्रकार पूछे जानेपर देवी महाविद्याकी उनपर दयादृष्टि हो गयी और उन्होंने असन्दिग्ध एवं मधुर वचनोंमें अपना भाषण आरम्भ किया॥ २९॥

"ऋषिगण! आप सभी श्रवण करें, मैं क्रमशः वर्णन करती हूं। मैं आगमरूपी समुद्रका अमृत निकालकर आप लोगोंको देती हूँ॥ ३०॥

जहाँ यह सम्पूर्ण जगत् दर्पणमें प्रतिबिम्बकी तरह सभीको सर्वदा उत्पन्न, स्थित और लीन हुआ भास रहा है, जो अज्ञानियोंको जगत्-रूप ही भासता है, किन्तु योगियोंको जो निर्विकल्प जान पड़ता है तथा अपने स्वरूपमें जो गम्भीर शान्त समुद्रके समान निश्चल रूपसे स्फुरित हो रहा है, श्रेष्ठ भक्तगण जिस अद्वय आत्मरूप पदको जान-

विभेदभासमारुह्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः ॥ ३४ ॥
अक्षान्तःकरणादीनां प्राणसूत्रं यदान्तरम् ।
यदभानेन किञ्चित् स्याद्यच्छास्त्रैरभिलक्षितम् ॥ ३५ ॥
परा सा प्रतिभा देव्याः परं रूपं मयेरितम् ।
ब्रह्माण्डानामनेकानां बहिरूर्ध्वे सुधाम्बुधौ ॥ ३६ ॥
मणिद्वीपे नीपवने चिन्तामणिसुमन्दिरे ।
पञ्चब्रह्ममये मञ्चे रूपं त्रैपुरसुन्दरम् ॥ ३७ ॥
अनादिमिथुनं यत्तदपराख्यम् ऋषीश्वराः ।
तथा सदाशिवेशानौ विधिविष्णुत्रिलोचनाः ॥ ३८ ॥
गणेशस्कन्ददिक्पालाः शक्तयो गणदेवताः ।
यातुधानाः सुरा नागा यक्षकिम्पुरुषादयः ॥ ३९ ॥
पूज्याः सर्वा मम तनूरपराः परिकीर्त्तिताः ।

कर भी अपने चित्तकी स्वाभाविकी प्रवृत्तिके कारण उपास्य-उपासकरूप भेदकी कल्पना करके अत्यन्त तत्परा हो निश्चल भावसे परम प्रेमपूर्वक उसका सेवन करते हैं, जो इन्द्रिय और अन्तःकरणादिका प्राणरूप अन्तःसूत्र है, जिसके स्फुरित न होनेपर कुछ भी नहीं रहता तथा जो केवल शास्त्रों द्वारा ही लक्षित होता है, वह परम प्रकाश ही मुझ त्रिपुरादेवीका पर स्वरूप कहा गया है ॥ ३१–३६ पू० ॥

अनेकों ब्रह्माण्डोंके बाहर बहुत दूर जो अमृतका समुद्र है उसमें एक मणिमय द्वीप है, उसके कदम्ब-वनमें एक चिन्तामणियोंका बना मनोहर मन्दिर है। उसमें पञ्चब्रह्ममय[1] सिंहासनपर जो अनादि मिथुनात्मक त्रिपुरसुन्दरी रूप है, ऋषीश्वरो ! वही मेरा अपर स्वरूप है ॥ ३६ उ०–३७ पू० ॥

इसी प्रकार सदाशिव, ईशान, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, गणेश, स्कन्द, इन्द्रादि दिक्पाल, महालक्ष्मी आदि शक्तियाँ, वसु आदि गण, राक्षस, देवता, नाग, यक्ष और किन्नर आदि जो भी पूज्य हैं वे सभी मेरे अपर स्वरूप कहे गये हैं ॥ ३८ उ०–४० पू० ॥

---

१. ब्रह्मा, विष्णु, शिव, ईश्वर और सदाशिव-ये पाँच ब्रह्म (भगवान्‌के स्वरूप) ही जिसके अवयव हैं। इनमें पहले उसके चार पाये हैं और सदाशिव ऊपरका पट्ट है।

मम मायाविमूढास्तु मां न जानन्ति सर्वतः ॥ ४० ॥
पूजिता ह्येव सर्वैस्तैर्ददामि फलमीहितम्।
न मत्तोऽन्या काचिदस्ति पूज्या वा फलदायिनी ॥ ४१ ॥
यथा यो मां भावयति फलं मत् प्राप्नुयात्तथा।
ममैश्वर्यमृषिगणा अपरिच्छिन्नमीरितम् ॥ ४२ ॥
अनपेक्ष्यैव यत् किञ्चिदहमद्वयचिन्मयी।
स्फुराम्यनन्तजगदाकारेण ऋषिपुङ्गवाः ॥ ४३ ॥
तथा स्फुरन्त्यपि सदा नात्येम्यद्वैतचिद्वपुः।
एतन्मे मुख्यमैश्वर्यं दुर्घटार्थविभावनम् ॥ ४४ ॥
ममैश्वर्यन्तु ऋषयः पश्यध्वं सूक्ष्मया दृशा।
सर्वाश्रया सर्वगता चाप्यहं केवला चितिः ॥ ४५ ॥
स्वमायया स्वमज्ञात्वा संसरन्ती चिरादहम्।
भूयो विदित्वा स्वात्मानं गुरोः शिष्यपदं गता ॥ ४६ ॥

इन सबरूपोंमें मैं हूँ, किन्तु मेरी मायासे मोहित पुरुष मुझे नहीं पहचानते। इन सबमें पूजित होनेपर मैं ही इनके द्वारा अभीष्ट फल प्रदान करती हूँ। मुझसे भिन्न न कोई पूजित होनेवाली है और न फल देनेवाली ॥ ४० उ०–४१ ॥

मुझमें जो जैसी भावना करता है वह वैसा ही फल प्राप्त कर लेता है। ऋषियो! मेरा ऐश्वर्य असीम बतलाया गया है ॥ ४२ ॥

मुनिवरो! मैं अद्वय और चिन्मयी हूँ तथा अन्य किसीकी भी अपेक्षा न रख कर जगत्‌रूपसे भास रही हूँ ॥ ४३ ॥

किन्तु इस प्रकार भासनेपर भी मैं अपने अद्वितीय चिन्मय स्वरूपका त्याग नहीं करती हूँ। यही असम्भवको सम्भव कर देनेवाला मेरा मुख्य ऐश्वर्य है ॥ ४४ ॥

ऋषियो! मेरे ऐश्वर्यको आप लोग तनिक सूक्ष्म दृष्टिसे देखें कि मैं सबकी आधार और सबमें अनुगत होकर भी केवल चिन्मात्र ही हूँ ॥ ४५ ॥

अपनी मायासे अपने हीको न जानकर मैं चिरकालसे जन्म-मरण रूप संसारचक्रमें पड़ी हुई हूँ। फिर गुरुदेवका शिष्यत्व स्वीकार

नित्यमुक्ता पुनर्मुक्ता भूयो भूयो भवाम्यहम् ।
निरुपादानसम्भारं सृजामि जगदीदृशम् ॥ ४७ ॥
इत्यादि सन्ति बहुधा ममैश्वर्यपरम्पराः ।
न तद् गणयितुं शक्यं सहस्रवदनेन वा ॥ ४८ ॥
शृण्वन्तु संग्रहाद्वक्ष्ये मदैश्वर्यस्य लेशतः ।
जगद्धात्रा विचित्रेयं सर्वतः संप्रसारिता ॥ ४९ ॥
ममाज्ञानं बहुविधं द्वैताद्वैतादिभेदतः ।
परापरविभेदाच्च बहुधा चापि तत् फलम् ॥ ५० ॥
द्वैतज्ञानन्तु विविधं द्वितीयालम्बनं यतः ।
ध्यानमेव तु तत्प्रोक्तं स्वप्नराज्यादिसम्मितम् ॥ ५१ ॥
तच्चापि सफलं ज्ञेयं नियत्या नियतं यतः ।
अपरञ्चापि विविधं तत्र मुख्यं तदेव हि ॥ ५२ ॥

कर आत्मज्ञान प्राप्त करके मैं नित्यमुक्त होकर भी पुनः पुनः मुक्त होती हूँ। तथा किसी प्रकारकी साधनसामग्रीके बिना ही ऐसा संसार रच लेती हूँ ॥ ४६-४७ ॥

इसी प्रकार मेरी ऐश्वर्य-परम्परा अनेक प्रकारकी है। उसे सहस्र मुखवाले शेषजी भी नहीं गिन सकते ॥ ४८ ॥

सुनिये, संक्षेपसे बतलाती हूँ। मेरे ऐश्वर्यके लेशमात्रसे सब ओर यह अद्भुत जगद्व्यवहार फैला हुआ है ॥ ४९ ॥

द्वैत और अद्वैत आदि भेदसे मेरा ज्ञान भी अनेक प्रकार का है। तथा पर और अपर रूपसे उसके फल भी अनेकों प्रकारके हैं ॥ ५० ॥

द्वैत ज्ञान अनेकों प्रकारका है, क्योंकि उसका आश्रय कोई अन्य होता है। उसे ध्यान भी कहते हैं। यह स्वप्न और मनोराज्यके समान होता है ॥ ५१ ॥

किन्तु [मनोराज्यके समान होनेपर भी] उसे फलदायक ही समझना चाहिये, क्योंकि नियति (विधाता) का ऐसा ही विधान है। अपर ज्ञान यद्यपि अनेक प्रकारका है तथापि उनमें मुख्य वही है [जो ऊपर श्लोक ३६-३७ में बतलाया गया है] ॥ ५२ ॥

प्रोक्तमुख्यापरमयं ध्यानं मुख्यफलक्रमम् ।
अद्वैतविज्ञानमेव परविज्ञानमीरितम् ॥ ५३ ॥
मामनाराध्य परमां चिरं विद्यां तु श्रीमतीम् ।
कथं प्राप्येत परमां विद्यामद्वैतसंज्ञिकाम् ॥ ५४ ॥
तदेवाद्वैतविज्ञानं केवला या परा चितिः ।
तस्याः शुद्धदशामर्शो द्वैतामर्शाभिभावकः ॥ ५५ ॥
चित्तं यदा स्वमात्मानं केवलं ह्यभिसम्पतेत् ।
तदेवानुविभातं स्याद्विज्ञानमृषिसत्तमाः ॥ ५६ ॥
श्रुतितो युक्तितो वापि केवलात्मविभासनम् ।
देहाद्यात्मावभासस्य नाशनं ज्ञानमुच्यते ॥ ५७ ॥
तदेव भवति ज्ञानं यज्ज्ञानेन तु किञ्चन ।
भासमानमपि क्वापि न विभायात् कथञ्चन ॥ ५८ ॥
तदेवाद्वैतविज्ञानं यद्विज्ञानेन किञ्चन ।
अविज्ञातं नैव भवेत् कदाचिल्लेशतोऽपि च ॥ ५९ ॥

ऊपर बतलाया हुआ वह अपर ब्रह्मका ध्यान मुख्य फल (मोक्ष) का परम्परा-साधन है । पर ज्ञान तो अद्वैतज्ञान ही कहा गया है ॥ ५३ ॥

मैं परमोत्कृष्ट श्रीविद्या हूँ । मेरी चिरकालतक आराधना किये विना कोई अद्वैत नाम्नी पराविद्याको कैसे प्राप्त कर सकता है ॥ ५४ ॥

जो विशुद्ध पराचिति है वही अद्वैत ज्ञान है । उसके शुद्धस्वरूपका विचार ही द्वैतभावनाकी निवृत्ति करनेवाला है ॥ ५५ ॥

जिस समय चित्त केवल अपने आत्मा स्वरूपकी ओर ही लगता है, मुनिवरो ! उसी समय उस विशुद्ध विज्ञानका साक्षात्कार होता है ॥५६॥

श्रुति और युक्तिके द्वारा विशुद्ध आत्माका अनुभव होना और देहादिमें आत्मभाव का अभाव हो जाना भी ज्ञान ही कहा जाता है ॥ ५७ ॥

ज्ञान तो वास्तवमें वही है जिसके होनेपर जो कुछ भासमान है वह कहीं भी तनिक भी नहीं भासता ॥ ५८ ॥

सच्चा अद्वैत ज्ञान वही है जिसके होनेपर फिर कभी, कुछ भा लेशमात्र भी अज्ञात नहीं रहता ॥ ५६ ॥

सर्वविज्ञानात्मरूपं यद्विज्ञानं भवेत् खलु।
तदेवाद्वैतविज्ञानं परमं तापसोत्तमाः॥ ६० ॥
जाते यादृशविज्ञाने संशयाश्चिरसम्भृताः।
वायुनेवाभ्रजालानि विलीयन्ते परं हि तत्॥ ६१ ॥
कामादिवासनाः सर्वा यस्मिन् सन्ति न किञ्चन।
स्युर्भग्नदंष्ट्राहिरिव तद्विज्ञानं परं स्मृतम्॥ ६२ ॥
विज्ञानस्य फलं सर्वदुःखानां विलयो भवेत्।
अत्यन्ताभयसंप्राप्तिर्मोक्ष इत्युच्यते फलम्॥ ६३ ॥
भयं द्वितीयसङ्कल्पादद्वैते विदिते दृढम्।
कुतः स्याद् द्वैतसङ्कल्पस्तमः सूर्योदये यथा॥ ६४ ॥
ऋषयो न भयं क्वापि द्वैतसङ्कल्पवर्जने।
अतो यत् फलमन्यत् स्यात्तद्भयं सर्वथा भवेत्॥ ६५ ॥
अन्तवत्तु द्वितीयं स्याद् भूयो लोके समीक्षणात्।

श्रेष्ठ तपस्वियो ! जिस विज्ञानके द्वारा घट-पटादि सम्पूर्ण विज्ञान आत्मस्वरूप हो जाते हैं वही वास्तवमें परम अद्वैतविज्ञान है॥ ६० ॥

जिस प्रकारका विज्ञान उत्पन्न होनेपर चिरकालसे पोषित सारे संशय वायुसे मेघमालाके समान लीन हो जाते हैं वही परविज्ञान है॥ ६१ ॥

जिसके होनेपर कामादि सम्पूर्ण वासनाएँ कुछ भी नहीं रहतीं— रहती भी हैं तो दाँत तोड़े हुए सर्पके समान व्यर्थ हो जाती हैं, वही विज्ञान पर माना गया है॥ ६२ ॥

इस विज्ञानका फल सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति और पूर्ण निर्भयताकी प्राप्ति है। यह मोक्ष ही उसका फल कहा जाता है॥ ६३ ॥

भय तो किसी दूसरेका संकल्प होनेपर होता है। और दृढ अद्वैतज्ञान होनेपर द्वैतका संकल्प हो कैसे सकता है? जैसे सूर्योदय होनेपर नहीं हो सकता॥ ६४ ॥

ऋषियो ! द्वैतका संकल्प छूट जानेपर फिर कहीं भय नहीं रहता। इसलिये जो फल आत्मस्वरूपसे भिन्न होगा वह तो सब प्रकार भय रूप ही होगा॥ ६५ ॥

अपनेसे भिन्न जो भी पदार्थ होगा वह नाशवान् ही होगा, क्योंकि

सान्ते भयं सर्वथैवाभयं तस्मात् कुतो भवेत् ॥ ६६ ॥
संयोगो विप्रयोगान्तः सर्वथैव विभावितः ।
फलयोगोऽपि तस्माद्धि विनश्येदिति निश्चयः ॥ ६७ ॥
यावदन्यत् फलं प्रोक्तं भयं तावत्प्रकीर्तितम् ।
तदेवाभयरूपन्तु फलं सर्वे प्रचक्षते ॥ ६८ ॥
यदात्मनोऽनन्यदेव फलं मोक्षः प्रकीर्त्तितः ।
ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयमपि फलं चैकं यदा भवेत् ॥ ६९ ॥
तदा हि परमो मोक्षः सर्वभीतिविवर्जितः ।
ज्ञानं विकल्पसङ्कल्पहानं मौढ्यविवर्जितम् ॥ ७० ॥
ज्ञातुः स्वच्छात्मरूपं तदादावनुपलक्षितम् ।
उपदेशक एवातो गुरुः शास्त्रं च नेतरत् ॥ ७१ ॥
एतदेव हि विज्ञेयस्वरूपमभिधीयते ।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयगतो यावद्भेदोऽवभासते ॥ ७२ ॥

लोकमें ऐसा अनेकों बार देखा गया है। नाशवान्‌में तो सब प्रकार भय रहता ही है, इसलिये उसे पाकर कोई निर्भय कैसे हो सकता है ?॥ ६६ ॥

संयोग तो सब प्रकार वियोगमें समाप्त होनेवाला ही देखा गया है। इसलिये यह निश्चय है कि किसी अन्य फलका संयोग भी अन्तमें नष्ट होगा ही ॥ ६७ ॥

अतः जबतक आत्मासे भिन्न कोई और फल रहता है तबतक तो भय कहा ही है। सभी ने अभयरूप फल तो वही बतलाया है जिसे आत्मासे अभिन्न मोक्षरूप फल कहते हैं; जब कि ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय और फल भी एकरूप हो जाते हैं ॥ ६८-६९ ॥

तभी सब प्रकारके भयसे शून्य परम मोक्ष प्राप्त होता है तथा सम्पूर्ण सङ्कल्प-विकल्पों की निवृत्तिपूर्वक अज्ञानशून्य ज्ञानका उदय भी ॥ ७० ॥

ज्ञाताको अपना यह शुद्ध स्वरूप पहले मालूम नहीं होता। अतः गुरु और शास्त्र ही उसका उपदेश करनेवाले हैं, कोई अन्य नहीं ॥ ७१ ॥

यही विज्ञेयका स्वरूप भी कहा जाता है। जबतक ज्ञाता, ज्ञान

तावज्ज्ञाता ज्ञानमपि ज्ञेयं वा न भवेत् क्वचित् ।
यदा भेदो विगलितो ज्ञात्रादीनां मिथः स्थितः ॥ ७३ ॥
तदा ज्ञात्रादिसम्पत्तिरेतदेव फलं स्मृतम् ।
ज्ञात्रादिफलपर्यन्तं न भेदो वस्तुतो भवेत् ॥ ७४ ॥
व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं भेदस्तत्र प्रकल्पितः ।
अतः पूर्वं लभ्यमत्र फलं नास्त्येव किञ्चन ॥ ७५ ॥
आत्मैव मायया ज्ञातृज्ञानज्ञेयफलात्मना ।
यावद्भाति भवेत्तावत् संसारो ह्यचलोपमः ॥ ७६ ॥
यथा कथञ्चिदेतत्तु भायाद्भेदविवर्जितम् ।
संसारो विलयं यायाच्छिन्नाभ्रमिव वायुना ॥ ७७ ॥
एवंविधमहामोक्षे तत्परत्वं हि साधनम् ।
तत्परत्वे तु संपूर्णे नान्यत् साधनमिष्यते ॥ ७८ ॥

और ज्ञेयका भेद भासता है तबतक तो वास्तवमें वे ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय हैं ही नहीं। जिस समय इन ज्ञाता आदिका पारस्परिक भेद गलित हो जाता है तभी वास्तवमें वे ज्ञाता आदि होते हैं। और यही इस ज्ञानका फल भी माना गया है ॥ ७२-७४ पू० ॥

वास्तवमें ज्ञातासे लेकर फलपर्यन्त[1] कोई भेद है ही नहीं, केवल व्यवहारकी सिद्धिके लिये ही इनमें भेद-कल्पना कर लिया गया है। अतः इस भेदकल्पनासे पूर्व यहाँ प्राप्त करने योग्य कोई फल भी नहीं है ॥ ७४ उ०-७५ ॥

जबतक मायासे यह आत्मा ही ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय और फल-रूपसे भास रहा है, तब तक तो यह संसार पर्वतके समान खड़ा हुआ है ॥ ७६ ॥

किन्तु किसी भी प्रकार यदि यह भेदहीन भासने लगे तो वायुसे छिन्न-भिन्न हुए बादलकी तरह सारा संसार लीन हो जाता है ॥ ७७ ॥

इस प्रकारका महामोक्ष प्राप्त करनेके लिये तत्परता ही मुख्य साधन है। यदि पूरी तत्परता हो तो फिर किसी अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं होती ॥ ७८ ॥

---

१. अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय और फलमें।

अपूर्णे तत्परत्वे तु किं सहस्रसुसाधनैः।
तस्मात्तात्पर्यमेव स्यान्मुख्यं मोक्षस्य साधनम्॥ ७९॥
तात्पर्यं सर्वथैतत्तु साधयामीति संस्थितिः।
यस्तात्पर्येण संयुक्तः सर्वथा मुक्त एव सः॥ ८०॥
दिनैर्मासैर्वत्सरैर्वा मुक्तः स्याद्वाऽन्यजन्मनि।
बुद्धिनैर्मल्यभेदेन चिरशीघ्रव्यवस्थितिः॥ ८१॥
बुद्धौ तु बहवो दोषाः सन्ति सर्वार्थनाशनाः।
यैर्जनाः सततन्त्वेवं पच्यन्ते घोरसंसृतौ॥ ८२॥
तत्राद्यः स्यादनाश्वासो द्वितीयः कामवासना।
तृतीयो जाड्यता प्रोक्ता त्रिधैवं दोषसंग्रहः॥ ८३॥
द्विविधः स्यादनाश्वासः संशयश्च विपर्ययः।
मोक्षोऽस्ति नास्ति वेत्याद्यः संशयः समुदाहृतः॥ ८४॥

यदि तत्परता पूरी न हो तो अन्य हजारों साधनोंसे भी क्या लाभ ? अतः तत्परता ही मोक्षका मुख्य साधन है॥ ७९॥

'जैसे भी होगा इस कार्यको अवश्य पूर्ण करूँगा' इस स्थितिका नाम ही तत्परता है। जो तत्परतासे युक्त है वह तो सब प्रकार मुक्त ही है॥ ८०॥

वह कुछ दिनोंमें, महीनोंमें, वर्षोंमें अथवा दूसरे जन्ममें मुक्त हो ही जायगा। बुद्धिकी निर्मलताके भेदसे ही उसके शीघ्र या देरीसे मुक्त होनेकी व्यवस्था समझनी चाहिये॥ ८१॥

बुद्धिमें तो सब प्रकारके पुरुषार्थको विफल कर देनेवाले अनेकों दोष होते हैं, जिनके कारण लोग निरन्तर इसी तरह जन्ममरण-रूप भयंकर संसाराग्निमें जलते रहते हैं॥ ८२॥

उनमें पहला दोष है अनाश्वास (अविश्वास), दूसरी है कामवासना और तीसरी है जडता। इस प्रकार संक्षेपसे तीन प्रकारके दोष हैं॥ ८३॥

अनाश्वास दो प्रकारका है—संशय और विपर्यय। मोक्ष है भी या नहीं—यह पहला संशय दोष कहा गया है॥ ८४॥

नास्त्येव मोक्ष इत्याद्यो भवेदत्र विपर्ययः ।
एतद् द्वयन्तु तात्पर्ये मुख्यं स्यात् प्रतिबन्धकम् ॥ ८५ ॥
विपरीतनिश्चयेन नश्येदेतद् द्वयं क्रमात् ।
अत्रोपायो मुख्यतमो मूलच्छेदो न चापरः ॥ ८६ ॥
अनाश्वासस्य मूलन्तु विरुद्धतर्कचिन्तनम् ।
तत्परित्यज्य सत्तर्कावर्त्तनस्य प्रसाधने ॥ ८७ ॥
विपरीतो निश्चयः स्यान्मूलच्छेदनपूर्वकः ।
ततः श्रद्धासमुदयादनाश्वासः प्रणश्यति ॥ ८८ ॥
कामादिवासना बुद्धेः श्रवणे प्रतिबन्धिका ।
कामादिवासनाविष्टा बुद्धिर्नैव प्रवर्त्तते ॥ ८९ ॥
लोकेऽपि कामी काम्यस्य सदा ध्यानैकतत्परः ।
पुरःस्थितं न पश्येच्च श्रोत्रोक्तं शृणुयान्न च ॥ ९० ॥

मोक्ष है ही नहीं—यह मुख्य विपर्यय दोष है। ये दोनों दोष तत्परताके प्रधान प्रतिबन्धक हैं ॥ ८५ ॥

इससे विपरीत निश्चय करनेसे क्रमशः ये दोनों दोष निवृत्त हो जाते हैं। किन्तु इनकी निवृत्तिका मुख्यतम उपाय तो इनके मूलका नाश कर देना ही है, कोई अन्य नहीं ॥ ८६ ॥

अनाश्वासका मूल है शास्त्रविरुद्ध तर्कोंका चिन्तन करना। उसे त्यागकर यदि शास्त्रानुसारी तर्कोंका आश्रय लिया जाय तो विपरीत निश्चय मूलोच्छेदनपूर्वक नष्ट हो जायगा। तब श्रद्धाका उदय होगा और अनाश्वास नष्ट हो जायगा ॥ ८७-८८ ॥

कामादि वासनाएँ बुद्धिके श्रवणमें प्रतिबन्ध डालने वाली हैं, क्योंकि जो बुद्धि कामादि वासनाओंसे भरी होती है वह तात्त्विक विषयको ग्रहण नहीं कर पाती ॥ ८९ ॥

लोकमें भी देखा जाता है कि कामनायुक्त पुरुष सर्वदा अपने काम्य विषयके चिन्तनमें ही लगा रहता है। वह सामने रखी वस्तु-को भी देख नहीं पाता और कानमें कही हुई बातको भी सुन नहीं पाता ॥ ९० ॥

कामादिवासितस्यैवं श्रुतं चाश्रुतसम्मितम् ।
कामादिवासनां तस्माज्जयेद्वैराग्यसम्पदा ॥ ९१ ॥
सन्ति कामक्रोधमुखा वासनास्तु सहस्रशः ।
तत्र कामो मूलभूतस्तन्नाशे न हि किञ्चन ॥ ९२ ॥
ततो वैराग्यसंयोगान्नाशयेत् कामवासनाम् ।
आशा हि कामः संप्रोक्त एतन्मे स्यादिति स्थिता ॥ ९३ ॥
शक्येषु स्थूलभूता सा सूक्ष्माऽशक्येषु संस्थिता ।
दृढवैराग्ययोगेन सर्वां तां प्रविनाशयेत् ॥ ९४ ॥
तत्र मूलं काम्यदोषपरामर्शः प्रतिक्षणम् ।
वैमुख्यं विषयेभ्यश्च वासना नाशयेदिति ॥ ९५ ॥
यस्तृतीयो बुद्धिदोषो जाड्यरूपो व्यवस्थितः ।
असाध्यः सोऽभ्यासमुखैः सर्वथा ऋषिसत्तमाः ॥ ९६ ॥
येन तात्पर्यतश्चापि श्रुतं बुद्धिमनारुहेत् ।

अतः जिसका चित्त कामादि वासनाओंसे भरा है उसका शास्त्र-श्रवण तो न सुननेके ही समान है। अतः वैराग्यरूप सम्पत्तिसे कामादि वासनाओंको वशमें करे ॥ ९१ ॥

काम-क्रोधादि वासनाएँ तो हजारों हैं। उनमें काम सबका मूल है। उसका नाश होनेपर कोई वासना नहीं रहती ॥ ९२ ॥

अतः वैराग्यकी सहायतासे कामवासनाको नष्ट करे। आशा ही काम कही जाती है, जो 'मुझे यह मिल जाय' इस रूपमें रहती है ॥ ९३ ॥

जो पदार्थ प्राप्त हो सकते हैं उनमें वह स्थूल रूपमें रहती है और जिनकी प्राप्ति नहीं हो सकती उनमें सूक्ष्म रूपसे। उस सभी प्रकारकी आशाको दृढ वैराग्यके द्वारा नष्ट कर देना चाहिये ॥ ९४ ॥

उसका मूल साधन है प्रतिक्षण काम्य वस्तुओंका दोषचिन्तन। विषयोंसे विमुखता रहेगी तो वह उनकी वासनाओंको नष्ट कर देगी ॥ ९५ ॥

बुद्धिका जडतारूप जो तीसरा दोष है, मुनिवरो! उसे अभ्यासादिके द्वारा निवृत्त करना तो सर्वथा असम्भव है ॥ ९६ ॥

जिसके कारण तत्परतापूर्वक सुनीहुई बात भी बुद्धिमें नहीं

तज्जाड्यं हि महान् दोषः पुरुषार्थविनाशनः ॥ ९७ ॥
तत्रात्मदेवतासेवामृते नान्यद्धि कारणम् ।
सेवायास्तारतम्येन जाड्यं तस्य हराम्यहम् ॥ ९८ ॥
जाड्याल्पानल्पभावेन सद्यो वा परजन्मनि ।
भवेत्तस्य फलप्राप्तिर्जाड्यसंयुक्तचेतसः ॥ ९९ ॥
सर्वसाधनसम्पत्तिर्ममैव प्रणिधानतः ।
उपयाति च यो भक्त्या सर्वदा मामकैतवात् ॥ १०० ॥
स साधनप्रत्यनीकं विधूयाशु कृती भवेत् ।
यस्तु मामीश्वरीं सर्वबुद्धिप्रसरकारिणीम् ॥ १०१ ॥
अनादृत्य साधनैकपरः स्यान्मूढभावतः ।
पदे पदे विहन्येत फलं प्राप्येत वा न वा ॥ १०२ ॥
तस्मात्तु ऋषयो मुख्यं तात्पर्यं साधनं भवेत् ।
एवं तात्पर्यवानेव साधकः परमः स्मृतः ॥ १०३ ॥

बैठती वह जडतारूप महान् दोष सभी पुरुषार्थोंको व्यर्थ कर देनेवाला है ॥ ९७ ॥

उसकी निवृत्तिका उपाय तो परमात्मदेवकी उपासनाके सिवा और कोई नहीं है। साधककी उपासनाकी न्यूनाधिकताके अनुसार मैं उसकी जडता दूर कर देती हूँ ॥ ९८ ॥

उस जडचित्तवाले साधकको उसकी जडताकी न्यूनता या अधिकताके अनुसार उसी अथवा अगले जन्ममें फलकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ९९ ॥

सब प्रकारके साधनोंकी पूर्णता मेरी उपासनासे ही होती है। जो सर्वदा निश्छल भावसे भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करता है वह साधनके सभी विघ्नोंको पार करके कृतकृत्य हो जाता है ॥१००–१०१ पू०॥

जो सभीकी बुद्धियोंको प्रवृत्त करनेवाली मुझ भगवतीका अनादर करके मूढ चित्तसे केवल साधनमें लगा रहता है वह पद-पदमें ठोकर खाता है और उसे फल की प्राप्ति हो भी सकती है और नहीं भी ॥ १०१ उ०–१०२ ॥

इसलिये ऋषियो ! मुख्य साधन तो तत्परता ही है। इस प्रकार जो तत्परता-सम्पन्न है वही श्रेष्ठ साधक माना जाता है। उनमें भी

तत्र मद्भक्तियुक्तस्तु साधकः सर्वपूजितः।
सिद्धिरात्मव्यवसितिर्देहानात्मत्वभावना ॥ १०४ ॥
आत्मत्वभावनं नूनं शरीरादिषु संस्थितम्।
तदभावनमात्रन्तु सिद्धिर्मौढ्यविवर्जितम् ॥ १०५ ॥
आत्मा व्यवसितः सर्वैरपि नो केवलात्मना।
अतएव तु सम्प्राप्ता महानर्थपरम्परा ॥ १०६ ॥
तस्मात् केवलचिन्मात्रं यद्देहाद्यवभासकम्।
तन्मात्रात्मव्यवसितिः सर्वसंशयनाशिनी ॥ १०७ ॥
सिद्धिरित्युच्यते प्राज्ञैर्नातः सिद्धिरनन्तरा।
सिद्धयः खेचरत्वाद्या अणिमाद्यास्तथैव च ॥ १०८ ॥
आत्मविज्ञानसिद्धेस्तु कलां नार्हन्ति षोडशीम्।
ताः सर्वास्तु परिच्छिन्नाः सिद्धयो देशकालतः ॥ १०९ ॥
इयं स्यादपरिच्छिन्ना स्वात्मविद्या शिवात्मिका।

जो साधक मेरी भक्तिसे युक्त होता है वह तो सभी का आदरणीय होता है ॥ १०३–१०४ पू० ॥

देहमें अनात्मत्वकी भावना और आत्मामें स्थिति—इसका नाम ही सिद्धि है। शरीरादिमें जो आत्मत्व-भावना हो रही है उसका अभाव हो जाना ही अज्ञानसे रहित सिद्धि है ॥ १०४ उ०–१०५ ॥

सभी लोगोंसे आत्माका शुद्धरूपसे निश्चय किया हुआ नहीं है। इसीसे यह जन्म-मरणरूप महान् अनर्थ-परम्परा प्राप्त हुई है ॥ १०६ ॥

अतः जो शुद्ध चिन्मात्र देहादि दृश्यवर्गको प्रकाशित करनेवाला है केवल तद्रूपसे ही स्थित रहना—इस सम्पूर्ण संशयोंको नष्ट कर देनेवाली स्थितिको ही विज्ञजनोंने सिद्धि कहा है। इससे भिन्न आकाशगमनादि और अणिमादि सिद्धियाँ वास्तविक सिद्धि नहीं हैं ॥ १०७–१०८ ॥

वे सब सिद्धियाँ तो देश और कालसे परिच्छिन्न हैं। अतः वे आत्मज्ञानरूपा सिद्धिके तो सोलहवें अंशके बराबर भी नहीं हैं ॥ १०९ ॥

यह शिवस्वरूपा आत्मविद्या तो अपरिच्छिन्न है। वे सब तो

स्वात्मविद्यासाधनेषु ताः सर्वाः सुप्रतिष्ठिताः ॥ ११० ॥
आत्मविद्याविधावेतास्त्वन्तरायप्रयोजकाः ।
किं ताभिरिन्द्रजालात्मसिद्धितुल्याभिरीहितम् ॥ १११ ॥
यस्य साक्षाद् ब्रह्मपदमपि स्यात्तृणसम्मितम् ।
कियन्त्येताः सिद्धयो वै कालक्षपणहेतवः ॥ ११२ ॥
तस्मात् सिद्धिर्नेतरा स्यादात्मविज्ञानसिद्धितः ।
ययाऽत्यन्तशोकनाशो भवेदानन्दसान्द्रता ॥ ११३ ॥
सैव सिद्धिर्नेतरा तु मृत्युग्रासविमोचिनी ।
इयमात्मज्ञानसिद्धिर्विविधाभ्यासभेदतः ॥ ११४ ॥
बुद्धिनैर्मल्यभेदाच्च परिपाकविभेदतः ।
संक्षेपतस्तु त्रिविधा चोत्तमा मध्यमाऽधमा ॥ ११५ ॥
लोके द्विजानामृषयः पठिता श्रुतिसम्मिता ।
मेधया च महाभ्यासाद्व्यापारशतसङ्कुला ॥ ११६ ॥

आत्मज्ञानके साधनोंमें ही प्रतिष्ठित हैं। [अर्थात् साधन करते-करते वे स्वयं ही आ जाती हैं] ॥ ११० ॥

किन्तु वे आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें तो विघ्न करनेवाली हैं, भला जिज्ञासुको इन्द्रजालिकके चमत्कारों-जैसी उन सिद्धियोंसे क्या लेना है ॥ १११ ॥

जिसकी दृष्टिमें साक्षात् ब्रह्माका पद भी तृणके समान है उसके लिये केवल समय काटनेमें उपयोगी इन सिद्धियोंका क्या मूल्य है ? ॥ ११२ ॥

अतः आत्मविज्ञानरूपा सिद्धिसे बढ़कर और कोई सिद्धि नहीं है, जिससे कि शोकका सर्वथा नाश और आनन्दघनताकी प्राप्ति हो जाती है ॥ ११३ ॥

कालके गालसे बचानेवाली भी केवल वही सिद्धि है, कोई अन्य नहीं। अभ्यास, बुद्धिकी शुद्धि और ज्ञानकी पुष्टिके तारतम्यसे यह आत्म-ज्ञानरूपा सिद्धि अनेक प्रकारकी है। किन्तु ऋषियो ! लोकमें ब्राह्मण द्वारा पढ़ी हुई श्रुतिके समान यह तीन प्रकार की है—उत्तम, मध्यम और अधम ॥ ११४–११६ पू० ॥

बुद्धिकी प्रखरता और अत्यन्त अभ्यासके कारण जिस श्रुतिके

अप्यस्खलितवर्णा या पठिता श्रुतिरुत्तमा।
समाहितस्य व्यापारेऽसमाहितस्य चान्यदा॥ ११७॥

पूर्ववद्याऽप्यस्खलिता पठिता मध्यमा श्रुतिः।
या सदा ह्यनुसन्धानयोगादेव भवेत्तथा॥ ११८॥

पठिता श्रुतिरत्यन्तास्खलिता मध्यमा हि सा।
एवमेवात्मविज्ञानसिद्धिरुक्ता त्रिधर्षयः॥ ११९॥

या महाव्यवहारेषु प्रतिसन्धानवर्जने।
अन्यदा तद्वर्जने वा सर्वदा प्रतिसन्धितः॥ १२०॥

अन्यूनाधिकभावा स्यात् सोत्तमा मध्यमाऽधमा।
अत्रोत्तमैव संसिद्धेः पराकाष्ठा निरूपिता॥ १२१॥

स्वप्नादिष्वप्यवस्थासु यदा स्यात् परमा स्थितिः।
विचारक्षणतुल्येव सिद्धिः सा परमोत्तमा॥ १२२॥

पाठमें सैकड़ों व्यापारोंके रहते हुए भी वर्ण या स्वरमें अन्तर नहीं आता वह उत्तम श्रुति है॥ ११६ उ०–११७ पू०॥

व्यापारके समय समाहित (सावधान) रहनेपर और अन्य समय (व्यापारका झंझट न होनेपर) समाहित न रहनेपर भी जो पहले ही की तरह अस्खलितरूपसे पढ़ी जा सकती है वह मध्यम श्रुति है॥ ११७ उ०–११८ पू०॥

जो सर्वदा अनुसन्धानपूर्वक ही पढ़ी जाती है और जिसमें बहुत-सी भूलें भी रहती हैं वह अधमा श्रुति है॥ ११८ उ०–११९ पू०॥

ऋषियो! उसी प्रकार आत्मविज्ञानकी सिद्धि भी तीन प्रकारकी कही गयी है। जो बहुत अधिक व्यवहार होनेपर अथवा अनुसन्धान न करनेपर भी रहती है वह उत्तम, जो व्यापार न रहनेपर ही स्वभावसिद्ध है वह मध्यम और जो सर्वदा आत्मानुसन्धान करते रहनेपर ही न्यूनाधिक भावसे रहित रहती है वह अधम सिद्धि है। इनमें उत्तम ही सिद्धिकी पराकाष्ठा कही गयी है॥ ११९ उ०–१२१॥

जिस समय स्वप्नादि अवस्थाओंमें भी विचारकालकी तरह ही उत्तम स्थिति रहे वह सिद्धि परम उत्तम मानी गयी है॥ १२२॥

सर्वत्र व्यवहारेषु यत्नात् संस्कारबोधतः ।
यदा प्रवृत्तिसिद्धेः सा पराकाष्ठा समीरिता ॥ १२३ ॥
अयत्नेनैव परमे स्थितिः संवेदनात्मनि ।
अव्याहता यदा सिद्धिस्तदा काष्ठां समागता ॥ १२४ ॥
व्यवहारपरो भावान् पश्यन्नपि न पश्यति ।
द्वैतं तदा हि सा सिद्धिः पूर्णतामभिसङ्गता ॥ १२५ ॥
जागरादौ व्यवहरन्नपि निद्रितवद्यदा ।
स्थितिस्तदा हि सा सिद्धिः पूर्णतामभिसङ्गता ॥ १२६ ॥
एवं सिद्धिमनुप्राप्तः सिद्धेषूत्तम उच्यते ।
व्यवहारपरो नित्यं न समाधिं विमुञ्चति ॥ १२७ ॥
कदाचिदपि मेधावी स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
ज्ञानिनां विविधानां च स्थितिं जानाति सर्वदा ॥ १२८ ॥
स्वानुभूत्या स्वान्तरेव स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
संशयो वापि कामो वा यस्य नास्त्येव लेशतः ॥ १२९ ॥

जिस समय पूर्व-संस्कार उदित होनेपर सब व्यवहारोंमें प्रयत्न करनेपर प्रवृत्ति हो उसे सिद्धिकी पराकाष्ठा कहा है ॥ १२३ ॥

तथा बिना प्रयत्न ही ज्ञानस्वरूप परमतत्त्वमें निरन्तर स्थिति रहे तब सिद्धिकी पराकाष्ठा हो जाती है ॥ १२४ ॥

जिस समय व्यवहारमें लगे रहनेपर भी विभिन्न वस्तुओंको और द्वैतको देखते हुए भी नहीं देखता तो उस समय वह उत्तमा सिद्धि पूर्णताको प्राप्त हो जाती है। जब जाग्रत आदि अवस्थाओंमें व्यवहार करते हुए भी सोये हुएके समान रहे तब ही वह सिद्धि पूर्णताको प्राप्त होती है। इस प्रकारकी सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष सिद्धोंमें श्रेष्ठ कहा जाता है ॥ १२५–१२७ पू० ॥

जो निरन्तर व्यवहारमें लगा रहनेपर भी कभी समाधिको नहीं छोड़ता वह सिद्धोंमें श्रेष्ठ माना गया है ॥ १२७ उ०–१२८ पू० ॥

जो अपने अनुभवके द्वारा अपनी ही तरह अन्य ज्ञानियोंकी विभिन्न स्थितियोंको भी सर्वदा जान लेता है वह सिद्धोंमें श्रेष्ठ माना गया है ॥ १२८ उ०–१२९ पू० ॥

जिसे लेशमात्र भी संशय या कामना नहीं है तथा व्यव-

निर्भयो व्यवहारेषु स सिद्धेषूत्तमो मतः।
सर्वं सुखञ्च दुःखञ्च व्यवहारञ्च जागतम् ॥ १३० ॥
स्वात्मन्येवाभिजानाति स सिद्धेषूत्तमो मतः।
अत्यन्तं बद्धमात्मानं मुक्तञ्चापि प्रपश्यति ॥ १३१ ॥
यः स्वात्मनि तु सर्वात्मा स सिद्धेषूत्तमो मतः।
यः पश्यन् बन्धजालानि सर्वदा स्वात्मनि स्फुटम् ॥ १३२ ॥
मोक्षं नापेक्षते क्वापि स सिद्धेषूत्तमो मतः।
सिद्धोत्तमोऽहमेवेह न भेदस्त्वावयोः क्वचित् ॥ १३३ ॥
एतद्वो ऋषयः प्रोक्तं सुस्पष्टमनुयुक्तया।
एतन्मयोक्तं विज्ञाय न क्वचित् परिमुह्यते ॥ १३४ ॥
इत्युक्त्वा सा परा विद्या विरराम भृगूद्वह।
श्रुत्वैतदृषयः सर्वे सन्देहमपहाय च ॥ १३५ ॥

हारमें किसी प्रकारका भय नहीं है वह सिद्धोंमें श्रेष्ठ माना गया है ॥ १२९ उ०--१३० पू० ॥

जो सम्पूर्ण सुख, दुःख और संसारके व्यवहारको अपने आत्मामें ही भासमान समझता है वह सिद्धोंमें श्रेष्ठ माना गया है ॥ १३० उ०--१३१ पू० ॥

जो अत्यन्त बद्ध और मुक्त पुरुषको भी अपने स्वरूपमें ही देखता है वह सर्वात्मा सिद्धोंमें श्रेष्ठ माना गया है ॥ १३१ उ०--१३२ पू० ॥

जो सम्पूर्ण बन्धनोंको भी सर्वदा स्पष्टतया अपने आत्मस्वरूपमें ही भासमान देखनेके कारण कभी मोक्षकी भी इच्छा नहीं करता वह सिद्धोंमें श्रेष्ठ माना गया है ॥ १३२ उ०--१३३ पू० ॥

अधिक क्या वह श्रेष्ठ सिद्ध मैं ही हूँ। मेरा और उसका कभी कोई अन्तर नहीं है। ऋषियो! यह मैंने तुम्हारे प्रश्नोंका स्पष्ट उत्तर दे दिया। मेरे इस कथन को ठीक-ठीक समझ लेनेपर फिर मोह नहीं होता ॥ १३३ उ०--१३४ ॥

भृगुनन्दन! ऐसा कहकर वह परा विद्या मौन हो गयी। उसका उपदेश सुनकर सभी ऋषियोंका सन्देह दूर हो गया तथा वे

नत्वा शिवादीन् लोकेशान् जग्मुः स्वं स्वं निवेशनम् ।
विद्यागीता मयैषा ते प्रोक्ता पापौघनाशिनी ॥ १३६ ॥
श्रुता विचारिता सम्यक् स्वात्मसाम्राज्यदायिनी ।
विद्यागीताऽत्युत्तमेयं साक्षाद्विद्या निरूपिता ॥ १३७ ॥
पठतां प्रत्यहं प्रीता ज्ञानं दिशति सा स्वयम् ।
संसारतिमिराम्भोधौ मज्जतां तरणिर्भवेत् ॥ १३८ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे विद्यागीतानाम
विंशतितमोऽध्यायः ।

शिव आदि देवगणोंको नमस्कार कर अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ १३५–१३६ पू० ॥

यह मैंने तुम्हें सम्पूर्ण पापसमूहका नाश करनेवाली विद्यागीता सुनायी। इसका यदि अच्छी तरह श्रवण और विचार किया जाय तो वह स्वात्मानन्दरूप साम्राज्य प्रदान करनेवाली है ॥ १३६ उ०–१३७ पू० ॥

यह अति उत्तम विद्यागीता साक्षात् विद्यादेवीकी ही कही हुई है। जो लोग इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं उन्हें प्रसन्न होकर वह स्वयं ज्ञान प्रदान कर देती हैं। इस संसाररूप अन्धकारके समुद्रमें डूबनेवालोंके लिये यह सूर्य या नौका[1]के समान है ॥ १३७ उ०–१३८ ॥

विंश अध्याय समाप्त ।

---

१. यहाँ मूलमें 'तरणि' शब्द है। इसका अर्थ 'सूर्य' भी है और 'नौका' भी। अन्धकारसे पार होनेसे सूर्य और समुद्रसे पार होनेमें नौका उपयोगी है। अतः इसके दोनों ही अर्थ सार्थक हैं। शब्दश्लेषका यह सुन्दर उदाहरण है।

एकविंशतितमोऽध्यायः

श्रुत्वेत्थं भार्गवो रामो दत्तात्रेयमुनीरितम् ।
अविद्याजालविभ्रान्तेर्मुक्तप्रायो बभूव ह ॥ १ ॥
पुनः पप्रच्छाऽत्रिसुतं किञ्चिन्नत्वा सुभक्तितः ।
भगवन् ब्रूहि विज्ञानसाधनं सुविनिश्चितम् ॥ २ ॥
सारभूतञ्च सुलभं यत् साक्षात् फलदायकम् ।
ज्ञानिनां लक्षणञ्चापि येन ज्ञास्यामि तान् द्रुतम् ॥ ३ ॥
ज्ञानिनां देहसंयोगे वियोगे च स्थितिं यथा ।
व्यवहारं कुर्वतां चाप्यनासक्तं मनः कथम् ॥ ४ ॥
एतत् सर्वं सुकृपया स्पष्टं मे वक्तुमर्हसि ।
एवमत्रिसुतः पृष्टो जमदग्निसुतेन वै ॥ ५ ॥
सन्तुष्टः प्राह करुणासिन्धुः सम्बोध्य भार्गवम् ।
शृणु राम प्रवक्ष्यामि रहस्यं ज्ञानसाधनम् ॥ ६ ॥

एकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥

ज्ञानके मुख्य साधन, ज्ञानियोंके लक्षण तथा हेमाङ्गद और ब्रह्मराक्षसका संवाद

इस प्रकार भृगुनन्दन परशुराम दत्तात्रेयजीका उपदेश सुनकर अविद्याजालरूप भ्रमसे प्रायः मुक्त हो गये ॥ १ ॥

फिर अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कार कर उन्होंने अत्रिनन्दन दत्तात्रेयजीसे इस प्रकार कुछ प्रश्न किया, "भगवन् ! ज्ञानप्राप्तिके अत्यन्त निश्चित और सारभूत साधन बताइये, जो सुलभ भी हों और साक्षात् मोक्षरूप फल प्रदान करनेवाले हों। साथ ही ज्ञानियों के लक्षण भी बतलाइये, जिनसे मैं उन्हें तत्काल पहचान सकूँ ॥ २-३ ॥

देहका अनुसन्धान रहने और न रहनेके समय उनकी जैसी स्थिति रहती है तथा व्यवहार करते समय भी किस प्रकार उनका मन उसमें आसक्त नहीं होता—कृपया ये सभी बातें मुझे स्पष्टतया बतलाइये" ॥ ४-५ पू० ॥

परशुरामके इस प्रकार प्रश्न करनेपर करुणासागर दत्तात्रेयजी बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें सम्बोधन करके कहने लगे—"परशुराम ! सुनो, मैं तुम्हें ज्ञानके गुप्त साधन बतलाता हूँ ॥ ५ उ०-६ ॥

ज्ञानस्य साधनं मुख्यं देवतानुग्रहः परः ।
यः सर्वभावतः स्वात्मदेवतामुपसङ्गतः ॥ ७ ॥
तस्य ज्ञानं सुसुलभं भवतीति विनिश्चयः ।
एतत् सर्वोत्तमं राम प्रोक्तं ज्ञानस्य साधनम् ॥ ८ ॥
अन्यानपेक्षमेतत्तु फलसंसाधने क्षमम् ।
एतद्विहायान्यदत्र न सम्यक् फलदं भवेत् ॥ ९ ॥
शृण्वत्र कारणं राम सकारणमिदं भवेत् ।
विज्ञानं केवलचितिर्या सर्वस्यावभासिका ॥ १० ॥
तस्यावभासरूपायाः कल्पितावरणन्तु यत् ।
विचारात्तदपोहेन तत् स्वरूपोपलक्षणम् ॥ ११ ॥
तच्चान्येषां बहिर्भावतत्पराणां सुदुर्लभम् ।
भक्तानामन्यपरताहानेन तत्परत्वतः ॥ १२ ॥
सुलभं शीघ्रसम्प्राप्यं भवत्येव सुनिश्चितम् ।

परमात्मदेवका परम अनुग्रह ज्ञानका मुख्य साधन है। जो पुरुष सम्पूर्ण भावसे परमात्मदेवकी शरण ग्रहण करता है उसे ज्ञान सुलभ हो जाता है—यह बात निश्चित है। अतः परशुराम! यही ज्ञानका सर्वोत्तम साधन कहा है ॥ ७-८ ॥

यह साधन किसी अन्य साधनकी सहायताके बिना ही ज्ञानका फल प्राप्त करानेमें समर्थ है। और यदि यह न हो तो अन्य कोई साधन ठीक-ठीक फल प्रदान नहीं कर सकता ॥ ६ ॥

इसका जो कारण है वह सुनो, क्योंकि यह बात सकारण है। वास्तवमें ज्ञान शुद्ध चेतन ही है, जो सभीका प्रकाशक है ॥ १० ॥

उस प्रकाशरूप चेतनका जो कल्पित आवरण है, विचार द्वारा उसकी निवृत्ति हो जानेपर उसका स्वरूप लक्षित हो जाता है ॥ ११ ॥

किन्तु अन्य साधकोंको, जो कि बाह्य व्यापारोंमें लगे रहते हैं, ऐसा होना बहुत कठिन है। भक्तोंमें तो अन्यपरायणता होती नहीं और वे भगवत्परायण भी होते ही हैं, इसलिये उनको वह शीघ्र और सुगमतासे प्राप्त हो सकता है—यह बात सर्वथा निश्चित है ॥ १२--१३ पू० ॥

देवतातत्परस्त्वेव भूत्वा स्वल्पान्यसाधनः ॥ १३ ॥
ज्ञात्वा कथञ्चिदात्मानमन्यान् प्रति निरूपयेत्।
निरूपयन् सदा राम समावेशं समाप्नुयात् ॥ १४ ॥
एवं निरूपणाद्यैस्तु समावेशे दृढे सति।
शिवतामाप्य तच्चित्तं हर्षोद्वेगविवर्जितम् ॥ १५ ॥
यत्र यत्र व्रजति तत् सर्वं तच्छिवसात्कृतम्।
करोत्युत्तमविज्ञानी जीवन्मुक्तपदस्थितः ॥ १६ ॥
तस्मात् सुभक्तियोगेनान्येभ्यो भूयो निरूपणम्।
श्रेष्ठं साधनमेतत्तु नान्यदेतत्समं भवेत् ॥ १७ ॥
भक्त्या निरूपणसमं न भवेदन्यसाधनम्।
ज्ञानिनां लक्षणं राम दुर्विज्ञेयं भवेत् खलु ॥ १८ ॥
यतः सर्वान्तरं तत्तु नेत्रवागाद्यगोचरम्।
न निरूपयितुं शक्यं लक्षितुं वा परैः क्वचित् ॥ १९ ॥

पर जो ईश्वरपरायण है वह यदि वैराग्यादि अन्य साधनोंका भी थोड़ा आश्रय ले और किसी प्रकार उस तत्त्वको जानकर फिर अन्य साधकोंके प्रति सर्वदा उसका निरूपण करता रहे तो उसके साथ तदाकारता प्राप्त कर लेता है ॥ १३ उ०–१४ ॥

इस प्रकारके निरूपण आदिसे जब उसकी तद्रूपता सुदृढ हो जाय तो वह शिवत्व प्राप्त करके हर्ष-शोकादिसे रहित हो उसीमें चित्त रखकर जहाँ-जहाँ भी जाता है उस सबको वह शिवसे अभिन्न ही कर लेता है। इस प्रकार उत्तम ज्ञानी हो वह जीवन्मुक्त पदपर स्थित हो जाता है ॥ १५–१६ ॥

अतः अत्यन्त भक्तिपूर्वक अन्य जिज्ञासुओंके प्रति बार-बार आत्म-तत्त्वका निरूपण करना—यही श्रेष्ठ साधन है, इसके समान और कोई साधन नहीं है। सचमुच भक्तिपूर्वक निरूपण करनेसे बढ़कर और कोई साधन नहीं है ॥ १७–१८ पू० ॥

परशुराम! ज्ञानियोंके लक्षणों को जानना तो निश्चय ही अत्यन्त कठिन है, क्योंकि उनका वास्तविक स्वरूप तो सभीसे आन्तर तथा नेत्र और वाणी आदि इन्द्रियोंका अविषय होता है। दूसरोंके द्वारा उसका निरूपण एवं दर्शन होना कभी सम्भव नहीं है ॥ १८ उ०–१९ ॥

यथा शास्त्रज्ञता लोके त्वन्यैर्न ज्ञायते क्वचित् ।
देहवस्त्रभूषणाद्यैरेवमन्यैर्न वेद्यते ॥ २० ॥
विद्वत्ता हि स्वसंवित्तिमात्रवेद्या न चान्यथा ।
यथा संस्वादितरसरसज्ञत्वं हि भार्गव ॥ २१ ॥
तथापि चतुरैर्विद्यावद्भिस्तद्भाषणादिभिः ।
वेद्यते हि यथा स्वस्य मार्गः सूक्ष्मपिपीलकैः ॥ २२ ॥
सन्ति स्थूललक्षणानि त्वनेकान्तानि तानि तु ।
सूक्ष्मलक्ष्माणि चान्यानि दुर्विज्ञेयानि वै परैः ॥ २३ ॥
निरूपणं भाषणञ्च साधनाभिनयस्तथा ।
ज्ञानिनामिव चान्यैस्तु कर्त्तुं शक्यो हि लक्ष्यते ॥ २४ ॥
अनिर्मलान्तःकरणैरभ्यस्तं ज्ञानसाधनम् ।
स्थिरीभवति यत्तेषां लक्षणं तत् प्रकीर्त्तितम् ॥ २५ ॥

जिस प्रकार लोकमें किसीका शास्त्र-ज्ञान भी देह, वस्त्र या आभूषणादिके द्वारा दूसरोंको कभी मालूम नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानका भी दूसरोंको पता नहीं लगता ॥ २० ॥

परशुराम ! जिसने मधुरादि रसका आस्वादन किया है उसका रसका ज्ञान जैसे उसे ही होता है, वैसे ही तत्त्वज्ञता भी केवल आत्मानुभवसे ही जानी जा सकती है, और किसी प्रकार नहीं ॥ २१ ॥

तो भी जिस प्रकार नन्हीं-नन्हीं चीटियाँ अपने रास्तेका पता लगा लेती हैं उसी प्रकार चतुर और विद्वान् पुरुष ज्ञानियोंके भाषण आदिसे उनको पहचान लेते हैं ॥ २२ ॥

यों तो शास्त्रोंमें उनके शान्ति आदि अनेकों स्थूल लक्षण बतलाये गये हैं, परन्तु वे केवल उन्हीं में पाये जायँ—ऐसी बात नहीं है। इसी प्रकार अनेकों सूक्ष्म लक्षण भी हैं, किन्तु उन्हें दूसरे लोग जान नहीं सकते ॥ २३ ॥

यह देखा जाता है कि ज्ञानियोंका-सा निरूपण, भाषण और साधनोंका-सा अभिनय दूसरे लोग भी कर सकते हैं ॥ २४ ॥

जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है वे भी यदि ज्ञानके किसी साधनका अभ्यास करते हैं तो वह उनमें स्थिर हो जाता है और वही उनका लक्षण कहा जाता है ॥ २५ ॥

यस्य मानावमानौ च लाभालाभौ जयाजयौ।
नैषद्विशेषितुं शक्तौ विद्यात्तं ज्ञानिषूत्तमम् ॥ २६ ॥
स्वात्मानुभववार्त्तासु पृष्टो गूढार्थमप्युत।
असन्दिग्धः प्रतिवदेज्झटिति ज्ञानिषूत्तमः ॥ २७ ॥
यस्योत्साहो भवेज्ज्ञानं वार्तास्वतितरां किल।
निरूपणे ह्यवैमुख्यं ज्ञानिनो लक्षणं हि तत् ॥ २८ ॥
अनारम्भः स्वभावेन सन्तोषः शुचिचित्तता।
महापत्स्वपि शान्तात्मा स भवेज्ज्ञानिषूत्तमः ॥ २९ ॥
एतदादीनि लक्ष्माणि भार्गवोत्तमज्ञानिनाम्।
स्वात्मनस्तु परीक्षायां सुस्थिराणि न संशयः ॥ ३० ॥
साधकस्तु सदा स्वात्मपरीक्षातत्परो भवेत्।
यथा परीक्षणेऽन्यस्य निपुणः संप्रवर्त्तते ॥ ३१ ॥
तथा परीक्षन् स्वात्मानं सिद्धिं न कथमाप्नुयात्।

मान, अपमान, लाभ-हानि और जय-पराजय जिसके चित्तमें कोई अन्तर नहीं डाल पाते उसे ज्ञानियोंमें उत्तम समझना चाहिये ॥ २६ ॥

यदि आत्मानुभवके विषयमें कोई गूढ प्रश्न किया जाय और वह निःसन्देह होकर तत्काल उसका उत्तर दे दे तो वह ज्ञानियोंमें उत्तम है ॥ २७ ॥

ज्ञानचर्चामें जिसे अत्यन्त उत्साह हो और उसका निरूपण करनेसे जो पीछे न हटे—यह भी उसके ज्ञानी होनेका ही लक्षण है ॥ २८ ॥

जिसमें स्वभावसे ही कोई प्रवृत्ति आरम्भ करनेकी रुचि न हो, सन्तोष और पवित्र-चित्तता हो तथा अत्यन्त आपत्तिके समय भी जो शान्तचित्त रहे, वह ज्ञानियोंमें उत्तम है ॥ २९ ॥

भृगुश्रेष्ठ ! इसी प्रकार ज्ञानियोंके और भी कुछ लक्षण हैं। किन्तु यह निश्चय है कि वे अपनी परीक्षामें ही सुस्थिर (अव्यभिचारी) हैं ॥ ३० ॥

साधकको तो सर्वदा अपने चित्तकी परीक्षामें ही तत्पर रहना चाहिये। वह जिस प्रकार दूसरों की परीक्षामें बड़ा निपुण होकर लगा रहता है उसी प्रकार यदि अपनी परीक्षा करता रहे तो कैसे सिद्धि प्राप्त न करेगा ॥ ३१-३२ पू० ॥

यदान्यगुणदोषाणामविचारणतत्परः ॥ ३२ ॥
स्वीयानां गुणदोषाणां विचारपरमो भवेत् ।
तदा सर्वसाधनानां प्राप्त्या सिद्धिमुपेष्यति ॥ ३३ ॥
एवं प्रोक्तानि लक्ष्माणि ज्ञानिनां भृगुनन्दन ।
स्वात्मनस्तु परीक्षायामुपयुक्तानि सर्वथा ॥ ३४ ॥
अन्येषान्तु परीक्षायामनेकान्तान्यमूनि तु ।
यतो ये ज्ञानिनोऽत्यन्तशुद्धस्वान्ता भृगूद्वह ॥ ३५ ॥
तेषामापातसंसिद्धसाधनैः सिद्धिरास्थिता ।
अतः पूर्ववासनानुरोधव्यापारतत्पराः ॥ ३६ ॥
कथं परीक्षणीयास्ते सामान्यव्यवहारिणः ।
ज्ञानिनस्तु तत्परीक्षां कुर्युरभ्यासवैभवात् ॥ ३७ ॥
आपातदर्शनादेव यथा रत्नपरीक्षकाः ।
मन्दज्ञानवतां देहसंस्था मूढसमैव हि ॥ ३८ ॥

जिस समय वह दूसरोंके गुण-दोषोंके विचारमें न लगकर अपने ही गुणदोषोंकी छान-बानमें लग जायगा, उस समय वह सभी साधनोंको प्राप्त करके सिद्धि प्राप्त कर लेगा ॥ ३२ उ०-३३ ॥

भृगुनन्दन! इस प्रकार यहाँ जो ज्ञानियोंके लक्षण कहे हैं वे सर्वथा अपने चित्तकी परीक्षामें ही उपयोगी हैं ॥ ३४ ॥

किन्तु दूसरोंकी परीक्षामें तो वे व्यभिचारी (सर्वदा उपयोगी न होनेवाले) ही हैं, क्योंकि भृगुनन्दन! जो ज्ञानी अत्यन्त शुद्ध चित्तवाले होते हैं उन्हें आरम्भिक अवस्थावाले साधनोंसे ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ ३५–३६ पू० ॥

अतः वे अपनी पूर्व-वासनाओंके अनुसार व्यापारमें लगे रहते हैं। उन सामान्य व्यवहारियोंकी परीक्षा तुम कैसे कर सकोगे? उनकी परीक्षा तो अपने अभ्यासके सामर्थ्यसे ज्ञानी लोग ही करेंगे, जिस प्रकारकी रत्नोंकी परीक्षा करनेवाले उसे देखते ही पहचान लेते हैं ॥ ३६ उ०–३८ पू० ॥

मन्द ज्ञानियोंके देहकी स्थिति तो अज्ञानियोंके समान ही होती

यतो न तेषां सहजसमाधिप्राप्तिरस्ति हि।
यावद्विमर्शनपरास्तावत्ते पूर्णरूपिणः ॥ ३९ ॥
यदा विचारविमुखास्तदा देहमयत्वतः।
सुखदुःखजुषोऽत्यन्तं पशुतुल्यतया स्थिताः ॥ ४० ॥
मध्ये मध्ये पूर्णदशासादनान्निर्वृता अपि।
तेषां या सा पशुदशा सद्विमर्शान्तरालगा ॥ ४१ ॥
न बन्धनाय भवति दग्धरज्जुरिव स्थिता।
लाक्षारसैर्यदा वस्त्रप्रान्तयुग्मं सुरञ्जितम् ॥ ४२ ॥
व्याप्त्या वासोमध्यमपि सर्वं लाक्षारुणं भवेत्।
एवं तस्य व्यवहृतिश्चिदामर्शनमध्यगा ॥ ४३ ॥
चिद्रूपात्मैकतां याता न ततो बन्धनाय सा।
मध्यविज्ञानिनां देहसंयोगो नास्ति सर्वथा ॥ ४४ ॥

है, क्योंकि उन्हें सहज-समाधि प्राप्त नहीं होती ॥ ३८ उ०--३९ पू० ॥

जबतक वे विचारमें लगे रहते हैं तबतक तो पूर्णस्वरूप ही होते हैं, किन्तु जब विचारोन्मुख नहीं होते तो देहाध्यासयुक्त रहनेके कारण अत्यन्त सुख-दुःख अनुभव करनेके कारण पशुके समान रहते हैं ॥ ३९ उ०--४० ॥

बीच-बीचमें पूर्णदशा आते रहनेसे शान्तिका अनुभव करते रहनेपर भी उस सद्विचारके मध्यमें उन्हें जो पशुदशा प्राप्त होती है वह जली हुई रस्सीके समान होनेके कारण उनके बन्धनका कारण नहीं होती ॥ ४१--४२ पू० ॥

जब कि वस्त्रके दोनों सिरे लाखके रससे रँग दिये जाते हैं तो रंगके फैल जानेसे वस्त्रका सारा मध्य भाग भी लाखकी लालीसे व्याप्त हो जाता है ॥ ४२ उ०--४३ पू० ॥

इसी प्रकार चित्स्वरूप परमात्माका चिन्तन करते हुए बीचमें उसका जो व्यवहार होता है वह भी चित्स्वरूपसे अभिन्न हो जाता है, इसलिये उसके बन्धन का कारण नहीं बनता ॥ ४३ उ०--४४ पू० ॥

मध्यम ज्ञानियोंको देहका संयोग बिलकुल नहीं रहता। बुद्धिमान् पुरुष देहमें आत्मबुद्धिको ही देहका संयोग कहते हैं ॥ ४४ उ०--४५ पू०॥ परशुरामजी ! वह देहसंयोग मध्यम विज्ञानीको कभी नहीं होता,

देहात्मत्वग्रहो देहसंयोगः प्रोच्यते बुधैः ।
स नास्ति मध्यविज्ञानवतो राम कदाचन ॥ ४५ ॥
अभ्यासातिशयात्तस्य मनो लीनं हि सर्वदा ।
सदा समाहितस्वान्तो व्यवहारो न तस्य हि ॥ ४६ ॥
यो देहयात्रानिर्वाहः सोऽपि तस्य सुषुप्तिवत् ।
यथा कश्चित् सुषुप्तिस्थो वासनामात्रतः क्वचित् ॥ ४७ ॥
किञ्चिदुक्त्वा च कृत्वा च न पश्चाद्वेद किञ्चन ।
यथा च मदिरामत्तो वदन् कुर्वन्न वेद वै ॥ ४८ ॥
एवमेष महायोगी लोकयात्राबहिर्गतः ।
किञ्चित् कदाचित् कुर्वंश्च न विजानाति तत् पुनः ॥ ४९ ॥
प्रारब्धवासनाभ्यां तु स देहो निर्वहेत् सदा ।
यस्तूत्तमः स विज्ञानी देहस्तस्यापि नास्ति हि ॥ ५० ॥
व्यवहारं करोत्येष रथसारथिवत् स्थितः ।

क्योंकि अभ्यासकी अधिकताके कारण उसका मन सर्वदा लीन रहता है ॥ ४५ उ०--४६ पू० ॥

जिस समय उसका अन्तःकरण समाधिस्थ रहता है उस समय उसका कोई व्यवहार ही नहीं रहता। उसकी जो देहयात्राका निर्वाह होता है वह भी उसकी सुषुप्तिके समान ही है ॥ ४६ उ०--४७ पू० ॥

जिस प्रकार कोई सोया हुआ पुरुष पूर्ववासनाओंके अनुसार कभी कुछ बोल या कर बैठता है तो भी पीछे उसे कुछ पता नहीं रहता ॥ ४७ उ०--४८ पू० ॥

जिस तरह मदिरासे उन्मत्त हुआ पुरुष कुछ बोले या करे तो उसे उसका पता नहीं चलता, उसी तरह लौकिक व्यवहारसे दूर रहनेवाला यह महायोगी कभी कुछ करता भी है तो पीछे उसका पता नहीं रहता ॥ ४८ उ०--४९ ॥

वह प्रारब्ध और वासनाओं (पूर्वाभ्यासों) के कारण ही सर्वदा शरीरका निर्वाह करता है। किन्तु जो उत्तम ज्ञानी होता है देह तो उसकी दृष्टिमें भी नहीं होता, किन्तु वह रथके सारथीकी तरह स्थित होकर सारा व्यवहार करता है ॥ ५०--५१ पू० ॥

यथा रथेन व्यापारं कुर्वन्न रथदेहकः ॥ ५१ ॥
सारथिः स्यादेवमेव देहव्यापारतत्परः ।
न देही नापि व्यापारी शुद्धसंवेदनात्मकः ॥ ५२ ॥
अन्तरत्यच्छसुस्वान्तो बहिर्व्यवहरत्यसौ ।
यथा स्त्रीवेषितो नाट्ये द्वैरूप्यमुपसङ्गतः ॥ ५३ ॥
यथा क्रीडन् कुमारेण प्रौढस्तद्दोषवर्जितः ।
एवमेष जगत्क्रीडातत्परो निर्मलाशयः ॥ ५४ ॥
मध्यज्ञानी निरोधस्य प्रकर्षेणाचलस्थितिः ।
अचलस्थितिरेतस्य विचारस्य प्रकर्षतः ॥ ५५ ॥
बुद्धेस्तु परिपाकेन मध्यमोत्तमयोर्भिदा ।
अत्र ते शृणु वक्ष्यामि संवादं ज्ञानिनोर्मिथः ॥ ५६ ॥
पुरा हि पर्वतेशोऽभूद्राजा रत्नाङ्गदाह्वयः ।

जिस प्रकार सारथी रथके द्वारा व्यापार करनेपर भी रथरूप नहीं होता, उसी प्रकार उत्तम ज्ञानी देहसम्बन्धी व्यापारोंमें लगा रहनेपर भी न तो देही होता है और न व्यापार करनेवाला, बस, शुद्ध ज्ञान-स्वरूप ही रहता है ॥ ५१ उ०–५२ ॥

वह भीतरसे अत्यन्त निर्मल और स्वस्वरूपमें स्थित रहते हुए ही ऊपरसे व्यवहार करता है, जिस प्रकार नाटकमें स्त्री-वेश धारण करनेवाला पुरुष दो रूपोंमें स्थित रहता है ॥ ५३ ॥

अथवा जैसे बालकके साथ खेलनेवाला प्रौढ पुरुष उस खेलके हार-जीत आदि दोषोंसे मुक्त रहता है, उसी प्रकार यह उत्तम ज्ञानी लोकलीलामें लगा रहनेपर भी निर्मलचित्त रहता है ॥ ५४ ॥

मध्यम ज्ञानीकी तो निरोधकी अधिकताके कारण अविचल स्थिति रहती है, किन्तु इस उत्तम ज्ञानीकी अचल स्थिति विचारकी उत्कृष्टताके कारण होती है ॥ ५५ ॥

इस प्रकार बुद्धिकी परिपक्वताके तारतम्यसे ही उत्तम और मध्यम ज्ञानियोंका अन्तर रहता है। इस विषयमें मैं तुम्हें दो ज्ञानियों-का पारस्परिक संवाद सुनाता हूँ, श्रवण करो ॥ ५६ ॥

पूर्वकालमें पार्वत्य प्रदेशका रत्नांगद नामक एक राजा हुआ है

स विपाशामनु पुरीमध्यासीदमृताभिधाम् ॥ ५७ ॥
तस्य पुत्रौ महात्मानौ स्थितावतिमनीषिणौ ।
रुक्माङ्गदहेमाङ्गदौ जनकस्यातिवल्लभौ ॥ ५८ ॥
तत्र रुक्माङ्गदो ह्यासीच्छास्त्राणां पारदर्शनः ।
हेमाङ्गदोऽतिविज्ञानी ज्ञानिनामुत्तमोऽभवत् ॥ ५९ ॥
तावुभौ निर्गतौ सर्वसेनाभिः परिवारितौ ।
मृगयार्थं वसन्तेषु ययतुर्गहनं वनम् ॥ ६० ॥
तत्रानेकान् मृगान् व्याघ्रान् शशकान् महिषानपि ।
हत्वाऽत्यन्तपरिश्रान्तावासाद्य ह्रदमास्थितौ ॥ ६१ ॥
तद्ध्रदस्य परे पारे न्यग्रोधे ब्रह्मराक्षसः ।
समस्तशास्त्रपारज्ञो विद्वद्भिर्विवदत्यलम् ॥ ६२ ॥
निर्जितान् भक्षयन्नास्ते चिरकालाद्धि भार्गव ।
रुक्माङ्गदश्चारमुखान्निशम्य वादकौतुकी ॥ ६३ ॥
गत्वा तत्र भ्रातृयुतस्तेन वादपरोऽभवत् ।

वह विपाशा नदीके तीरपर अमृता नामकी पुरीमें रहता था ॥ ५७ ॥

उसके रुक्मांगद और हेमांगद नामके दो उदारचित्त एवं अत्यन्त बुद्धिमान् पुत्र थे । वे अपने पिताको अत्यन्त प्रिय थे ॥ ५८ ॥

उनमें रुक्माङ्गद तो सम्पूर्ण शास्त्रोंमें अत्यन्त निपुण था और हेमाङ्गद ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ और आत्मदर्शी था ॥ ५९ ॥

वे दोनों सम्पूर्ण सेना के साथ नगरसे निकले और वसन्त ऋतुमें मृगयाके लिये सघन वनमें चले गये ॥ ६० ॥

वहाँ उन्होंने अनेकों मृगों, व्याघ्रों, खरहों और भैंसोंका वध किया तथा थककर एक सरोवरके तटपर आकर बैठ गये ॥ ६१ ॥

उस सरोवरके दूसरे तटपर वटवृक्षके ऊपर एक ब्रह्मराक्षस रहता था । वह सम्पूर्ण शास्त्रोंमें पारंगत था और विद्वानोंके साथ बहुत विवाद किया करता था ॥ ६२ ॥

भृगुनन्दन ! वह जिन्हें विवादमें जीत लेता था उन्हें खा जाता था । बहुत दिनोंसे उसका यही क्रम था । रुक्माङ्गदको भी वाद-विवादका बड़ा कुतूहल रहता था । उसने जब दूतोंके मुखसे यह समाचार सुना तो

निर्जितस्तेन वादेषु गृहीतो ब्रह्मरक्षसा ॥ ६४ ॥
रुक्माङ्गदोऽथ तं दृष्ट्वा प्राह हेमाङ्गदस्तु तम्।
भो ब्रह्मराक्षसैनं त्वं न भक्षयितुमर्हसि ॥ ६५ ॥
मां जित्वाऽवरजं ह्यस्य ततो नौ सह भक्षय।
हेमाङ्गदवचः श्रुत्वा प्रोवाच ब्रह्मराक्षसः ॥ ६६ ॥
चिराय लब्धो ह्याहारो बुभुक्षा मां प्रबाधते।
एतेन पारणां कृत्वा विवदामि त्वया सह ॥ ६७ ॥
ततस्त्वामपि निर्जित्य भक्षितेन त्वया ततः।
अत्यन्तं तर्पितो भूयामिति मे नृप निश्चयः ॥ ६८ ॥
चिरादेष वरः प्राप्तो वसिष्ठात्तु महात्मनः।
कदाचिदागतः शिष्यो वसिष्ठस्य तु भक्षितः ॥ ६९ ॥
देवराताभिधस्तेन शप्तस्तेन महात्मना।
इतः परं भक्षयित्वा मनुष्यं ब्रह्मराक्षसः ॥ ७० ॥
दग्धं भवेत्तव मुखमिति पश्चान्मया मुनिः।

वह भाईके सहित वहाँ जाकर उससे विवाद करने लगा ॥ ६३--६४ पू० ॥

वादमें जीत लिये जानेपर रुक्माङ्गदको ब्रह्मराक्षसने पकड़ लिया। यह देखकर हेमाङ्गदने उससे कहा, "ओ ब्रह्मराक्षस! तुम इन्हें मत खाओ। मैं इनका छोटा भाई हूँ। मुझे भी जीतकर फिर हम दोनों हीको खा लेना" ॥ ६४ उ०–६६ पू० ॥

हेमाङ्गदकी बात सुनकर ब्रह्मराक्षसने कहा, "मुझे भूख सता रही है। बहुत दिनोंमें यह आहार मिला है। अतः इसके द्वारा पारण करके फिर तुम्हारे साथ विवाद करूँगा ॥ ६६ उ०–६७ ॥

फिर तुमको भी जीतकर जब खा लूँगा तो अत्यन्त तृप्त हो जाऊँगा। राजन्! ऐसा मेरा विचार है ॥ ६८ ॥

बहुत दिनोंसे महात्मा वसिष्ठसे मुझे ऐसा ही वर मिला हुआ है। एक बार उनका देवरात नामक शिष्य यहाँ आया था, उसे मैं खा गया तो उन्होंने मुझे शाप दिया—॥ ६९–७० पू० ॥

"ब्रह्मराक्षस! अब आगे यदि तू किसी मनुष्यको खायगा तो तेरा

भूयः सम्प्रार्थितो मह्यं प्रायच्छद्वरमुत्तमम् ॥ ७१ ॥
वादेषु निर्जितान् मर्त्यान् भक्षय त्वं समन्ततः ।
इति तद्वादविजितान् भक्षयामि ततस्त्वहम् ॥ ७२ ॥
चिरायैष मया प्राप्त आहारः सर्वतोऽधिकः ।
भक्षयित्वा ततो वादे त्वां विजेष्यामि भूमिप ॥ ७३ ॥
इत्युक्त्वा भक्षणोद्युक्तं पुनर्हेमाङ्गदोऽब्रवीत् ।
ब्रह्मराक्षस मद्वाक्यं किञ्चिच्छृणु मया चितः ॥ ७४ ॥
अपि किञ्चित् प्राप्य चैनं परित्यजसि तद्वद ।
दत्त्वा तुभ्यं तदेनं तु मोचयामि सहोदरम् ॥ ७५ ॥
इत्युक्तः प्राह भूयस्तं नृपं स ब्रह्मराक्षसः ।
शृणु राजन्नास्ति तद्वै किञ्चिद्येनैनमुत्सृजे ॥ ७६॥
कः प्राणप्रियमाहारं त्यजेत् कालोपसङ्गतम् ।
किन्त्वेकः समयो मेऽस्ति प्रश्ना मे हृदि संस्थिताः ॥ ७७ ॥
तान्मे यदि प्रतिब्रूयास्तत्ते भ्रातरमुत्सृजे ।

मुँह जल जायगा।" फिर जब मैंने बहुत प्रार्थना की तो उन्होंने यह उत्तम वर दिया ॥ ७० उ०-७१ ॥

"तुम शास्त्रार्थमें जीते हुए मनुष्योंको सभी जगह खा सकते हो।" इसलिये तबसे मैं वादमें जीते हुए लोगोंको खा जाता हूँ ॥ ७२ ॥

अब बहुत समय बीतनेपर मुझे यह सबसे अच्छा आहार मिला है। अतः राजन्! इसे खाकर फिर मैं तुम्हें वादमें जीतूँगा" ॥ ७३ ॥

ऐसा कहकर जब वह रुक्मांगदको खानेके लिये उद्यत हुआ तो हेमाङ्गदने कहा, "ब्रह्मराक्षस! मेरी एक छोटी-सी बात सुन लो। बताओ, क्या मेरे द्वारा दी हुई कोई वस्तु लेकर तुम इन्हें छोड़ सकते हो। मैं तुम्हें वह वस्तु देकर अपने भाईको छुड़ा लूँगा" ॥ ७४-७५ ॥

ऐसा कहे जानेपर उस ब्रह्मराक्षसने राजासे कहा, "राजन्! सुनो, ऐसी कोई चीज नहीं है जिसके बदलेमें मैं इसे छोड़ दूँ ॥ ७६ ॥

भला, बहुत काल पश्चात् मिले हुए अपने प्राणप्रिय आहारको कौन छोड़ना चाहेगा? किन्तु मेरा एक प्रण है, मेरे हृदयमें कुछ प्रश्न हैं। यदि तुम उनका उत्तर दे दोगे तो मैं तुम्हारे भाईको छोड़ दूँगा ॥ ७७-७८ पू० ॥

ततो हेमाङ्गदः प्राह पृच्छ तान् संवदामि ते ॥ ७८ ॥
इत्युक्तो नृपपुत्रं तं पप्रच्छ ब्रह्मराक्षसः।
गूढप्रश्नान् क्रमेणैव तद्वक्ष्ये शृणु भार्गव ॥ ७९ ॥
आकाशाद्वितता या स्यात् सूक्ष्मा च परमाणुतः।
सा किंरूपा स्थिता कुत्र वदैतन्नृपपुत्रक ॥ ८० ॥
वितता चितिराकाशात् सूक्ष्मा च परमाणुतः।
स्फुरद्रूपा स्वात्मसंस्था शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८१ ॥
एकापि साऽतिवितता कथं सूक्ष्मतरा भवेत्।
स्फुरत्वं किं किमात्मा च वदैतन्नृपनन्दन ॥ ८२ ॥
कारणत्वाद्धि वितता सूक्ष्मा ग्राह्यत्वतोऽपि च।
स्फुरत्त्वमात्मा च चितिः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८३ ॥
स्थानं तदुपलब्धौ किं कथं वा सोपलभ्यते।

तब हेमाङ्गदने कहा, "पूछो, मैं उनका उत्तर दूँगा।" ऐसा कहे जानेपर ब्रह्मराक्षसने उस राजकुमारसे बड़े गूढ प्रश्न किये। परशुराम! सुनो, मैं उनका वर्णन करता हूँ—॥ ७८ उ०-७६ ॥

प्र०—राजकुमार! बतलाओ, जो वस्तु आकाशसे भी अधिक विस्तृत और परमाणुसे भी अधिक सूक्ष्म है, उसका क्या स्वरूप है और वह कहाँ है? ॥ ८० ॥

उ०—ब्रह्मराक्षस! सुन, चिति आकाशसे भी विस्तृत और परमाणुसे भी सूक्ष्म है। वह स्फुरणरूपा है और अपने आत्मामें ही स्थित है ॥ ८१ ॥

प्र०—राजपुत्र! वह एक ही होनेपर भी अत्यन्त विस्तृत और अत्यन्त सूक्ष्म कैसे हो सकती है? स्फुरण क्या है और आत्मा क्या है—यह बताओ ॥ ८२ ॥

उ०—ब्रह्मराक्षस! सुन, सबका कारण होनेके कारण तो वह विस्तृत है और इन्द्रिय आदि से ग्राह्य न होनेके कारण सूक्ष्म है। तथा स्फुरण और आत्मा चितिको ही कहते हैं ॥ ८३ ॥

प्र०—राजकुमार! बताओ, उसकी उपलब्धिका स्थान क्या है?

उपलब्ध्या च किं वा स्याद्वदैतन्नृपनन्दन ॥ ८४ ॥
धीः स्थानमुपलब्धौ तु स्वैकाग्र्यात् सोपलभ्यते ।
उपलब्ध्या जनिर्न स्याच्छृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८५ ॥
धीः केयं समाख्याता तदैकाग्र्यं च कीदृशम् ।
जनिर्वापि भवेत् का सा वदैतन्नृपनन्दन ॥ ८६ ॥
चितिर्जाड्यावृता धीः स्यादैकाग्र्यं स्वात्मविश्रमः ।
जनिर्देहात्मताबुद्धिः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८७ ॥
कस्माच्चितेर्नोपलब्धिः केन वा सोपलभ्यते ।
जनिः कथं वा सम्प्राप्ता वदैतन्नृपनन्दन ॥ ८८ ॥
अविवेकान्नोपलब्धिरात्मना सोपलभ्यते ।
जनिः कर्तृत्वाभिमानाच्छृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८९ ॥
कोऽविवेकस्त्वया प्रोक्तस्तथात्मा वापि को भवेत् ।

किस प्रकार उसकी उपलब्धि होती है ? और उसे उपलब्ध कर लेनेसे क्या होता है ? ॥ ८४ ॥

उ०—ब्रह्मराक्षस ! सुन, उसकी उपलब्धिका स्थान बुद्धि है, चित्तकी एकाग्रतासे उसकी उपलब्धि होती है और उसे उपलब्ध कर लेनेपर फिर जन्म नहीं होता ॥ ८५ ॥

प्र०—राजकुमार ! बताओ, बुद्धि किसे कहते हैं ? उसकी एकाग्रता कैसी होती है ? और जन्म लेना क्या है ? ॥ ८६ ॥

उ०—ब्रह्मराक्षस ! सुन, जड़ता (अविद्या)से अवृत चिति ही बुद्धि है, अपने आत्मामें ठहर जाना एकाग्रता है और देहमें आत्मबुद्धि ही जन्म है ॥ ८७ ॥

प्र०—राजकुमार ! यह बताओ कि चिति उपलब्ध क्यों नहीं होती ? वह किस साधनसे उपलब्ध होती है ? और जन्मकी प्राप्ति कैसे हुई है ? ॥ ८८ ॥

उ०—ब्रह्मराक्षस ! सुन, अविवेकके कारण उपलब्धि नहीं होती, वह स्वयं ही उपलब्ध होती है और जन्मकी प्राप्ति हुई है कर्तापनके अभिमानसे ॥ ८९ ॥

प्र०—राजकुमार ! यह बताओ कि तुमने अविवेक किसे कहा ?

को वा कर्तृत्वाभिमानो वदैतन्नृपनन्दन ॥ ९० ॥
अविवेकोऽपृथक्ज्ञानमात्मानं पृच्छ स्वात्मनि ।
तद्वासनाभिमानः स्याच्छृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९१ ॥
अविवेकः केन नश्येत्तस्य किं वा हि कारणम् ।
तस्यापि किं कारणं स्याद्वदैतन्नृपनन्दन ॥ ९२ ॥
विचारेण स नश्येद्वै वैराग्यं तस्य कारणम् ।
तत्कारणं दोषदृष्टिः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९३ ॥
को विचारो भवेत् किं वा वैराग्यं सम्प्रचक्षते ।
दोषदृष्टिश्च का प्रोक्ता वदैतन्नृपनन्दन ॥ ९४ ॥
दृग्दृश्ययोः परीक्षातो दृश्ये तत्परिवर्जनम् ।
दुःखबुद्धिः सा हि दृश्ये शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९५ ॥
एतत् सर्वं केन भवेत् स वा कस्मादवाप्यते ।

और स्वयं (आत्मा) क्या है ? तथा कर्तापनका अभिमान किसे कहते हैं ॥ ९० ॥

उ०—ब्रह्मराक्षस ! सुन, देहादिसे आत्माको भिन्न न समझना अविवेक है, आत्मा क्या है—यह अपनेहीसे पूछ ले तथा 'मैं करता हूँ' ऐसी वासना ही कर्तापनका अभिमान है ॥ ९१ ॥

प्र०—राजकुमार ! बताओ, अविवेकका नाश कैसे हो सकता है ? उसका कारण क्या है और उस कारणका भी क्या कारण है ? ॥ ९२ ॥

उ०—ब्रह्मराक्षस ! सुन, अविवेकका नाश विचारसे होता है। उसका कारण वैराग्य है और वैराग्यका कारण है विषयोंमें दोषदृष्टि ॥ ९३ ॥

प्र०—राजकुमार ! यह बताओ कि विचार क्या है ? वैराग्य किसे कहते हैं और दोषदृष्टि क्या कहलाती है ? ॥ ९४ ॥

उ०—ब्रह्मराक्षस ! सुन, द्रष्टा और दृश्यकी पहचान करना विचार है, दृश्यमें राग न रखना वैराग्य है और दृश्यमें दुःखबुद्धि हो जाना दोषदृष्टि है ॥ ९५ ॥

प्र०—राजकुमार ! यह बतलाओ कि ये सब होंगे कैसे ? और वे

तत्र वा किं निदानं स्याद्वदैतन्नृपनन्दन ॥ ९६ ॥
देवतानुग्रहात् सर्वं भक्त्या सा हि समाप्यते ।
निदानं सत्सङ्ग एव शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९७ ॥
का देवता च सम्प्रोक्ता का च सा भक्तिरुच्यते ।
सन्तश्च कीदृशाः प्रोक्ता वदैतन्नृपनन्दन ॥ ९८ ॥
देवता स्याज्जगद्धात्री भक्तिस्तत्परतोच्यते ।
सन्तः शान्ता दयावन्तः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९९ ॥
सदा बिभेति को लोके सदा दुःखपरोऽपि कः ।
सदा दैन्ययुतः को वा वदैतन्नृपनन्दन ॥ १०० ॥
महाधनी सदा भीतो दुःखी बहुकुटुम्बवान् ।
आशाग्रस्तः सदा दीनः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ १०१ ॥
निर्भयः को भवेल्लोके निर्दुःखश्चापि को भवेत् ।
अदीनः सर्वदा कः स्याद्वदैतन्नृपनन्दन ॥ १०२ ॥

साधन भी किस प्रकार प्राप्त होंगे तथा उसका भी मूल कारण क्या है ॥ ९६ ॥

उ०—ब्रह्मराक्षस ! सुन, ये सब भगवत्कृपासे हो सकते हैं, भगवत्कृपा भक्तिसे प्राप्त होती है और उसका भी मूल सत्संग है ॥ ९७ ॥

प्र०—राजकुमार ! बताओ, भगवान् किसे कहते हैं ? भक्ति क्या कही जाती है और संत किन लोगोंको कहा जाता है ? ॥ ९८ ॥

उ०—ब्रह्मराक्षस ! सुन, जो जगत्को धारण करनेवाला है वह भगवान् है। उन्हींमें मन लगा देना भक्ति है तथा शान्त और दयावान् पुरुष सन्त होते हैं ॥ ९९ ॥

प्र०—राजकुमार ! यह बताओ कि संसारमें सर्वदा कौन डरता रहता है ? कौन दुःखमें डूबा रहता है ? और कौन दीनतामें फँसा हुआ है ? ॥ १०० ॥

उ०—ब्रह्मराक्षस ! सुन, जो बहुत अधिक धनी होता है वह सदा डरता रहता है, अधिक कुटुम्बवाला दुःखी रहता है और आशाओंमें फँसा हुआ सदा दीन रहता है ॥ १०१ ॥

प्र०—राजकुमार ! यह बताओ, लोकमें निर्भय कौन हो सकता है, दुःखहीन कौन है और सर्वदा दैन्यशून्य कौन रहता है ? ॥ १०२ ॥

निर्भयः सङ्गरहितो निर्दुःखो जितमानसः ।
ज्ञातज्ञेयस्त्वदीनात्मा शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ १०३ ॥
दुर्लक्ष्यः स्यात् को हि लोके विदेहो दृश्यते च कः ।
निष्क्रियस्य क्रिया का स्याद्वदैतन्नृपनन्दन ॥ १०४ ॥
जीवन्मुक्तो हि दुर्लक्ष्यो विदेहो देहवानपि ।
तत्क्रिया निष्क्रियस्योक्ता शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ १०५ ॥
किमस्ति किं नास्ति लोके कोऽत्यन्तासम्भवी भवेत् ।
एतावदुक्त्वा नृपते मोचय द्रुतमग्रजम् ॥ १०६ ॥
दृगस्ति नास्ति वै दृश्यं व्यवहारो ह्यसम्भवी ।
उक्तमेतद्ब्रह्मरक्षो मुञ्च मद्भ्रातरं द्रुतम् ॥ १०७ ॥
श्रुत्वैतदथ सन्तुष्टो मुमोच ब्रह्मराक्षसः ।
रुक्माङ्गदं ततः पश्चादभवद्ब्राह्मणो हि सः ॥ १०८ ॥

उ०—ब्रह्मराक्षस ! सुन, जिसकी किसीमें आसक्ति नहीं है, वह निर्भय रहता है, जिसका मनपर अधिकार है वह दुःखहीन रहता है और जिसने जाननेयोग्य वस्तुको जान लिया है उसमें दीनता नहीं रहती ॥ १०३ ॥

प्र०—राजकुमार ! यह बताओ कि लोकमें जिसकी पहचान अत्यन्त कठिन है वह कौन है ? विदेह होकर भी दिखायी कौन देता है और निष्क्रियकी क्रिया क्या है ? ॥ १०४ ॥

उ०—ब्रह्मराक्षस ! सुन, जीवन्मुक्तकी पहचान अत्यन्त कठिन है, वही देहवान् होकर भी विदेह है और उसकी क्रिया ही निष्क्रियकी क्रिया कही जाती है ॥ १०५ ॥

प्र०—लोकमें कौन सी वस्तु है और कौन-सी नहीं है ? तथा अत्यन्त असम्भव क्या है ? राजन् ! बस, इतना बतला देनेपर मैं तुरन्त तुम्हारे भाईको छोड़ दूँगा ॥ १०६ ॥

उ०—ब्रह्मराक्षस ! द्रष्टा चेतन है और दृश्य नहीं है तथा व्यवहार असम्भव है । इस प्रकार मैंने तुम्हारे इस प्रश्नका भी उत्तर दे दिया अब तुरन्त मेरे भाईको छोड़ दो ॥ १०७ ॥

यह सब सुनकर ब्रह्मराक्षस बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने रुक्माङ्गदको छोड़ दिया । उसके पश्चात् वह भी ब्राह्मण ही हो गया ॥ १०८ ॥

तेजस्विनं तपोमूर्त्तिं दृष्ट्वा ब्राह्मणरूपिणम् ।
पप्रच्छतू राजसुतौ को भवानिति शङ्कितौ ॥ १०९ ॥
अथ प्राह ब्राह्मणाग्र्यः स्ववृत्तं वै यथातथम् ।
अहं पुरा ब्राह्मणस्तु मगधेष्वभिविश्रुतः ॥ ११० ॥
वसुमानिति विख्यातः सर्वशास्त्रविशारदः ।
सभासु निर्जिता भूयो मया विद्याभिमानिना ॥ १११ ॥
विद्वांसः शतशो विप्रास्ततोत्यन्तसुगर्वितः ।
कदाचिन्मगधेशस्य सभायामष्टकं मुनिम् ॥ ११२ ॥
परावरज्ञं संशान्तं वादार्थी सङ्गतोऽभवम् ।
शुष्कतर्कैकनिपुण आत्मविद्याविचारणे ॥ ११३ ॥
ततो मया स आक्षिप्तः केवलं तर्कयुक्तिभिः ।
समाधानवचस्तस्य बह्वागमसुबृंहितम् ॥ ११४ ॥
दूषयित्वा तर्कजालैरधिक्षेपपरोऽभवम् ।

उसे एक तेजस्वी तपोमूर्त्ति ब्राह्मणके रूपमें देखकर उन राजकुमारोंने शंकित होकर पूछा, "आप कौन हैं ?" ॥ १०९ ॥

तब उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने ज्योंका त्यों अपना वृत्तान्त सुनाया, "मैं पूर्वकालमें मगधदेशमें एक सुप्रसिद्ध ब्राह्मण था ॥ ११० ॥

मैं वसुमान् नामसे विख्यात और सभी शास्त्रोंमें कुशल था। विद्याका मुझे बड़ा अभिमान था और मैंने सभाओंमें सैकड़ों विद्वान् ब्राह्मणोंको अनेकों बार परास्त कर दिया था। इससे मैं अत्यन्त गर्वित हो गया था ॥ १११–११२ पू० ॥

मैं शास्त्रार्थके लिये तो उत्सुक रहता ही था और शुष्क तर्क करनेमें बहुत निपुण भी था। एक बार आत्मविद्याके विषयमें विचार करनेके प्रसंगसे मगधनरेशकी सभामें अष्टक मुनिसे मेरा समागम हो गया। वे परमात्मतत्त्वको जाननेवाले और अत्यन्त शान्त थे ॥११२ उ०–११३॥

उस समय मैं केवल शुष्कतर्ककी युक्तियोंसे उनका खण्डन करता रहा। उसके उत्तरमें उनका जो अनेकों शास्त्रोंसे प्रमाणित समाधान वचन होता था उसे अपने तर्कजालसे काटकर मैं बार बार आक्षेप (खण्डन) ही करता रहा ॥ ११४–११५ पू० ॥

अधिक्षिप्तोऽपि बहुधा मया राजसभागतः ॥ ११५ ॥
शान्तस्तूष्णीं बभूवाथ शिष्यस्तस्य महात्मनः ।
काश्यपो मां क्रोधवशाच्छशाप नृपसंसदि ॥ ११६ ॥
आचार्यं मेऽधिक्षिपसि त्वमस्थाने द्विजाधम ।
यतस्तस्माच्चिरं कालं ब्रह्मरक्षो भविष्यसि ॥ ११७ ॥
शप्त एवमहं तेन भीतोऽत्यन्तं तदा मुनिम् ।
वेपमानः प्रणम्याशु चाष्टकं शरणं गतः ॥ ११८ ॥
मयि सोऽथ दयाश्चक्रे विरोधिन्यपि शान्तधीः ।
शापस्यान्तं ददौ मह्यं तन्मे निगदतः शृणु ॥ ११९ ॥
प्रश्नांस्त्वयापि हि कृतान् प्रत्युक्तांश्च मया हि तान् ।
स्थापितान् केवलैस्तर्कैर्यदैकः प्रतिवक्ष्यति ॥ १२० ॥
कश्चिद्विद्वांस्तदा शापाद्विमुक्तस्त्वं भविष्यसि ।
तच्छापादथ ते मुक्तश्चिराय नृपनन्दन ॥ १२१ ॥

राजसभामें मेरे द्वारा बार-बार आक्षेप किये जानेपर भी वे शान्त और मौन ही रहे। तब उन महात्माके काश्यप नामक शिष्यने क्रोधातुर हो उस राजसभामें मुझे शाप दिया ॥ ११५ उ०--११६ ॥

"अरे ब्राह्मणाधम ! तू अकारण ही मेरे गुरुदेवका अनादर कर रहा है, इसलिये तू दीर्घकालतक ब्रह्मराक्षस रहेगा" ॥ ११७ ॥

उसका ऐसा शाप होनेपर मैं बड़ा भयभीत हुआ और काँपते हुए उन अष्टक मुनिको प्रणाम कर उन्हींकी शरणमें गया ॥ ११८ ॥

मुनि शान्तचित्त थे, अतः विरोधी होनेपर भी मुनिने मुझपर दया की। उन्होंने उस शापका जो अन्त निश्चित किया वह मैं बतलाता हूँ, सुनो ॥ ११९ ॥

तुमने मुझसे जो प्रश्न किये और मेरे समाधान करनेपर भी तुमने केवल तर्कके बलसे उन्हें खड़े रखा, उनका जब कोई एक ही विद्वान् समाधान कर देगा, उस समय तुम इस शापसे मुक्त हो जाओगे ॥ १२०-१२१ पू० ॥

राजकुमार ! अब बहुत समय बीतनेपर तुमने मुझे उस शापसे

तत्त्वां मन्ये महात्मानं ज्ञातज्ञेयं नृपूत्तमम् ।
इत्युक्तस्तेन विप्रेण विस्मितोऽभून्नृपात्मजः ॥ १२२ ॥
ततो भूयो नृपसुतोऽनुयुक्तस्तेन सर्वशः ।
वसुमन्तं बोधयित्वा सम्यक् प्रागात् पुरं स्वकम् ॥ १२३ ॥
प्रणम्य वसुमन्तं तं सहितो भ्रातृसैनिकैः ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं यत् पृष्टं भार्गव त्वया ॥ १२४ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे राक्षसोपाख्यानं
एकविंशतितमोऽध्यायः ।



छुड़ाया है । अतः मैं तुम्हें महात्मा, ज्ञातज्ञेय और राजाओंमें श्रेष्ठ समझता हूँ ॥ १२१ उ०-१२२ पू० ॥

उस ब्राह्मणके ऐसा कहनेपर राजकुमारको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पुनः प्रश्न किये और राजकुमारने सब प्रकार वसुमान्‌का समाधान किया। फिर वह वसुमान्‌को प्रणाम कर अपने भाई तथा सैनिकोंके सहित अपने नगरको चला गया। परशुराम ! तुमने जो कुछ पूछा था वह सब मैंने तुमसे कह दिया ॥ १२२ उ०-१२४ ॥

एकविंशतितम अध्याय समाप्त ।



द्वाविंशोऽध्यायः

श्रुत्वैवं राक्षसकथां रामो भृगुकुलोद्भवः ।
पुनः पप्रच्छावधूतकुलेशं प्रश्रयाश्रयः ॥ १ ॥
भगवन् किं तेन पृष्टं शापमुक्तद्विजेन वै ।
हेमाङ्गदेन किं प्रोक्तमेतन्मे कृपया वद ॥ २ ॥
कौतुक्यत्यन्तमत्राहं न तदल्पं भवेत् क्वचित् ।
इति पृष्टः पुनः प्राह दत्तात्रेयो दयापरः ॥ ३ ॥
राम तत्ते प्रवक्ष्यामि महार्थं तत् प्रभाषितम् ।
ततः पप्रच्छ वसुमान् हेमाङ्गदमुपस्थितम् ॥ ४ ॥
राजपुत्र किञ्चिदहं पृच्छामि त्वं समीरय ।
अहमष्टकयोगीशात्तदज्ञासिषमादितः ॥ ५ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

वसुमानका समाधान, ग्रन्थका सारांश

इस प्रकार राक्षसकी कथा सुनकर भृगुकुलमें अवतीर्ण श्रीपरशुरामजीने विनयावनत हो अवधूतशिरोमणि श्रीदत्तात्रेयजीसे पुनः पूछा ॥ १ ॥

"भगवन्! शापसे मुक्त हुए उस ब्राह्मणने क्या पूछा था और हेमाङ्गदने उसका क्या उत्तर दिया, कृपापूर्वक यह मुझसे कहिये ॥ २ ॥

इस विषयमें मुझे बड़ा कौतूहल है, वह कोई छोटी बात कभी नहीं हो सकती। ऐसा प्रश्न होनेपर श्रीदत्तात्रेयजीने दयालु होकर पुनः कहना आरम्भ किया—॥ ३ ॥

"परशुराम! वह सम्भाषण बड़े गम्भीर अर्थसे भरा हुआ है, मैं तुम्हें सुनाता हूँ। तब वसुमान्ने समीप ही बैठे हुए हेमाङ्गदसे पूछा—॥ ४ ॥

"राजपुत्र! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ, आप वर्णन करें। आरम्भमें मैंने योगिराज अष्टकसे यह तत्त्व जाना था ॥ ५ ॥

भूयस्त्वदुक्त्या च सम्यग् विदितं परमं पदम् ।
किन्तु ते ज्ञाततत्त्वस्य कथं स्थितिरियं भवेत् ॥ ६ ॥
कथं ज्ञातसुविज्ञेयो व्यवहारपरायणः ।
ध्वान्तप्रकाशयोर्यद्वत् स्थितिरेकत्र सम्भवेत् ॥ ७ ॥
एतन्मे राजतनय ब्रूहि सम्यग् यथास्थितम् ।
इत्यापृष्टः प्राह हेमाङ्गदस्तं ब्राह्मणोत्तमम् ॥ ८ ॥
ब्रह्मन् ते भ्रान्तिरद्यापि न सम्यक् प्रविनाशिता ।
व्यवहारेण किं ज्ञानं बाध्यते स्वात्मसम्भवम् ॥ ९ ॥
व्यवहारवशाज्ज्ञानं बाध्यते च ततः कथम् ।
पुरुषार्थस्य लाभः स्यात् स्वप्नज्ञानसमेन वै ॥ १० ॥
सर्वोऽपि व्यवहारोऽयं ज्ञानमाश्रित्य सम्भवेत् ।
तज्ज्ञानं बाध्यते तेन कथं तन्मे समीरय ॥ ११ ॥

अब आपके कथनसे मुझे पुनः उस परम पदका अच्छी तरह ज्ञान हो गया। किन्तु तत्त्वज्ञ होनेपर भी आपकी ऐसी स्थिति क्यों होनी चाहिये ? ॥ ६ ॥

जिसने ज्ञेय तत्त्वको जान लिया है वह व्यवहारमें कैसे लगा रह सकता है ? यह तो ऐसी ही बात होगी जैसे अन्धकार और प्रकाशकी स्थिति एक जगह हो जाय ॥ ७ ॥

राजकुमार ! इसनें जो भी कारण हो वह मुझे ज्योंका त्यों समझाकर कहिये।" ऐसा पूछा जानेपर हेमाङ्गदने उस विप्रश्रेष्ठसे कहा—॥ ८ ॥

"ब्रह्मन् ! आपका भ्रम अभी अच्छी तरह निवृत्त नहीं हुआ है। क्या अपने ही आत्मस्वरूपसे रहनेवाला ज्ञान व्यवहारसे बाधित हो जाता है ? ॥ ९ ॥

यदि व्यवहारके कारण, ज्ञान बाधित हो जाय तब तो स्वप्नमें होनेवाले ज्ञानके समान हुआ। उससे मोक्षरूप पुरुषार्थकी प्राप्ति कैसे हो सकेगी ? ॥ १० ॥

यह सारा व्यवहार तो ज्ञानके आश्रयसे ही होता है। फिर उसीसे वह बाधित कैसे हो जायगा—यह मुझे बताओ ॥ ११ ॥

ज्ञानं तदेव हि भवेद् यत्रेदं भासते जगत्।
सङ्कल्पाद् व्यवहारो हि ज्ञाने सर्वं प्रकाशते ॥ १२ ॥
असङ्कल्पेन तद्रूपमनुलक्ष्य धिया सकृत्।
कृतार्थो बन्धनिर्मुक्तो भवतीति सुनिश्चयः ॥ १३ ॥
तस्माद् ब्रह्मन्न ते प्रश्नः सम्मतोऽयं सुबुद्धिभिः।
पुनस्तं प्राह वसुमान् नृपसूनुं महाशयम् ॥ १४ ॥
सत्यं राजकुमारैतन्मयापीत्थं सुनिश्चितम्।
स्वरूपं निर्विकल्पं हि संवेदनमिहोच्यते ॥ १५ ॥
सविकल्पत्वमापन्ने पुनर्भ्रान्तिः कुतो न हि।
विकल्प एव हि भ्रान्तिर्यथा रज्जौ भुजङ्गमः ॥ १६ ॥
शृणु ब्रह्मन् न जानासि भ्रमाभ्रमविनिर्णयम्।
गगने नीलिमा भाति गगनं जानतामपि ॥ १७ ॥
गगने नीलिमा भाति गगनं जानतामपि ॥ १७ ॥
व्यवहारं च कुर्वन्ति नीलं नभ इति क्वचित्।

जिसमें यह जगत् भास रहा है वही तो ज्ञान है। केवल संकल्पके द्वारा ज्ञानमें ही तो सारे व्यवहारका भास होता है ॥ १२ ॥

हाँ, यह बात बिलकुल निश्चित है कि निःसंकल्प हो जानेसे बुद्धिके द्वारा एक बार उस आत्मस्वरूपको लख लेनेपर जीव बन्धनसे मुक्त होकर कृतार्थ हो जाता है ॥ १३ ॥

इसलिये ब्रह्मन्! आपका यह प्रश्न श्रेष्ठ बुद्धिवालोंको मान्य नहीं है।" तब वसुमान्ने उस उदारचित्त राजकुमारसे पुनः कहा—॥ १४ ॥

"राजकुमार! यह बात ठीक है और मैंने भी ऐसा ही निश्चय किया है। वास्तवमें अपना निर्विकल्प स्वरूप ही शुद्धचिति कहा गया है ॥ १५ ॥

किन्तु यदि वह विकल्पयुक्त हो जाय तो पुनः भ्रान्ति क्यों नहीं होगी? क्योंकि जैसे रज्जुमें सर्पका भ्रम होता है वैसे विकल्प ही तो भ्रान्ति है" ॥ १६ ॥

[राजपुत्र—] "ब्रह्मन्! सुनो, आप तो भ्रम और भ्रमहीनताका निर्णय करना भी नहीं जानते। जो लोग आकाशको जानते हैं उन्हें भी उसमें नीलिमा तो दिखायी देती ही है। और वे 'आकाश नीला

तावतैव तु तज्ज्ञानं न भ्रान्तिरभिधीयते ॥ १८ ॥
अतत्त्वज्ञे हि सा भ्रान्तिस्तत्त्वज्ञे सा प्रमैव हि ।
हतप्रामाण्यजीवं तज्ज्ञानं मृतमहाहिवत् ॥ १९ ॥
दर्पणप्रतिबिम्बस्य व्यवहारसमो भवेत् ।
अभिज्ञस्यानभिज्ञस्य चाप्यतोऽस्ति भिदा तयोः ॥ २० ॥
ज्ञस्य प्रमैव तज्ज्ञानमज्ञस्य तु भ्रमात्मकम् ।
ज्ञानिनां ज्ञानमेव स्यात् सर्वोऽपि व्यवहारकः ॥ २१ ॥
दर्पणप्रतिबिम्बानां व्यवहारेण सम्मितः ।
अभिज्ञानामतो भूयो न हि भ्रान्तेः समुद्भवः ॥ २२ ॥
केवलाज्ञानजनितं ज्ञानेन विनिवर्त्तते ।
दोषेण जनितं कस्माद्विलीयेज्ज्ञानमात्रतः ॥ २३ ॥

है' ऐसा बोलकर कभी व्यवहार भी करते ही हैं। किन्तु इतनेसे ही उनका वह ज्ञान भ्रान्ति तो नहीं कहा जाता ॥ १७--१८ ॥

अज्ञानीमें तो आकाशकी नीलिमाका ज्ञान भ्रान्ति ही है, किन्तु तत्त्वज्ञमें तो वह प्रमा ही है। उनका वह ज्ञान प्रामाण्यरूप जीवनसे रहित होनेके कारण मरे हुए सर्पके समान किसी अनर्थका कारण नहीं होता ॥ १९ ॥

ज्ञानियोंका व्यवहार दर्पणके प्रतिबिम्बकी हलचलके समान होता है। अतः ज्ञानी और अज्ञानी इन दोनोंके व्यवहारमें भेद तो है ही ॥ २० ॥

वह व्यवहारसम्बन्धी ज्ञान ज्ञानीकी तो प्रमा है और अज्ञानीका भ्रम है। ज्ञानियोंके लिये तो सारा व्यवहार भी ज्ञानस्वरूप ही है॥ २१॥

उनके लिये वह दर्पणमें भासनेवाले प्रतिबिम्बोंके व्यवहारके समान होता है। इसलिये ज्ञानियोंको पुनः भ्रान्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

ज्ञानसे तो उसीकी निवृत्ति होती है जो केवल अज्ञानसे उत्पन्न हुआ हो। किन्तु जिसकी उत्पत्ति किसी अन्य दोषके कारण हुई हो वह केवल ज्ञानसे कैसे लीन हो सकता है ? ॥ २३ ॥

अत एव तैमिरिकः पश्येज्जानन्नपि द्वयम्।
जगदाभास एषस्तु कर्मदोषसमुद्भवः॥ २४॥
तस्मादाकर्मविलयं व्यवहारो न लीयते।
समाप्ते कर्मणि ततः शिष्येदद्वयचिन्मयम्॥ २५॥
तस्मान्नास्त्येव विज्ञानं कदापि भ्रान्तिसम्भवः।
इति श्रुत्वा पुनर्विप्रः पप्रच्छ नृपनन्दनम्॥ २६॥
अहो नृपात्मज कथं ज्ञानिनां कर्म सम्भवेत्।
ज्ञानाग्निसंस्पर्शनेऽपि कर्मतूलः कथं स्थितः॥ २७॥
अथाह हेमाङ्गदोऽपि विप्रं तं नृपनन्दन।
ब्रह्मन् शृणु प्रवक्ष्यामि त्रिविधं कर्म ज्ञानिनाम्॥ २८॥
सर्वेषाञ्च समानं स्यादपक्वं पक्वमेव च।
हतोदितं चेति तत्र नश्येज्ज्ञानादमध्यमम्॥ २९॥
कर्मणा पाचकः कालो नियत्या नियतः स्थितः।

यही कारण है कि तिमिर रोगवाला व्यक्ति यह जानते हुए भी कि पदार्थ एक है उसे दो रूपमें देखता है। यह जगत्की प्रतीति तो प्रारब्ध कर्मरूप दोषसे उत्पन्न हुई है। इसलिये जबतक प्रारब्धक्षय नहीं होता तबतक व्यवहारका भी लय नहीं होता। प्रारब्धकर्म समाप्त होनेपर तो केवल अद्वय चिन्मात्र तत्त्व ही रह जाता है॥ २४-२५॥

इसलिये विज्ञानमें भ्रान्तिकी उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती।" ऐसा सुनकर उस ब्राह्मणने राजकुमारसे पुनः पूछा—॥ २६॥

"हे राजकुमार! ज्ञानीके द्वारा भला कर्म कैसे हो सकता है? ज्ञानाग्निका स्पर्श हो जानेपर भी कर्मरूपी कपास कैसे रह सकती है?"॥ २७॥

तब राजकुमार हेमाङ्गदने भी उस ब्राह्मणसे कहा, "ब्रह्मन्! सुनो, मैं बतलाता हूँ। सभी ज्ञानियोंके कर्म समानरूपसे तीन प्रकारके होते हैं—अपक्व, पक्व और हतोदित। इनमेंसे मध्यम (पक्व) को छोड़कर शेष दो नष्ट हो जाते हैं"। २८-२९॥

नियति (विधाता) ने कालको कर्मोंका परिपाक करनेवाला नियुक्त

कालेन पाचितप्रायं पक्वं कर्म समीरितम् ॥ ३० ॥
अपाचितमपक्वं स्याज्ज्ञानोत्पत्तेरनन्तरम् ।
कृतं हतोदितं विद्धि ज्ञानाद्धतसमुद्भवात् ॥ ३१ ॥
तत्र पक्वं तु यत् कर्म तदारब्धमितीर्यते ।
आवेगं मुक्तशरवत्तिष्ठत्येव फलप्रदम् ॥ ३२ ॥
तन्मूलको जगद्भासो ज्ञानस्य तारतम्यतः ।
स्थितोऽपि भ्रान्तितुल्योऽपि न भ्रान्तिः फलभेदतः ॥ ३३ ॥
जनयेत्तत्कालफलं मन्दज्ञानवतां स्फुटम् ।
मध्यानामस्फुटं तच्च ज्ञानिनां फलभासनम् ॥ ३४ ॥
उत्तमानान्तु तत्कालफलञ्च स्पष्टभासनम् ।
शशशृङ्गसमं ब्रह्मन् न हि तत्फलमुच्यते ॥ ३५ ॥
अज्ञानिनां कर्मफलं पुष्टं पूर्णानुसन्धितः ।

किया है। जो कर्म कालके द्वारा प्रायः परिपक्व (फलोन्मुख) कर दिये जाते हैं वे 'पक्व' कर्म कहे गये हैं ॥ ३० ॥

जो परिपक्व नहीं हुए हैं वे 'अपक्व' हैं और जो ज्ञानोत्पत्तिके पीछे किये जाते हैं उन्हें 'हतोदित' समझो, क्योंकि वे ज्ञानसे हत हुए ही उत्पन्न होते हैं ॥ ३१ ॥

इनमें जो पक्व कर्म हैं वे प्रारब्ध कहलाते हैं। वे छोड़े हुए बाणके समान अपना वेग रहनेतक फल प्रदान करते ही हैं ॥ ३२ ॥

ज्ञानकी न्यूनाधिकताके अनुसार उन्हींके कारण जगत्की प्रतीति बनी रहती है। वह जगत्प्रतीति भ्रान्तिके समान होनेपर भी फलमें भेद रहनेके कारण भ्रान्ति नहीं है ॥ ३३ ॥

मन्द ज्ञानियोंको यह प्रारब्ध तत्काल स्पष्ट फल प्रदान करता है। और मध्यम ज्ञानियोंको वह फलका भास अस्पष्ट होता है ॥ ३४ ॥

उत्तम ज्ञानियोंको फलका भास तत्काल एवं स्पष्ट तो होता है, किन्तु ब्रह्मन्! उनकी दृष्टिमें वह शशशृंगके समान असत् होनेके कारण फल कहा नहीं जाता ॥ ३५ ॥

अज्ञानियोंको तो कर्मफलका अनुसन्धान पहले हीसे बना रहता है,

पूर्वापरानुसन्धानात् पोषितं तत्फलन्तु तैः ॥ ३६ ॥
ज्ञानिनां फलसन्धानं छिन्नमात्मानुसन्धितः ।
अतो न पुष्टं मन्दानामारब्धजनितं फलम् ॥ ३७ ॥
मध्यानां ज्ञानिनां तच्च फलं मन्दसुषुप्तिषु ।
मशकादिकृतं दुःखमिव तत् सूक्ष्मतां गतम् ॥ ३८ ॥
उत्तमज्ञानिनां तत्तु फलं पूर्णमपि स्थितम् ।
दग्धरज्जुरिव भवेत् स्थितात्मज्ञानवैभवात् ॥ ३९ ॥
यथा नाटकवृत्तेषु नरो वेषान्तरं गतः ।
हृष्यन् विषीदंश्च भूयो नान्तविकृतिमाप्नुयात् ॥ ४० ॥
एवमेष स्थितज्ञानी सुपूर्णफलसङ्गतः ।
न फलैः स्पृश्यते तस्मात्तत्फलं शशशृङ्गवत् ॥ ४१ ॥
अज्ञानिभिस्तु शुद्धात्मा नोपलक्षित एव हि ।

इसलिये वह पुष्ट होता है। पूर्वापरका अनुसन्धान रहनेके कारण वे उस फलका पोषण करते रहते हैं ॥ ३६ ॥

ज्ञानियोंको आत्माका अनुसन्धान होता रहनेसे बीच-बीचमें उनका फलानुसन्धान टूटता रहता है। इसीसे मन्द ज्ञानियोंका प्रारब्धजनित फल पुष्ट नहीं होता ॥ ३७ ॥

मध्यम ज्ञानियोंके लिये तो वह फल, हल्की सुषुप्तिमें मच्छर आदिके काटनेसे होनेवाले दुःखके समान बहुत कम दुःख देता है ॥ ३८ ॥

उत्तम ज्ञानियोंको वह कर्मफल पूर्णतया प्राप्त होनेपर भी स्थिर आत्मज्ञानके प्रभावसे जली हुई रस्सीके समान केवल प्रतीतिमात्र रहता है ॥ ३९ ॥

जिसप्रकार नाटकमें अभिनय करते समय पुरुष अन्य वेष धारण करके हर्ष और शोककी भूमिका करनेपर भी भीतरसे किसी प्रकारके विकारको प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार यह निष्ठावान् ज्ञानी पूर्णतया फलका संग प्राप्त होनेपर भी उससे स्पृष्ट नहीं होता। इसलिये उसका वह फलभोग शशशृंगके समान केवल कथनमात्र ही होता है ॥ ४०-४१ ॥

अज्ञानियोंको तो शुद्ध आत्माका पता ही नहीं होता, इसलिये वे तो

अतो देहात्मभूतास्ते दृश्यसत्त्वविमर्शनाः ॥ ४२ ॥
मन्दज्ञानिभिरात्मा तु विदितः शुद्धचिन्मयः ।
जगच्चासत्यतो दृष्टं तथाप्यभ्यासमान्द्यतः ॥ ४३ ॥
प्राग्वासनाहृतज्ञानास्ते देहात्मप्रभासनम् ।
जगतः सत्यताभासं मध्ये मध्ये समाययुः ॥ ४४ ॥
भूयो ज्ञानवासना या विधुन्वन्त्यसतीं दृशम् ।
वासनैवं सत्यमिथ्याज्ञानयोश्च परस्परम् ॥ ४५ ॥
मिलिता मन्दज्ञानिनामतो मध्ये फलं स्फुटम् ।
समेऽपि वासने चैते न हि तुल्ये महीसुर ॥ ४६ ॥
सत्यज्ञानवासनया बाध्यते वासना परा ।
न च मिथ्या वासनया बाध्यते सत्यवासना ॥ ४७ ॥
मिथ्यावासनयाविष्टो विस्मृतः केवलं परः ।
ततो मिथ्यावासनां तु विनिश्चित्य भ्रमात्मिकाम् ॥ ४८ ॥

देहको ही आत्मा समझते हैं और दृश्यको भी सत्य ही मानते हैं ॥४२॥

मन्द ज्ञानियोंको शुद्ध चिन्मय आत्माका ज्ञान होता है और उन्हें जगत् भी असत्य दिखायी देता है; तथापि अभ्यासकी कमीके कारण पूर्व वासनाओंसे उनका ज्ञान दब जाता है और देह ही आत्मभावसे भासने लगता है तथा बीच-बीचमें उन्हें जगत्की सत्यताका भान भी हो जाता है ॥ ४३-४४ ॥

किन्तु उनके जो ज्ञानके संस्कार हैं वे पुनः उनकी इस असत् दृष्टिको दूर कर देते हैं। इस प्रकार उनके सत्य और मिथ्या ज्ञानके संस्कार परस्पर मिलकर बीच-बीचमें स्पष्ट फलका भोग कराते हैं ॥ ४५-४६ पू० ॥

ब्रह्मन् ! यद्यपि ये दोनों ही संस्कार समानरूपसे आते रहते हैं, तथा इनका प्रभाव एक-जैसा नहीं होता। ज्ञानकी वासना सत्यरूप है, इसलिये उससे दृश्यकी मिथ्या वासना बाधित हो जाती है; किन्तु दृश्यकी मिथ्या वासनासे सत्यवासना बाधित नहीं होती ॥४६ उ०-४७॥

विप्रवर ! जब वह मिथ्यावासनाके अधीन होकर शुद्ध वासनाको भूल जाता है तो उस मिथ्यावासनाको भ्रमरूप निश्चय करके त्याग

विधूय वासनां सत्यामुपैति ब्राह्मणोत्तम ।
ततो न बाधिता सत्यवासना भवति क्वचित् ॥ ४९ ॥
मध्यमस्य विस्मृतिर्नो न मिथ्या ज्ञानमेव च ।
अविस्मृतस्येच्छयैव मिथ्याज्ञानं क्वचिद्भवेत् ॥ ५० ॥
सिद्धस्यैषा स्थितिः प्रोक्ता साधकस्योच्यते शृणु ।
यथा यथा तत्परः स्यात्तथाऽविस्मृतिरुच्छ्रिता ॥ ५१ ॥
पूर्णस्य विस्मृतिर्नास्ति मिथ्याज्ञानं प्रयत्नतः ।
उत्तमस्य पुनर्ब्रह्मन् समाधिव्यवहारयोः ॥ ५२ ॥
न भेदो लेशतोऽप्यस्ति यतोऽविस्मरणं सदा ।
यः समाधिपरो मध्यस्तस्य याऽविस्मृतिः स्थिता ॥ ५३ ॥
सैषा म्लाना भवेन्मिथ्याज्ञानभूमिषु भूसुर ।
यस्तूत्तमोऽपि स्वाच्छन्द्यात्प्रारब्धवशतोऽपि वा ॥ ५४ ॥

देता है और सत्य ज्ञानवासनाको प्राप्त कर लेता है। इसके पश्चात् उसकी वह सत्यवासना फिर कभी बाधित नहीं होती ॥ ४८–४९ ॥

मध्यम ज्ञानीको सत्यवासनाकी विस्मृति नहीं होती और न मिथ्या ज्ञान ही होता है। वह सत्यवासनाको बिना भुलाये ही कभी-कभी स्वेच्छासे व्यवहारोपयोगी मिथ्या ज्ञानको स्वीकार कर लेता है ॥ ५० ॥

किन्तु यह स्थिति सिद्ध मध्यम ज्ञानीकी कही गयी है। अब साधककी बतलाता हूँ, सुनो। साधक जैसे-जैसे आत्मानुसन्धानमें तत्पर रहता है वैसे-वैसे उसे स्वरूपकी स्मृति बढ़ती जाती है। पूर्ण होनेपर तो स्वरूपकी विस्मृति होती ही नहीं और मिथ्या द्वैतका स्फुरण भी प्रयत्न करनेपर ही होता है ॥ ५१–५२ पू० ॥

ब्रह्मन्! उत्तम ज्ञानीकी दृष्टिमें तो समाधि और व्यवहारका लेशमात्र भी भेद नहीं होता, क्योंकि उसे स्वरूपकी स्मृति सदा ही बनी रहती है ॥ ५२ उ०–५३ पू० ॥

जो समाधिनिष्ठ मध्यम ज्ञानी होता है उसे जो स्वरूपकी अविस्मृति रहती है, हे ब्राह्मण! वह तो मिथ्या अज्ञानकी स्थिति आनेपर कुछ मन्द पड़ जाती है। किन्तु जो उत्तम ज्ञानी है वह

समाध्यतत्परो भूयात्तस्याम्लानैव चास्मृतिः ।
वस्तुतः शृणु भूदेव मध्यमोत्तमज्ञानिनाम् ॥ ५५ ॥
कर्म नैवास्ति यत्किञ्चिद्यतस्ते पूर्णतां गताः ।
संविदात्मातिरिक्तं यन्न ते पश्यन्ति किञ्चन ॥ ५६ ॥
कर्म शेषं कथं शिष्येद्यतः सर्वं चिदग्निना ।
भस्मीकृतमतस्तेषां न किञ्चित् परिशिष्यते ॥ ५७ ॥
ऐन्द्रजालिककर्मेव त्वितरैरेव दृश्यते ।
शृणु ब्रह्मन् रहस्यं ते प्रवक्ष्यामि समासतः ॥ ५८ ॥
शिवस्य यादृशी सैव ज्ञानिनां दृष्टिरुच्यते ।
नास्ति भेदो लेशतोऽपि सत्यमेतन्न संशयः ॥ ५९ ॥
तस्मान्न किञ्चित् कर्मापि ज्ञानिनामनुवर्त्तते ।
इति श्रुत्वा स वसुमान् हेमाङ्गदनिरूपितम् ॥ ६० ॥
सर्वसन्देहनिर्मुक्तो विज्ञानविशदाशयः ।

स्वेच्छासे अथवा प्रारब्धाधीन होनेपर भी यदि समाधिमें तत्पर न रहे तो भी उसकी स्वरूपकी अविस्मृति मन्द नहीं पड़ती ॥ ५३ उ०–५५ पू० ॥

विप्रवर ! सुनो, वास्तवमें तो मध्यम और उत्तम ज्ञानियोंके कुछ भी कर्म हैं ही नहीं, क्योंकि वे तो पूर्णताको प्राप्त हो जाते हैं। एक चिदात्माके सिवा वे और कोई वस्तु नहीं देखते ॥ ५५ उ०–५६ ॥

उनके किसी प्रकारके अवशिष्ट कर्म कैसे रह सकते हैं, क्योंकि वे सब तो चेतनरूप अग्निसे भस्म हो गये हैं। अतः उनके कोई भी कर्म शेष नहीं रहते ॥ ५७ ॥

मायावीके खेलके समान उनके कर्म तो दूसरोंको ही दिखाई देते हैं। ब्रह्मन् ! सुनो, इसमें जो गूढ़ रहस्य है वह मैं संक्षेपमें कहता हूँ ॥ ५८ ॥

जैसी दृष्टि शिवजीकी है वैसी ही ज्ञानियोंकी दृष्टि बतलायी जाती है। उनमें लेशमात्र भी अन्तर नहीं है—यह बात निःसन्देह सत्य है। इसलिये वास्तवमें ज्ञानियोंका कुछ भी कर्म शेष नहीं रहता ॥ ५९–६० पू० ॥

इस प्रकार हेमाङ्गदका तत्त्वनिरूपण सुनकर वसुमान् सब सन्देहों-

पूजितो राजपुत्राद्यैः संस्थानं प्रत्यपद्यत ॥ ६१ ॥
प्राप्तौ स्वनगरं राजपुत्रावपि ततः परम्।
एवं श्रुत्वा पुना रामः पप्रच्छात्रिसुतं मुनिम् ॥ ६२ ॥
श्रुतमेतद्धि विज्ञानं गुरो त्वन्मुखनिर्गतम्।
विनष्टो मम सन्देहो विदितं तन्महत् पदम् ॥ ६३ ॥
सर्वानुस्यूतसंवित्तिमात्रात्मा भाति सर्वतः।
तथापि भवता प्रोक्तमादितः सर्वमेव तु ॥ ६४ ॥
संक्षेपेण पुनर्ब्रूहि विज्ञानं सारवत्तरम्।
यावद्धारयितव्यं मे गुरो सर्वात्मना मया ॥ ६५ ॥
इत्यापृष्टः स रामेण पुनः प्राहात्रिनन्दनः।
शृणु राम प्रवक्ष्यामि सर्वसारतमं पुनः ॥ ६६ ॥
या चितिः परमेशानी पूर्णाहन्तामयी परा।
सा स्वातन्त्र्याभिधामायाशक्तिमाहात्म्यतः सदा ॥ ६७ ॥

से मुक्त हो गया तथा उसका अन्तःकरण विज्ञानके प्रकाशसे उज्ज्वल हो गया। फिर राजपुत्रादिसे सम्मानित हो वह अपने स्थानको चला गया ॥ ६० उ०–६१ ॥

इसके पश्चात् वे दोनों राजकुमार भी अपनी राजधानीमें चले आये। यह सब सुनकर परशुरामने पुनः मुनिवर दत्तात्रेयसे पूछा—॥ ६२ ॥

"गुरुदेव! आपके मुखारविन्दसे निःसृत यह ज्ञानोपदेश मैंने सुना। इससे मेरा सन्देह जाता रहा और मुझे उस परमपदका ज्ञान भी हो गया ॥ ६३ ॥

सबमें ओतप्रोत चिन्मात्र आत्मा ही सब ओर भास रहा है। तथापि गुरुदेव! आपने आरम्भसे अबतक जो कुछ कहा है उसे एक बार संक्षेपसे, जो सबका सारभूत विज्ञान हो और जितना मुझे सभी प्रकार ध्यानमें रखना चाहिये, पुनः सुनाइये" ॥ ६४–६५ ॥

परशुरामके इस प्रकार पूछनेपर अत्रिनन्दन श्रीदत्तात्रेयजी पुनः कहने लगे, "परशुराम! सुनो, अब जो सबका अत्यन्त सार है वह तुम्हें फिर सुनाता हूँ ॥ ६६ ॥

जो परम समर्था और पूर्णाहन्तामयी परा चिति है वह अपनी स्वतन्त्रतारूपा मायाशक्तिकी महिमासे, जो असम्भवको भी सम्भव

जगदाभासयेन्नूनं दुर्घटैकविधायिनः ।
प्रतिबिम्बवदादर्शे तत्प्रकारं शृणु क्रमात् ॥ ६८ ॥
या सा पराचितिः पूर्णा पूर्णाहंभावबृंहिता ।
स्वातन्त्र्यवशतः स्वात्मरूपं द्वेधावभासयत् ॥ ६९ ॥
तत्रैकांशेऽप्यहंभावो पूर्ण आभासितो यदा ।
तदा द्वितीयभागस्तदहंभावविनिर्गतः ॥ ७० ॥
बाह्यमव्यक्तमभवत्तद्दृष्ट्यैव भृगूद्वह ।
अपूर्णाहंभावयुत एष प्रोक्तः सदाशिवः ॥ ७१ ॥
स तमव्यक्तभागन्तु पश्यन् भिन्नमपि स्वतः ।
अहमेतदित्यभेदादनुसन्धिपरः सदा ॥ ७२ ॥
स एव भूयः स्वातन्त्र्यात् सिसृक्षुर्विविधं जगत् ।
अव्यक्तमात्मनो देहमेतदेवाहमास्थितः ॥ ७३ ॥

कर देनेवाली है, दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान अपने हीमें इस जगत्को आभासित कर देती है। उसके जगत्-प्रकाशनका प्रकार क्रमशः सुनो ॥ ६७–६८ ॥

वह जो परिपूर्ण पराचिति है पूर्ण अहंभावके कारण अत्यन्त विस्तृत है। अपने स्वातन्त्र्यके प्रभावसे उसने अपने ही स्वरूपको दो रूपोंमें आभासित किया ॥ ६९ ॥

जब उसके एक अंशमें अपूर्ण अहन्ता आभासित हुई तो दूसरा भाग उस अहन्तासे शून्य बाह्य (जड) अव्यक्त हो गया। भृगुनन्दन! उस बाह्य अव्यक्तकी दृष्टिसे ही वह अपूर्ण अहन्तायुक्त अंश 'सदाशिव' कहा जाता है ॥ ७०–७१ ॥

वह यद्यपि उस अव्यक्त अंशको अपनेसे भिन्न ही देखता है तथापि उसे सर्वदा अभेदपूर्वक यही जान पड़ता है कि यह मैं ही हूं ॥ ७२ ॥

उसीको स्वतन्त्रताके कारण फिर अनेक प्रकारका जगत् रचनेकी इच्छा हो जाती है और वह अव्यक्तरूप अपनी देहमें 'मैं यही हूँ' ऐसी आस्था करने लगता है ॥ ७३ ॥

इत्येवमनुसन्धानपर ईश्वर आबभौ ।
अव्यक्तमभिमानेनाविष्ट ईश्वर एव तु ॥ ७४ ॥
त्रिधासमभवद्रुद्रहरिद्रुहिणरूपतः ।
द्रष्टृदृश्यमहाराशिसमुदायावभासकः ॥ ७५ ॥
विधयो विविधा आसंस्तथा तद्रूपसंस्थिताः ।
बहवो हरयोऽप्यासंस्तत्संहारपरायणाः ॥ ७६ ॥
अनेकशोऽभवन् रुद्रा एवमेष जगद्विधिः ।
एवंविधं जगत्तत्त्वं दर्पणप्रतिबिम्बवत् ॥ ७७ ॥
भासते केवलं राम न हि जातं तु किञ्चन ।
पराचितिः प्रपूर्णाहंभावरूपैव सर्वदा ॥ ७८ ॥
स्थिताप्यनेका सम्पूर्णाहंभावपरिबृंहिता ।
यथा त्वं राम सर्वस्मिन् देहेऽहंभावबृंहितः ॥ ७९ ॥
पृथङ् नेत्राद्यहंभावैरपि तत्तत्क्रियापरः ।

इस प्रकारका अनुसन्धान करने लगनेपर वह 'ईश्वर' हो गया। जो अभिमान द्वारा अव्यक्तमें आविष्ट है वही 'ईश्वर' है ॥ ७४ ॥

इस दृश्यवर्गके महान् राशिरूप समुदायका अवभासक वह द्रष्टा ही रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा रूपसे तीन प्रकारका हो गया ॥ ७५ ॥

इस ब्रह्माण्डकी स्थिति (उत्पत्ति) करनेवाले ब्रह्मा अनेकों थे, विष्णु भी अनेक थे तथा इस जगत्का संहार करनेवाले रुद्र भी अनेकों थे। ऐसा ही इस जगत्का विधान है ॥ ७६–७७ पू० ॥

दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान इस संसारका स्वरूप ऐसा ही है। परशुराम! यह केवल भासता ही है, वास्तवमें है कुछ नहीं ॥ ७७ उ०–७८ पू० ॥

परिपूर्णरूपा पराचिति सर्वदा अहंभावरूपा ही है। वह स्थिर-स्वरूपा होनेपर भी सम्पूर्ण अहंभावोंसे विस्तृत हुई-सी जान पड़ती है, जिस प्रकार कि परशुराम! तुम इस देहमें अहंभावसे व्याप्त हो, तथापि नेत्रादि विभिन्न अहंभावोंके द्वारा भी उन अनेक व्यापारोंमें लगे रहते हो ॥ ७८ उ०–८० पू० ॥

एवमेव परा संवित् पूर्णाहन्तासमाश्रया ॥ ८० ॥
सदाशिवादिस्तंबान्ताऽपूर्णाहन्ताश्रयापि वै ।
वस्तुतः सैव परमा चितिरेवं हि भासिनी ॥ ८१ ॥
देहाहंभावरूपस्त्वं स्वतो रूपरसादिकम् ।
ग्रहीतुमसमर्थोऽपि चाक्षतादात्म्यमेत्य तु ॥ ८२ ॥
सर्वं गृह्णासि सततमेवं देवः सदाशिवः ।
स्वतः सर्वाभेदमयो ब्रह्मादिस्तम्बराशिषु ॥ ८३ ॥
अतस्तादात्म्यमापन्नो जानाति च करोति च ।
यथा ते निर्विकल्पं तु रूपं सर्वाश्रयं हि सत् ॥ ८४ ॥
न किञ्चिदपि जानाति करोति च भृगूद्वह ।
एवमेव परा संवित् सर्वलोकसमाश्रया ॥ ८५ ॥
भेदलेशमपि क्वापि न जानाति करोति च ।
एतावज्जागतं सर्वं तस्यामेवावभासते ॥ ८६ ॥

इसी प्रकार यह परा चिति भी पूर्ण अहन्ताकी आश्रय है, तथापि यह सदाशिवसे लेकर स्तम्बपर्यन्त अपूर्ण अहंभावोंकी भी आश्रय है। वास्तवमें तो वह पराचिति ही इस प्रकार (इन सब रूपोंमें) भासनेवाली है ॥ ८० उ०–८१ ॥

तुम देहमें अहंभावरूप होकर यद्यपि स्वयं रूप-रस आदि विषयोंको ग्रहण करनेमें असमर्थ हो, तथापि इन्द्रियोंसे तादात्म्य करके तो सर्वदा सब कुछ ग्रहण करते ही हो। इसी प्रकार भगवान् सदाशिव यद्यपि ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्यन्त सबके साथ अभिन्नरूप ही हैं, तथापि उन ब्रह्मादिके शरीरोंमें तादात्म्य होनेपर वे ही सब कुछ जानते भी हैं और करते भी हैं ॥ ८२–८४ पू० ॥

जिस प्रकार तुम्हारा निर्विकल्प स्वरूप सबका आश्रय और सत् है, किन्तु भृगुनन्दन ! वह न तो कुछ जानता है और न कुछ करता है; इसी प्रकार वह परा चिति यद्यपि सम्पूर्ण लोकोंकी आश्रय है, तथापि वह लेशमात्र द्वैतको भी न तो जानती है और न कुछ करती ही है ॥ ८४ उ०–८६ पू० ॥

यह सारा जगत्प्रपञ्च उसीमें भास रहा है, किन्तु अपनी स्वतन्त्रता-

तत्स्वातन्त्र्यात् प्रभूतश्च दर्पणप्रतिबिम्बवत् ।
जगतो भासनं सर्वं तस्या एवावभासनम् ॥ ८७ ॥
यथादर्शाभास एष प्रतिबिम्बावभासनम् ।
अत्र त्वमहमन्ये च द्रष्टारो दृङ्मयाः खलु ॥ ८८ ॥
दृश्यासंमेलने शुद्धचितिरेव न चेतरत् ।
घटादिदर्पणो यद्वद् घटादीनामसङ्गमे ॥ ८९ ॥
शुद्धदर्पणमात्रः स्याद्भिदः प्रतिबिम्बतः ।
एवं विकल्पसम्भूतदृश्याभासप्रमार्जने ॥ ९० ॥
शेषिता परमा संविदद्वितीयस्वरूपिणी ।
महानन्दघना चैषा दुःखलेशविवर्जनात् ॥ ९१ ॥
सर्वानन्दघनाकारा यतः सर्वैरभीप्सिता ।
सुखमात्मस्वरूपं स्यात् सर्वैर्यस्मादभीप्सितम् ॥ ९२ ॥

रूपा शक्तिसे वही दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान अनेकरूप हो गयी है। अतः यह जगत्‌का सारा अवभास वास्तवमें उसीका आभास है, जिस प्रकार कि प्रतिबिम्बकी प्रतीति केवल दर्पणका ही आभास होती है ॥ ८६ उ०--८८ पू० ॥

यहाँ जो मैं तथा अन्य देखनेवाले हैं वे निश्चय चिन्मात्र ही हैं। यदि उनके साथ दृश्यकी मिलावट न हो तो वे शुद्धचिति ही हैं, और कुछ नहीं ॥ ८८ उ०-८६ पू० ॥

जिस प्रकार घटादिके प्रतिबिम्बोंसे अवच्छिन्न दर्पण घटादिका संग न रहनेपर शुद्ध दर्पणमात्र ही होता है। उसमें जो भेद है वह तो प्रतिबिम्बके कारण ही है ॥ ८६ उ०-६० पू० ॥

इसी प्रकार विकल्पसे उत्पन्न दृश्यरूप आभासका मार्जन (निषेध) करनेपर बची हुई परा चिति तो अद्वयस्वरूपा ही है। वह दुःखके लेशसे शून्य है, इसलिये परमानन्दघनस्वरूपा भी है ॥ ६० उ०-६१ ॥

यह सम्पूर्ण आनन्दोंकी घनीभूत मूर्त्ति है, क्योंकि उसे सभी चाहते हैं। सुख आत्माका स्वरूप ही है, क्यों सभीको उसकी लालसा है ॥ ६२ ॥

यदर्थो देहादिभावो यन्न कस्यापि नेप्सितम् ।
यस्यैव लेशो विषयानन्द इत्यभिधीयते ॥ ९३ ॥
स एव भारहानादौ सुषुप्तौ चावभासते ।
चिदेव स्पृहणीयत्वादानन्द इति प्रोच्यते ॥ ९४ ॥
मूढा न हि विजानन्ति स्वात्मभूतं महासुखम् ।
विभिन्नमभिजानन्ति व्यञ्जकानां विभेदतः ॥ ९५ ॥
यथा हि दर्पणे भावा भासमाना निमित्ततः ।
यावद्दर्पणविज्ञानं भिन्ना एव विभान्ति वै ॥ ९६ ॥
विदिते प्रतिबिम्बत्वे भासमानं च पूर्ववत् ।
न दर्पणाद् भिन्नमस्ति त्वादर्शः शुद्ध एव हि ॥ ९७ ॥
एवं विदिततत्त्वस्य जगदेतावदीदृशम् ।
भासमानमपि स्वात्ममात्रमेव न चेतरत् ॥ ९८ ॥
घटादिकं मृदि यथा हेम्नि यद्वद्विभूषणम् ।

जिसके लिये देहादिमें प्रीति होती है, जो किसीको भी अप्रिय नहीं है और जिसका लेशमात्र अंश ही 'विषयानन्द' कहा जाता है, वह स्वरूपभूत आनन्द ही भार आदिकी निवृत्ति होनेपर तथा सुषुप्ति अवस्थामें भासता है। वास्तवमें तो वाञ्छनीय होनेके कारण चेतन ही 'आनन्द' कहा जाता है ॥ ९३-९४ ॥

अज्ञानी पुरुष अपने आत्मासे ही प्राप्त होनेवाले उस परम सुखको नहीं जानते; वे तो उसको व्यक्त करनेवाले विषयोंकी विभिन्नताके कारण अपनेसे भिन्न ही समझते हैं ॥ ९५ ॥

जिस प्रकार बिम्बरूप निमित्तोंके कारण दर्पणमें भासनेवाले पदार्थ, जबतक दर्पणका ज्ञान नहीं होता उससे भिन्न ही जान पड़ते हैं, किन्तु जब उनकी प्रतिबिम्बताका ज्ञान हो जाता है तो पहले हीकी तरह भासते रहनेपर भी वे दर्पणसे भिन्न नहीं रहते। और दर्पण तो शुद्ध है ही। उसी प्रकार जिसे तत्त्वज्ञान हो गया है उसके लिये यह जगत् इसी रूप भासता रहनेपर भी अपना आत्मा ही है, और कुछ नहीं ॥ ९६-९८ ॥

जैसे मृत्तिकामें घटादि, सुवर्णमें आभूषण और शिलामें प्रति-

प्रतिभाश्च यथा शैले जगदेवं चिदात्मनि ॥ ९९ ॥
जगन्नास्त्येवेति दृष्टिरपूर्णैव भृगूद्वह ।
नास्तीति विपरीतो हि निश्चयो नैव सिद्ध्यति ॥ १०० ॥
साधकात्मजगद्दृष्टेर्भूयः सम्भवतः स्फुटम् ।
नास्तीति शापमात्रेण कथं स्याज्जगतो लयः ॥ १०१ ॥
आदर्शनगरं सर्वमस्त्यादर्शस्वभावतः ।
एवं जगच्चिदात्मैकरूपं सत्यमुदीरितम् ॥ १०२ ॥
पूर्णविज्ञानमेतत् स्यात् सङ्कोचपरिवर्जनात् ।
दृगेव दृश्यतां प्राप्तं स्वमाहात्म्यप्रकर्षतः ॥ १०३ ॥
यथादर्शो नगरतामेष शास्त्रार्थसंग्रहः ।
न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति साधकः साधनं च न ॥ १०४ ॥

माओंकी प्रतीति होती है उसी प्रकार चिदात्मामें यह जगत् भास रहा है ॥ ९९ ॥

परशुराम ! 'जगत् है ही नहीं' यह दृष्टि तो अपूर्ण ही है, क्योंकि 'है ही नहीं' ऐसा विपरीत निश्चय किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता ॥ १०० ॥

['सम्पूर्ण द्वैतका निषेध कर देनेपर 'है' और 'नहीं है' इन दोनों ही पक्षोंको] सिद्ध करनेवाले चिदात्मस्वरूपसे फिर भी जगत्की सत्ता स्पष्टतया रह ही जाती है। ऐसी अवस्थामें 'संसार है हीं नहीं' ऐसा शाप देनेसे ही भला जगत्का लय कैसे हो सकता है ? ॥ १०१ ॥

जिस प्रकार दर्पणमें प्रतीत होनेवाला नगर दर्पणरूपसे तो है ही, उसी प्रकार जगत् अद्वितीय चिदात्मस्वरूपसे तो सत्य ही कहा गया है ॥ १०२ ॥

यही पूर्ण विज्ञान है, क्योंकि इसमें किसी प्रकारका सङ्कोच (कमी) नहीं है। वास्तवमें अपने स्वातन्त्र्यके प्रभावसे दृक् (शुद्ध चेतन) ही दृश्यरूप हो गया है; जैसे कि दर्पण ही अपनेमें प्रतिबिम्बित नगररूप हो जाता है—यही संक्षेपमें शास्त्रोंका तात्पर्य है ॥ १०३-१०४ पू० ॥

न बन्ध है, न मोक्ष है, न साधक है और न साधन है। एक

अखण्डाद्वयचिच्छक्तिस्त्रिपुरैवावभासिनी ।
सैवाविद्या च विद्या च बन्धो मोक्षश्च साधनम् ॥ १०५ ॥
एतावदेव विज्ञेयं नान्यद्भार्गव विद्यते ।
एतत्तेऽभिहितं राम विज्ञानक्रममादितः ॥ १०६ ॥
एतत् सुविज्ञाय जनो भूयः क्वापि न शोचति ।
नारदैष ज्ञानखण्डः सूपपत्त्युपलब्धिकः ॥ १०७ ॥
श्रुतो न नाशयेत् कस्य मोहमज्ञानसम्भवम् ।
श्रुत्वाप्येतद्यस्य मोहो न शान्तिं प्राप्नुयात् क्वचित् ॥ १०८ ॥
स शैलपुरुषो लोके केन ज्ञानं पुनर्भवेत् ।
सकृदेव श्रुतं ह्येतद्विज्ञानं जनयेद् दृढम् ॥ १०९ ॥
द्विधा त्रिधा वा मन्दस्य ज्ञानं न जनयेत् कथम् ।
एतत् पापौघशमनं श्रुतं विज्ञानदं मतम् ॥ ११० ॥

अखण्ड अद्वयस्वरूपा चित्-शक्ति ही प्रकाशित हो रही है। वही अविद्या और विद्या है तथा वही बन्ध, मोक्ष और साधन भी है ॥ १०४ उ०--१०५ ॥

भृगुनन्दन ! बस, इतनी बात ही जानने योग्य है, और कुछ नहीं। परशुराम ! इस प्रकार आरम्भसे ही यह मैंने तुम्हें ज्ञानप्राप्तिका क्रम सुना दिया। इसे अच्छी तरहसे समझ लेनेपर पुरुषको फिर किसी प्रकारका शोक नहीं होता ॥ १०६--१०७ पू० ॥

[श्रीहारितायन मुनि कहते हैं---] नारद ! यह ज्ञानखण्ड सम्यक् प्रकारसे युक्ति और अनुभवसे पूर्ण है। यदि इसका श्रवण किया जाय तो ऐसा कौन है जिसके अज्ञानजनित मोहको यह दूर न करे ॥ १०७ उ०--१०८ पू० ॥

इसे सुनकर भी जिसका मोह शान्त न हो वह तो इस लोकमें पत्थरकी मूर्त्ति ही है उसे फिर और किसके द्वारा ज्ञान होगा ? ॥ १०८ उ०--१०९ पू० ॥

यह तो एक बार श्रवण करनेपर ही दृढ ज्ञान उत्पन्न कर देता है। फिर जो मन्दबुद्धि है उसे भी दो-तीन बार सुननेपर कैसे ज्ञान उत्पन्न नहीं करेगा ? ॥ १०९ उ०--११० पू० ॥

यह ग्रन्थ श्रवण करनेपर पापराशिको शान्त करनेवाला और विशुद्ध

लिखितं दृष्टिदोषघ्नं पूजितं चित्तशोधनम्।
मूढतानाशनं चैतत् सर्वदा परिशीलितम्॥ १११॥
सर्वात्मभूतं यद्रूपं विचार्यावगतं स्फुटम्।
मुक्तिः स्यादन्यथा बन्धः सा भवेत्त्रिपुरैव ह्रीम्॥ ११२॥

इति श्रीमदितिहासोत्तमे त्रिपुरारहस्ये द्वादशसाहस्र्यां संहितायां ज्ञानखण्डे द्वाविंशोऽध्यायः।



ज्ञान प्रदान करनेवाला माना गया है। इसे लिखा जाय तो यह दृष्टि-के दोषोंको दूर करता है, पूजा जाय तो चित्त शुद्ध करता और यदि सर्वदा विचारा जाय तो यह मूढता (अज्ञान) को नष्ट करनेवाला है॥ ११० उ०--१११॥

जो सबका आत्मभूत स्वरूप है उसे यदि विचार करके स्पष्टतया जान लिया जाय तो मुक्ति हो जाती है, नहीं तो बन्ध है ही। वह स्वरूप देवी त्रिपुरा ही है॥ ११२॥ ह्रीम्।

ॐ तत्सत्।

द्वाविंश अध्याय समाप्त।



शुद्धिपत्रम्

पृष्ठ	भाषा	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	संस्कृत	७	हर्षो नायत्रोम-	हर्षोऽमायत्रोम-
९	,,	७	अहोविचार-	अहोऽविचार-
१४	,,	११	प्रष्टुं	स्प्रष्टुं
१७	हिन्दी	२	कुवन्नेवेह	कुर्वन्नेवेह
४१	संस्कृत	६	शीललदेहः	शीतलदेहः
,,	,,	१३	तद्वास्ति	तदस्ति
४७	,,	७	मपि	मयि
४८	,,	७	योषितोऽन्यन्त-	योषितोऽत्यन्त-
,,	हिन्दी	५	पुनः	पुनः पुनः
५३	संस्कृत	१३	ज्ञानखण्डे	ज्ञानखण्डे
६७	,,	१२	भुनक्त्यतिरां	भुनक्त्यतितरां
७४	टिप्पणी	अन्तिम	श्रति	श्रुति
८१	संस्कृत	,,	प्रियाहँ	प्रियाहं
१०१	हिन्दी	६	अतिवृत्ति	अनिवृत्ति
१०३	,,	२	कम	कर्म
,,	,,	७	बात नहीं हैं	बात ऐसी नहीं है
१०६	,,	२	स्थल	स्थूल
१०९	,,	१	साधन	सैकड़ों साधन
११०	,,	५	"ऐसा	"ऐसा
१११	संस्कृत	७	सुर्निमल-	सुनिर्मल-
११२	हिन्दी	६	असली	असती
११३	संस्कृत	७	-विधौ	-विधो
११८	हिन्दी	८	धनोपाजन	धनोपार्जन
१४१	संस्कृत	१०	-परायणताः	-परायणाः
१४६	हिन्दी	अन्तिम	सद्रप	सद्रूप
१४७	,,	११	सान्यावस्था-	साम्यावस्था-
,,	,,	१२	भाव	कारण
,,	,,	१४	प्रत्यय	प्रलय
१४८	,,	अन्तिम	परमेश्वरमें	परमेश्वरने
१४९	संस्कृत	२	तथा	यथा
१५३	हिन्दी	१२	अवस्थायें	अवस्थामें
१५४	,,	अन्तिम	मान	भान

पृष्ठ	भाषा	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५८	हिन्दी	४	पदाथ	पदार्थ
१६१	संस्कृत	११	वर्तयिष्यामि	वर्णयिष्यामि
"	हिन्दी	१४	तद्भूत	तद्रूप
१६८	"	अन्तिम	मैं	मैं समाधिमें
१७३	"	८	इत्यादि	इन्द्र इत्यादि
१८१	"	१५	मह्रासेन	महासेन
१८६	"	१२	कसी	किसी
१८८	"	४	यदि	[यदि
१९२	संस्कृत	८	प्रष्टुं	स्रष्टुं
१९६	टिप्पणी	२	उमे	उसे
२०३	हिन्दी	२	चित्त और	चित्त की
"	"	अन्तिम	चत्	चित्
२०९	"	३	वचनों	प्रवचनों
२१३	"	२	तू अकेला	तू आज अकेला
२१९	"	९	समझाते	समझावे
२२१	संस्कृत	१	यथा	यया
२२५	टिप्पणी	३	श्रति	श्रुति
२२६	संस्कृत	३	पृथक्कृत्यं	पृथक्कृत्य
२४७	हिन्दी	१०	'समाधियोंके	समाधियोंके
२४८	टिप्पणी	१	श्रत	श्रुत
२५२	हिन्दी	७	॥ ७४ ॥	॥ ७५ ॥
२५४	"	६	बश	बस
२५५	"	१०	मे	मेरे
२५८	संस्कृत	८	-मुक्तो भवेद्	-मुक्तोऽभवद्
२६३	"	११	-रूपस्य सकृत्	-रूपस्यासकृत्
२६५	"	९	भावोदरगोऽभावो	भावोदरगो भावो
२६७	"	११	द्रष्टा सत्येन	द्रष्टासत्येन
२६८	"	५	विरतो	विततो
२७६	हिन्दी	६	तप	तम
२९९	"	१६	कामवासना	कामादि वासनाएँ
३०५	"	१५	अन्यमनस्क	अमनस्क
"	"	अन्तिम	निश्चित	निश्चल
३०७	"	५	पुलस्त्य	पुलस्त्य
३०८	संस्कृत	११	विष्णुं नाभि-	विष्णुनाभि-
३०९	"	१	विष्णुर्विधि	विष्णुविधिः
"	"	४	श्रद्धया युताः	श्रद्धयाऽयुताः
३१२	हिन्दी	२	तत्परा	तत्पर

पृष्ठ	भाषा	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१५	हिन्दी	९	मुक्ति	युक्ति
३१६	"	१२	होनेपर नहीं	होनेपर अन्धकार नहीं
३१८	"	६	भेद-कल्पना	भेद कल्पना
३२७	"	अन्तिम	हा गया	हो गया
३३४	"	१३	जिस प्रकारकी	जिस प्रकार
३४१	संस्कृत	१०	सूक्ष्मा ग्राह्यस्वतो	सूक्ष्माऽग्राह्यस्वतो
३४२	हिन्दी	८	अवृत	आवृत
३४३	"	१	अैर	और
३४८	"	१	राजाओंमें	मनुष्योंमें
३५०	"	७	इसनें	इसमें
३५३	"	८	कम	कमं
३५५	संस्कृत	९	नान्तविकृति-	नान्तः विकृति-
३६०	"	१	दुर्घट कविधायिनः	दुर्घटैकविधायिनी
३६१	हिन्दी	१४	उन	उनके
३६४	"	१४	रूप	रूपमें
३६६	"	१	चित्-शक्ति ही	चित्-शक्ति त्रिपुरा ही



श्लोकानुक्रमणिका



- **जीवन्मुक्तिविवेकः।** विद्यारण्य स्वामी कृत। ठाकुर उदयनारायण सिंह कृत हिन्दी टीका संपादक। डॉ० महाप्रभुलाल (का. ३९)
- **त्रिपुरारहस्यम्-माहात्म्यखण्डम्।** सं. मुकुन्द लाल शास्त्री - नारायण शास्त्री खिस्ते कृत भूमिका एवं साराशं सहित (का. ९२)
- **पंचीकरणम्।** शंकराचार्यकृत। १. सुरेश्वराचार्य-कृत वार्तिक २. नारायणकृत वार्तिकाभरण ३. आनन्दगिरी कृत विवरण, ४. रामतीर्थ कृत तत्वचन्द्रिका, ५. शान्त्यानन्दकृत अद्वैतागमहृदय ६. गङ्गाधरकृतपञ्चीकरणचंद्रिका। मूल एवं एक से पांच टीका के हिन्दी अनु. डा. कामेश्वर नाथ मिश्र। (का. २२९)
- **ब्रह्मसूत्रप्रमुखभाष्यपञ्चकसमीक्षणम्।** शङ्कर, रामानुज, निम्बार्क, माध्व एवं वल्लभाचार्य की टीकाओं पर आधारित तुलनात्मक अध्ययन। सम्पादक रामशरण त्रिपाठी (का. २१३)

शाखाएं :

चौखम्भा संस्कृत भवन
पोस्ट बाक्स नं0 1160, चौक
वाराणसी-221 001 (भारत)
फोन : 0542-420414

चौखम्भा पब्लिकेशन्स
4262/3 अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली-110002
फोन : 011-3268639, 3259050
E-mail : chaukhambha@mantramail.com

आवरण मुद्रक : **मित्तल आफसेट, वाराणसी, फोन : 454442**